समकालीन हिन्दी कविता

डॉ देशराजसिंह भाटी
एम ए पी एच डी
राजधानी कॉलेज, नई दिल्ली

साहित्य प्रकाशन मन्दिर
हाईकोर्ट रोड, ग्वालियर

प्रकाशक

साहित्य प्रकाशन मन्दिर
हार्कोर्ट रोड ग्वालियर

प्रथम संस्करण १९७२

मूल्य १२.५०

मुद्रक

राम आर्ट प्रिंटर्स, ग्वालियर

अनुक्रम

१

छायावादोत्तर काव्यधाराएँ

छायावाद हिन्दी साहित्य की वह स्वर्णिम धारा है जिसने शैली की दृष्टि से हिन्दी माँ के भण्डार को अत्यन्त समृद्ध तथा गौरवान्वित किया है। हिन्दी भाषा को जो शक्ति छायावादी कवियों ने प्रदान की वह अन्य किसी धारा के कवि न दे सके। कवि अपनी पूर्ववर्ती काव्य धाराओं का समर्थक या विरोधी होता है और इन्हीं प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप वह अपनी पूर्ववर्ती काव्यधारा को या तो और अधिक शक्ति तथा गति देकर अग्रसर करता है, या उसके विरोध में खड़ा होकर किसी नवीन काव्यधारा को जन्म देता है। छायावाद के आविर्भाव का मूल कारण द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता का विरोध था स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह था अतः इस काव्यधारा में अतिशय सूक्ष्मता और अमांसलता का आजाना सहज स्वाभाविक ही था। इन्हीं विशेषताओं को लेकर छायावाद पल्लवित और पुष्पित हुआ और इन्हीं विशेषताओं के कारण उसका पतन भी हुआ। अनेक वर्षों तक छायावाद के अत्यन्त सूक्ष्म अमांसल और काल्पनिक जगत् में विचरण करके छायावाद के कवि ने यह अनुभव किया कि वह उस संसार से बहुत दूर चला गया है जिसकी वायु में वह साँस लेकर जीवित है जिसके धरातल पर खड़ा होकर वह अपनी सत्ता बनाये हुए है। फलतः छायावाद के प्रति उसके मन में विरोध का बीज अंकुरित हुआ। छायावाद के पतन के कारणों को विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न शब्दावलियों में विश्लेषण करते हुए प्रायः सभी कवियों ने और सभी आलोचकों ने इसी सत्य को स्वीकार किया है। छायावाद के प्रमुखतम आधार श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने छायावाद की सीमाओं का विश्लेषण करते हुए लिखा है—'छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाशन, नवीन भावना का सौन्दर्य-बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।' श्रीमती महादेवी वर्मा ने भी प्रकारान्तर से इसी सत्य का समर्थन किया है—'छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर हमें केवल समष्टिगत और सूक्ष्मगत सौन्दर्य सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था। इसीसे उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन होगया। यही कारण है कि सन् १९३६ ई० में श्री जयशंकरप्रसाद की कामायनी के

प्रकाशन के पश्चात् जिसमें छायावाद अपने पूर्णतम और प्रौढ़तम रूप में मुखरित हुआ है छायावाद का ह्रास प्रारम्भ हो गया और इसके विरुद्ध हिन्दी साहित्य में प्रबल प्रतिक्रिया परिलक्षित होने लगी। छायावाद के ह्रासोन्मुख धरातल पर प्रगतिवाद का जन्म हुआ जो अपनी अतिशय यथार्थता के कारण काफी समय तक हिन्दी साहित्य को अनुप्राणित करता रहा। प्रगतिवादी काव्यधारा के साथ-साथ तथा पश्चात् अन्य अनेक काव्यधाराओं का आविर्भाव हुआ जिन्होंने भाव तथा कला की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य को सशक्त तथा समृद्ध बनाया। छायावादोत्तर हिन्दी-काव्य को स्थूलतया इन काव्यधाराओं में विभाजित किया जा सकता है—

१ व्यक्तिपरक काव्य
२ प्रगतिवादी काव्य
३ प्रयोगवादी काव्य
४ नकेनवादी काव्य
५ नयी कविता

आगामी पृष्ठों में इन काव्यधाराओं का परिचय प्रस्तुत किया जायगा।

2

व्यक्तिपरक काव्य

व्यक्तिपरक काव्य में वैयक्तिकता का प्राधान्य है अर्थात् इसके वर्ण्य विषय स्वयं कवि के जीवन की आशा निराशा, सुख-दुख उल्लास विषाद आदि भाव हैं। यद्यपि ये भाव छायावादी और प्रयोगवादी काव्य में भी मिलते हैं तथा इनकी अभिव्यंजना शैली में अन्तर है। छायावादी कवि अपने भावों को प्रायः प्रतीक या लक्षण के द्वारा या उन्हें सामान्य बनाकर व्यक्त करता है किन्तु व्यक्तिपरक काव्यकार अपने भावों को सीधी सादी भाषा में बिना किसी आवरण के प्रस्तुत कर देता है। वह अपनी अभिव्यक्ति में किसी प्रकार के आवरण की संयोजना या अपने वर्ण्य विषय मे किसी प्रकार के आदर्श की प्रतिष्ठा करने के लिए प्रयत्नशील नहीं होता। वह जो अनुभव करता है, उसका ही निस्संकोच वर्णन कर देता है। यही कारण है कि व्यक्तिपरक काव्यकार के काव्य में जो सहज स्वाभाविकता, सरलता तथा प्रभविष्णुता मिलती है, उसका छायावादी कवि के काव्य में नितान्त अभाव पाया जाता है। डॉ शिवकुमार मिश्र के शब्दों में— निराशा, पराजय, वेदना और पीडा के व्यक्तिकरण मे यदि छायावादी कवि अपनी प्रतीकात्मकता लाक्षणिकता आदि के कारण अथवा उनके विरोधी आशा आस्था, उल्लास और दढता के तत्वों की भी समान अभिव्यक्ति के कारण अपने काव्य का सौन्दर्य के सुख स्वप्ना एवं गहरे मानवीय मूल्यों से सदा ही मुक्त रख सके तो इन कवियों ने इस निराशा, पराजय पलायन तथा वेदना आदि को ही अपनी केन्द्रीय वर्ण्यवस्तु मानकर उनका जीवन्त से जीवन्त और गहरे से गहरा चित्रण किया और इस प्रकार अपनी नयी रुमानों के साथ-साथ अपनी अकृत्रिम भावप्रवणता और अनुभूतिमयता का उदाहरण प्रस्तुत किया।

जिस प्रकार समान वर्ण्य विषय होने पर भी छायावादी काव्य और व्यक्तिपरक काव्य की आत्मा में मूल अन्तर है उसी प्रकार प्रयोगवादी काव्य से भी इसका अन्तर अत्यन्त गहरा और स्पष्ट है। यद्यपि प्रयोगवादी काव्य में भी वैयक्तिकता की प्रधानता है, तथापि व्यक्तिपरक काव्यकारों का 'व्यक्ति' जहाँ सामान्य व्यक्ति को व्यक्त करता है, उसे बिना किसी संकोच अथवा निषेध के स्वीकार कर लेता है वहाँ प्रयोगवादी कवियों की व्यक्तिवादिता मनोवैज्ञानिक सीमाओं में आबद्ध होने के कारण एक सीमित परिधि में बन्दिनी बनकर रह

गई है। फलतः इन कवियों के काव्य में जो सरलता, सुबोधता, स्पष्टता आदि गुण सहज ही मिल जाते हैं, वे प्रयोगवादी काव्य में मनोविज्ञान के गहन आवरणों में आवृत्त होने के कारण पर्याप्त दुर्बोध और अस्पष्ट बन गए हैं। अतः कहा जा सकता है कि प्रतीकों तथा अन्य प्रकार के आवरणों में आवृत्त छायावाद और प्रयोगवाद की छायामयता तथा कुंठित वैयक्तिकता से भिन्न व्यक्तिपरक काव्यधारा के कवियों ने अपनी वैयक्तिकता की जिस स्वाभाविकता से अभिव्यक्ति की वह हिन्दी-साहित्य के लिए बिल्कुल एक नयी वस्तु थी। इस आधार पर इस काव्यधारा के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है— "इस कविता का (व्यक्तिपरक काव्य का) अपना पृथक वैशिष्ट्य है। एक ओर जहाँ यह प्राचीन आत्मनिवेदनपूर्ण काव्य से भिन्न है, दूसरी ओर छायावाद की प्रच्छन्न आत्माभिव्यक्ति से भी इसका पार्थक्य है।'

✓इस काव्यधारा का जन्म प्रगतिवाद के साथ-साथ ही हुआ है। जब प्रगतिवाद सन् १९३८-३६ में हिन्दी साहित्य में अवतीर्ण हो रहा था तो इसी समय कविवर श्री हरिवंशराय बच्चन की व्यक्तिपरक कविताएं अपार श्रोताओं को अपनी ओर आकृष्ट कर रही थीं और तत्कालीन कवि-सम्मेलनों में श्री बच्चन जब तक मधुशाला की व्याख्या में पूर्णाहुति न दे देते तब तक कवि-सम्मेलन इसी प्रकार पूर्ण न हो पाते। चूँकि यह काव्यधारा प्रगतिवादी काव्यधारा के समानान्तर पनप रही थी, इसलिए यह न तो प्रगतिवादी काव्य-धारा की प्रगति में साधिका बनी और न बाधिका। दोनों काव्यधारायें अपनी अपनी गति से अपने अपने पथ पर निरन्तर अग्रसर होती रहीं। बच्चन के अतिरिक्त नरेन्द्र शर्मा, रामेश्वर शुक्ल अंचल, भगवतीचरण वर्मा और आरसीप्रसाद सिंह इस धारा के प्रमुख आधारस्तम्भ हैं।

इस काव्यधारा की प्रमुख प्रवृत्तियाँ ये हैं—

१ प्रेम की मांसल अभिव्यक्ति।
२ निराशावाद
३ मधुपायिता
४ नियतिवाद
५ हालावाद।
६ आस्तिकता का अभाव
७ वर्तमानवाद
८ व्यष्टि और समष्टि का समन्वय

प्रेम की मांसल अभिव्यक्ति

इस काव्यधारा के कवियों की मूल प्रेरणा उनके लौकिक जीवन में ना

उद्भूत हुई थी, फलत इनकी प्रेम विषयक धारणा भी एकदम लौकिक थी। ये कवि स्वच्छंद पूर्ण उन्मुक्त और निर्बाध प्रेम के उपासक थे, जिसका पर्यवसान कामना और वासना की तृप्ति में होता है। अपने प्रेम भाव की व्यजना इन्होंने अभिधा शैली में और स्पष्ट शब्दों में की है। समाज और सामाजिक मर्यादाओं का इन्होंने बिल्कुल भी भय नहीं किया है। ये ससार में सर्वत्र निर्बाध प्रेम की कामना करते हैं और यदि ससार इनकी कामना में किसी प्रकार बाधक बनता है तो उसे ये निष्ठुर, कारागार निर्मम आदि कहकर उसके प्रति अपनी घृणा और विरोध प्रकट करते हैं। निर्बाध प्रेम की कामना करते हुए 'बच्चन' कहते हैं—

> 'जब करूँ मैं प्यार
> हो न मुझ पर कुछ नियन्त्रण कुछ न सीमा कुछ न बन्धन
> तब रुकूँ जब प्राण प्राणों से करें अभिसार।'

बच्चन' के अनुसार, विश्व उनके लिए कारागार की भाँति अत्यधिक दुखदायी है क्योंकि यह उनकी छोटी से छोटी इच्छा को भी पूर्ण नहीं होने देता—

> 'अल्पतम इच्छा यहाँ, मेरी बनी बन्दी पड़ी है,
> विश्व क्रीडास्थल नहीं रे, विश्व कारागार मेरा।'

प्रवासी के गीतकार श्री नरेन्द्र शर्मा ने भी ससार को निष्ठुर घोषित किया है क्योंकि यह उनकी कामना की पूर्ति में बाधक है—

> 'हाय रे! निष्ठुर उपेक्षा! क्या मुझे अधिकार।
> जो कहूँ मेरे लिए निष्ठुर बना ससार।'

इन कवियों की दृष्टि में, प्रेम केवल भोग का पर्याय है। इसीलिए इन्होंने भोगोपभोग चुम्बन, परिरम्भण आदि अनुभावों का निस्सकोच वर्णन किया है। श्री नरेन्द्र शर्मा कहते हैं—

> 'तब वे मना मना हारेंगे, वारेंगे लाखों मधु चुम्बन,
> प्रिय रसाल की गोदी में फिर कोमल सी कुहुकूँगी निशिभर।

बच्चन' तो प्रेम में किसी भी प्रकार से तृप्ति नहीं मानते। उनके लिए तो वह मृत्यु भी मधुरतम है जो प्यार के क्षणों में हो—

> 'तृप्ति क्या होगी अधर के रस कणों से,
> खींच लो तुम प्राण ही इन चुम्बनों से,
> प्यार के क्षण में मरण भी तो मधुर है,
> प्यार के पल में जलन भी तो मधुर है।

और श्री आरसीप्रसाद सिंह तो नारी की पूर्ण नग्नता में ही अपने कामुक मन की तृप्ति देखते हैं—

मन हो लज्जा सर में निमग्न
कर दे कुछ ओछी ग्रंथि भग्न,
आजा ओ आ मेरे समीप
सम्पूर्ण नग्न एकांत नग्न।'

इस प्रकार की भावाभिव्यक्तियाँ यद्यपि प्रेमी मन की स्वाभाविक प्रतिक्रियाएं हैं तथापि शालीन और मर्यादाशील समाज को ये सह्य नहीं हुईं। अतः इन्हें अश्लील और संयमहीन कहकर समाज ने इनके विरोध में आवाजें उठाईं। इस धारा के अनेक कवि इन विरोधों से प्रभावित हुए और उन्होंने अपनी भावाभिव्यक्ति को अपेक्षाकृत शालीन तथा संयमित बनाने की चेष्टा की। परिरम्भण और चुम्बन के रसमय व्यापार की अनावृत कामना करने वाले श्री आरसीप्रसाद सिंह की निम्नलिखित पंक्तियाँ इन्हीं विरोधों की परिणति हैं—

आदिशक्ति रूपा जननी तुम जौहर की जौहर ज्वाला,
दानव सैन्य व्यूह में शोभित, चामुण्डा सी विकराला,
नचा रहा जिसका कटाक्ष जग केवल मात्र दुराशा-सा,
एक शब्द में ही कह देना, उस नारी की परिभाषा।

नारी के प्रति ऐसा आस्थामय तथा स्वस्थ दृष्टिकोण प्रस्तुत करना केवल प्रतिक्रियामात्र है।

निराशावाद

इस काव्यधारा के प्रमुख स्वरों में निराशा का स्वर भी प्रधान है। इन कवियों ने अपने जीवन में जिस प्रेम की आराधना की थी जिस पर अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया था उसकी विफलता इनके जीवन को गहरी निराशा से भर गई। ✓'बच्चन' और नरेन्द्र शर्मा के काव्य में तो निराशा के स्वर सर्वाधिक हैं। 'बच्चन' ने जो स्वप्न देखा था, उसे पूर्ण करने के जो प्रयत्न उन्होंने किये थे, वे समाज की परिस्थितियों के कारण टूट टूटकर बिखर गए। अतः उन्हें अपना अस्तित्व ही सारहीन और निरर्थक जान पड़ा। वे निराशा की गहनतम गहराइयों में उतरकर कह उठे—

अब मत मेरा निर्माण करो।

श्री नरेन्द्र शर्मा का हृदय भी निराशाजन्य आकुलता से इतना अधिक भर गया है कि कोई भी उपाय वे उसे हल्का होने का नहीं देखते। निशि दिन रो गाकर और कण-कण में मिलकर भी वे अपनी निराशा की गम्भीरता से मुक्ति

नही देखते—

'होगा हल्का न भार हिम का, चाहे निशिदिन रोऊँ, गाऊँ।
हल्का न भार होगा चाहे पिसकर कन कन में मिल जाऊँ।

श्री रामेश्वर शुक्ल 'अचल' के हृदय म इतनी गहरी निराशा व्याप्त होगई है कि उन्हे सारा ससार ही सूना दिखाई पडता है और इसका कारण है केवल प्रेम की विफलता—

'मैंने सब जग सूना पाया,
मुझको न किसी ने अपनाया।'

श्री भगवतीचरण वर्मा निराशा से इतने अधिक अभिभूत होगये हैं कि सारा शरीर ही उसम जकडकर असुन्दर और निष्क्रिय बन गया है—

होठों पर मुस्कान नहीं है, चमक नहीं है आँखों में,
झलक पडा करती है केवल, कभी कभी मेरी हस्ती।'

श्री आरसीप्रसाद सिंह के काव्य म भी ऐसी ही निराशा मिलती है। वे स्पष्ट कहते हैं कि प्रेम प्यार से वचित होकर और अपने भविष्य से निराश होकर वे एक मुरझाये फूल की भाँति रह गये हैं—

मैं प्रेम प्यार से वचित हू,
मैं अपने भावी से निराश,
मैं हूँ मुरझाया-सा प्रसून,
कोई न कहीं भी आस पास।

यद्यपि इन कवियो के काव्यो म निराशा के बहुत और गम्भीर स्वर हैं तथापि इसके कारण इनका कृतित्व पूणतया इसमे तल्लीन होकर क्षय नही हो पाया है। इसका कारण यह है कि अनेक अवसरों पर ये कवि अपनी स्थिति के प्रति सचेष्ट और जागरूक दिखाई देते हैं जिसके कारण इनके काव्य मे यत्र तत्र आशा और उल्लास के स्वर भी सुनाई देते हैं।

मृत्यूपासना

इन कवियो की निराशा की चरम परिणति मृत्यूपासना म होती है अर्थात् ये जीवन और जगत् द्वारा प्रदत्त विफलताओ से इतने निराश होजाते हैं कि जीवन के प्रति इनका कोई आकषण नही रहता। इन्हें मृत्यु ही वह विश्रामस्थल दिखाई देता है जहाँ ये परम मुक्ति की कल्पना करते हैं। कविवर 'बच्चन' के काय म व्यक्त यह निराशा भाव उन्हें मत्यूपासना के लिये ही

प्रगित करता है—

> व्यय गया क्या जीवन मेरा ?
> प्यासी आँखें भूली चाहें, अग अग की अगणित चाहें,
> और काल के गाल समाता जाता है प्रतिक्षण तन मेरा।

जीवन के प्रति यही विफलताजन्य निराशा उनके मन में मृत्यु के प्रति आकर्षण उत्पन्न कर देता है। वे यह सोचने के लिए बाध्य हो जाते हैं कि मृत्यु ही जीवन की विफलताओं और तज्जन्य विषादों से छूटने का एकमात्र साधन है—

> फिर न पड़े जगती में आना,
> फिर न पड़े जगती से जाना,
> एक बार तेरी गोद में सोकर फिर मैं जाग न पाऊ ।

श्री नरेन्द्र शर्मा भी जीवन की गहन विफलता और उसके अगाध विषाद से पीड़ित हैं। यह विषाद उनके जीवन का एक ऐसा भार बना देता है जिसे ढोते रहना ही कवि का लक्ष्य बन गया है—

> 'घड़ी घड़ी गिन घड़ी देखते,
> काट रहा हूँ जीवन के दिन
> क्या साँसों को ढोते ढोते—
> ही बीतेंगे जीवन के दिन ?

श्री आरसीप्रसाद सिंह मरण में जो उन्माद देखने के लिए विकल हुए हैं वह उन्हें जीवन में दिखाई नहीं देता—

> क्या समभोग तुम जीवन धन !
> है कितना उन्माद मरण में ?

और श्री रामेश्वर शुक्ल 'अचल' के लिए तो अतृप्त कामना को लेकर मरना भी असम्भव दिखाई देता है—

> 'सोच रहा हूँ कैसे मर पाऊँगा ले इतना भूखा तन मन
> दूभर सूनी घड़ियों में जब मेरा शोणित करता क्रन्दन।'

कहने का भाव यह है कि इस काव्यधारा के कवियों में मृत्यु के प्रति जो आकर्षण देखा जाता है वह किसी दार्शनिक सिद्धान्त या वैराग्य का परिणाम नहीं वरन् घोर विफलता की अपार पीड़ा को न सह सकने की अक्षमता होने के कारण जीवन और जगत् से पलायन की प्रवृत्ति है। ऐसी प्रवृत्ति किसी भी समाज के लिए स्वस्थ तथा लाभकारिणी नहीं मानी जाती। इसलिए सत्कवि के लिए इसे वर्ज्य माना गया है।

नियतिवाद

जीवन की विफलताएं जिस घोर निराशा को जन्म देती हैं, वह निराशा नियति की महत्ता को स्वीकार करने के लिये मनुष्य को बाध्य कर देती है। इस धारा के कवियो ने नियति के प्रति जो आस्था व्यक्त की है उसका कारण भी यही है। अपने जीवन म इन्होंने जो आशाएँ की, जिन कामनाओ को सजाया, वे कभी पूर्ण नहीं हुई। फलत य नियति मे विश्वास करने को और उसकी महत्ता को व्यक्त करने का बाध्य हुय। कविवर बच्चन का कथन है कि मनुष्य नियति का दास है। वह स्वय कुछ भी कर सकने म असमथ है। वह वही करता है जो नियति उससे करवाना चाहती है—

> 'हम जिस क्षण में जो करते हैं,
> हम बाध्य वही हैं करने को।'

श्री नरेन्द्र शर्मा ने भी नियति की शक्ति और मनुष्य की परवशता का सकेत इन शब्दो म दिया है—

> 'मैं काल का कोदण्ड हूँ, मैं प्रकृति से उद्दण्ड हूँ,
> मुझको झुकाते जारहे हैं, निष्ठुर नियति के हाथ।

यही नियति मनुष्य के समस्त कार्य कलाप का नियन्त्रण और सचालन करती है। मनुष्य की इच्छाओ का धूलि धूसरित कर देना इसका प्रमुख काय है। 'बच्चन का विश्वास है कि यही नियति उनकी हवसो की पूर्णता मे बाधक बनकर उन्हें असह्य पीडा दे रही है—

> बनकर अदृश्य मेरा दुश्मन करता है मुझ पर वार सघन,
> लड लेने की मेरी हवस, मेरे उर के ही बीच रही।'

और श्री नरेन्द्र शर्मा का भी ऐसा ही विश्वास है कि नियति ने ही उनकी सारी कामनाओ को उनके लिये हथकड़ियाँ बना दिया है—

> 'विश्व में अ वाद हू, उपहास हूँ निष्ठुर समय का,
> हथकडी बेडी बना दीं, नियति ने सब कामनाएँ।'

नियति के प्रति इन कवियो की यह गहन आस्था इनके प्रेम भाव को बहुत हल्का बना देती है क्योंकि सघर्षों से जूझना प्रेम की गम्भीरता है प्रेमी के महत्त्व का सूचक है और स्वय का नियति के हाथों सौंप देना प्रेम पथ के लिये कलक है, प्रेमी की दुबलता का बोधक है।

भोगवाद

इन कवियो का मूल प्रतिपाद्य स्थूल प्रेम है, जिसमे शरीर की भूख की प्रधानता है। अत भोगवाद की प्रचुरता का इनके काव्य म होना स्वाभाविक

हा है। 'बच्चन' का अभिसार का यह परम आकुलता इनके भोगवाद की परिचायिका है —

> 'कल मुझाऊँगा हुई संसार में जो भूल,
> कल उठाऊँगा भला अन्याय के प्रतिकूल,
> आज तो कह दो कि मेरा बन्द गेहागार।

श्री नरेन्द्र शर्मा शरीर की भूख को कभी न बुझनेवाली मानते हैं। इस मान्यता का मूलाधार प्रखर भोगवाद ही है जो शारीरिक सम्पर्क के लिए मन को सदा आकुल बनाये रखता है—

> युग-युग से कवि ने यौवन में, बस एक यही गायन गाया,
> अन्धड़-सी अंगों की गति में, कब भूख भरा बुझने आया।

श्री अंचल ने भोगवाद से ही प्रेरित होकर नारी को केवल प्रणय की निशदिन माना है और उसके आंचल की पूजा को ही सर्वोत्कृष्ट पूजा तथा सब प्रकार के फल देने वाली उपासना बताया है—

> तुमने कच्ची कलियाँ चुन-चुनकर पूजा की थाली भर ली।
> मैंने रसवन्ती पुजारिन का ही चीर गहा पूजा कर ली।

श्री आरसीप्रसाद सिंह ने इन शब्दों में भोगवाद की अभिव्यक्ति की है—

> होने दे परिरम्भण चुम्बन चलने दे व्यापार रभसमय
> छोड़ प्रिये यह अचिर दुराग्रह यह नीरसता लज्जा अभिनय।
> रोम रोम में नाच रहा अति प्रथम प्रवाह प्रेम का अक्षय,
> नस-नस में बहता उद्वलित, यौवन विद्युद्वेग निरामय।

भोगवादी प्रवृत्ति संसार और जीवन की क्षणभंगुरता के प्रति सचेत सजग रहती है। भोगोत्सुक व्यक्ति अपनी वासना की पूर्ति शीघ्रातिशीघ्र कर लेना चाहता है क्योंकि उसे भय रहता है कि कहीं आया समय खो न जाय जीवन और जगत् का अन्त ही न हो जाय। इस धारा के सभी कवियों के काव्य में ऐसी शंका की अभिव्यक्ति प्रचुरता से हुई है। उदाहरण के लिए बच्चन की ये पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं—

> काल सागर में न क्षण-क्षण ये कहीं खो जायँ।
> आदि होते ही न इनका अन्त भी हो जाय॥
> समय दुहराता नहीं यह स्नेह का उपहार।
> सुमुखि ! ये अभिसार के पल, चल करें अभिसार॥

श्री भगवतीचरण वर्मा भी कल को विकल तथा व्यर्थ कल्पना मानते हुए

वतमान मे ही अपनी भागलिप्सा को तप्त कर लेना चाहते हैं—

'कल एक विकल कल्पना ध्यय, कल यहा चुका है बीत, प्रिये !
तुम ही मैं हूँ है वतमान, है प्राणों का सगीत, प्रिये !'

इस प्रकार इस धारा के कवियो के काव्य म भागवाद का प्रबल स्वर सहज ही पाया जाता है।

आस्तिकता का अभाव

हिन्दी साहित्य म सन् १९३० ई० के आसपास युग मानस म बौद्धिकता की एक एसी लहर आई थी जो प्राचीन रूढियों को तोडने मे कटिबद्ध होगई थी। आस्तिकता का भाव जो भारतीय सस्कृति की अत्यन्त प्राचीन परम्परा है, इस धारा के प्रवाह म बह गया था। तत्कालीन कवि भी पारलौकिकता की अपेक्षा लौकिकता के सम्बन्ध को ही समाज के लिय हितकर मानने लग थे। यही कारण है प्रगतिवादी कवियो ने आध्यात्मिकता का विरोध किया उन्होंने धमज्ञान को आध्यात्मिकता के काल्पनिक धरातल से उतारकर लौकिकता के धरातल पर प्रतिष्ठित करके व्यावहारिक बनाने का प्रयास किया। किन्तु इस धारा के कवियो म आस्तिकता के अभाव का कारण युगीन या सामाजिक न होकर व्यक्तिपरक है। अपने ही व्यक्तिगत कारणो से इन्होने ईश्वर और धम के महत्व को नकारा। 'बच्चन' ने ईश्वर पूजा का विरोध करते हुये कहा—

'मनुज पराजय के स्मारक हैं, मठ, मस्जिद, गिरजाघर,
प्राथना मत कर मत कर मत कर।

श्री नरेन्द्र शर्मा ने ईश्वर को उस राजा की भाति माना है जो मानव अधिकार पाकर अपने कर्त्तव्यो को भूलकर अन्याय करने पर उतारू हो जाता है, उसी प्रकार ईश्वर अपने रक्षक और न्यायकारी रूप को भूलकर जगत् को पीडित कर रहा है। इसीलिये तो जगत म भीषण अस्तव्यस्तता फली हुई है—

'कौन सुनता है करुण पुकार, किसे रुचता है हाहाकार,
भूल गया है ईश्वर जग को, पा मादक अधिकार।

और आरसीप्रसाद सिंह तो ईश्वर को मृत ही घोषित कर दते हैं—

'मैं अपना आप विधाता हूँ, मेरा भगवान गया है मर।'

इन कवियो का यह अनास्था भाव कोई सुविचारित निष्कष नही था, वरन् एक क्षणिक आवेश की जो केवल व्यक्तिगत भावो और परिस्थितियो तक ही सीमित था, एक प्रतिक्रियामात्र था। इसलिये य इस प्रवृत्ति पर अचल न रह सके और कुछ ही वर्षों म आस्तिकता की ओर स्वत ही उन्मुख होगये।

बच्चन ने मधुशाला की रचना करके और नरेन्द्र शर्मा ने रूमानी तथा अध्यात्म के भावों में सामंजस्य रखकर, 'अंचल' आरसीप्रसाद सिंह और भगवतीचरण वर्मा ने पुनः अपनी पुरानी आध्यात्मिकता को अपनाकर आस्तिकता के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की है।

पलायनवाद

पलायन की प्रवृत्ति किसी भी संस्कृति के लिए और किसी भी साहित्य के लिए हेय मानी गई है। जिस काव्य में यह प्रवृत्ति पाई जाती है उसे कल्पना की उड़ानों के कारण भले ही श्रेष्ठ मान लिया जाय किन्तु सामाजिक दृष्टि से उसकी कोई उपयोगिता नहीं होती। छायावादी काव्य पर प्रथम आरोप यही था कि वह पलायनवादी है। उत्तर-छायावादी काव्यधारा के कवियों में भी यह प्रवृत्ति प्रचुरता से मिलती है वरन् छायावादी काव्य की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप में मुखरित हुई है। इस धारा में आविर्भूत हालावाद इसी प्रवृत्ति की परिणति है। जीवन की विषमताओं को भुलाने के लिए इन कवियों ने हाला और प्याले का सहारा लिया। बच्चन की मधुशाला और मधुबाला कृतियों में यह प्रवृत्ति अपनी चरम सीमा पर दृष्टिगोचर होती है। हालावाद के अनुयायी 'अंचल', भगवतीचरण वर्मा, आरसीप्रसाद सिंह में भी यह प्रवृत्ति बहुलता से देखी जाती है। यथा—

(क) अभी बहुत पीना है मदिरा, तुमको बहुत पिलाना।
इस रजनि के तिमिर सागर में, डूब-डूब उतराना।

— अंचल

(ख) ओठों पर नाच रहा था मेरे यौवन का प्याला,
मैं बना हुआ था साकी मैं ही था पीने वाला,
मैं हँसता था मस्ती में मेरा था रंग निराला।

—भगवतीचरण वर्मा

(ग) इस प्याले में थोड़ा सा मद
जरा और भर देना साकी,
जिससे फिर पीने की दिल में,
रह न जाय कुछ हसरत बाकी।'

—आरसीप्रसाद सिंह

इन कवियों की परवर्ती रचनाओं को यदि ध्यान से देखें तो स्पष्ट पता चल जाता है कि साकी की विलक्षण सौन्दर्य और हाला की गम्भीर खुमारी से ये अधिक दिनों तक [illegible] से दूर नहीं रह सके। ये भी प्रगतिवादी कवि की तरह धरा के यथार्थ तल पर उतरे हैं। यद्यपि इनका यह अवतरण भी इनकी अन्य क्रियाओं की भाँति एक प्रतिक्रियामात्र है।

व्यष्टि और समष्टि का संघर्ष

इस धारा के कवियों का काव्य व्यष्टि प्रधान है, क्योंकि इनके काव्य में जो आशा निराशा जय पराजय सहयोगी विरोधी आदि भाव हैं उनका इनके व्यक्तिगत जीवन से ही सम्बन्ध है समाज से नहीं। किन्तु एक स्थिति वह भी आई है जब ये अपने व्यक्ति का त्याग कर उसकी अत्यन्त सीमित परिधि से बाहर भी निकले हैं। 'बच्चन' अपने उस मन को विश्वोन्मुख करते हुए कहते हैं जो अभी तक अपनी सीमा से बाहर नहीं निकला है—

> 'अपने से बाहर निकल देख,
> है विश्व खड़ा बाँहें पसार।'

श्री नरेन्द्र शर्मा ने भी यह अनुभव किया है कि अपने अहं के कारण ही वे एक अत्यधिक संकीर्ण परिधि में बन्दी रहे हैं। इसी के कारण उन्हें जीवन प्रवास बन गया है—

> 'नहीं आज आश्चर्य, हुआ क्यों जीवन मुझे प्रवास।
> अहंकार की गाँठ रही, मुझ पसारी के पास।

इसी अहं का सम्बोधित करते हुए वे कहते हैं—

> 'निकल कूप मंडूक अहं, बाहर है विश्व विशाल।

इसी प्रकार के भाव इस धारा के अन्य कवियों की कविताओं में भी मिलते हैं। डॉ॰ शिवकुमार मिश्र के शब्दों में— इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यष्टि और समष्टि के संघर्ष ने इन सारे कवियों को न्यूनाधिक मात्रा में प्रभावित किया है। यदि कुछ काव्य में इस द्वन्द्व के सजीव व्यक्तिकरण के साथ-साथ उसके परिणामस्वरूप उठने वाले चरणों की भी व्यापक छाप देख पड़ी है तो कुछ उस द्वन्द्व अथवा संघर्ष का यत्र तत्र संकेत करके अनायास ही नई भूमियों पर अपने पदार्पण की सूचना देने लगे हैं।'

उपर्युक्त इन काव्य-वृत्तियों के कारण इन कवियों के काव्य को समाज और साहित्य में वह समादर प्राप्त नहीं हुआ जो किसी प्रभावशाली काव्य को मिलता है, वरन् इसे क्षयी कहकर प्रायः अनादृत ही किया गया है। परन्तु इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इन्होंने जीवन के जिस पक्ष को भले ही वह अन्धकार पक्ष है अपने काव्य में गृहीत किया है उसे पूर्णतया यथार्थ और स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत करके इन्होंने अपनी सरसता का परिचय दिया है। यह सरसता इस धारा के प्रत्येक कवि के काव्य में आद्योपान्त ओतप्रोत है। यदि इन्होंने जीवन के उज्ज्वल पक्ष को भी उसी मात्रा में अपनाया होता तो इनका काव्य निस्सन्देह हिन्दी भाषा और साहित्य का अमर तथा प्रेरणाप्रद गौरव होता।

३

प्रगतिवादी काव्य

मानव-मन स्वभावतः प्रतिक्रियावादी है। वह उससे प्रायः असन्तुष्ट हो जाता है जो उसे प्राप्त हो जाता है और उसके लिए प्रयत्नशील बन जाता है जो उसे प्राप्त नहीं होता। समाज-क्षेत्र की भाँति साहित्य-क्षेत्र में भी मानव मन की यही प्रतिक्रियावादिता सतत् सक्रिय रहती है। द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता से ऊबकर कवि छायावाद के काल्पनिक तथा मधुर लोक में प्रविष्ट हुआ जहाँ केवल वह था और थीं उसकी रंगीन कल्पनाएँ। भौतिक लोक की कठोर यथार्थता से उसका विशेष सम्बन्ध नहीं रह गया था। किन्तु एक दिन वह इन रंगीनियों से भी ऊब गया। उसे लगा कि जो जीवन वह जी रहा है, वह इतना निस्सार है कि वह केवल अपने लिए, अपनी आत्मा के परितोष के लिए जी रहा है, वह जो साहित्य रच रहा है उसकी समाज के लिए कोई उपयोगिता नहीं है इसलिए वह भी निरर्थक और निस्सार है और तभी उसके मन में यह प्रश्न भी उठा कि वह किस साहित्य की रचना कर रहा है, वह साहित्य किसके लिए है? उसकी काव्याहुति किस देव के लिए है? इन्हीं प्रश्नों ने उसके कल्पनाशील हृदय को झकझोर दिया, उसके काल्पनिक काव्य भवन की आधारशिला को हिला दिया। वह भौतिक धरातल पर उतरा। उसकी सजगता से प्रगतिशील साहित्य का सृजन होने लगा।

कवि-मन की इस प्रतिक्रिया पर तत्कालीन युग के विपन्न भारतीय समाज का प्रबल प्रभाव पड़ा। प्रसाद की कामायनी के पश्चात् छायावाद अपनी अंतिम साँसें लेने लगा था। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों ने उसे और भी निष्प्रभ बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। सन् १९३ ई० के आसपास भारतीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन प्रखर हो सजीव और तीव्र बन गया था। राजनीति में समाजवाद का जो स्वर गुंजित हुआ था, वह दमन-शमन हो तब भारी उद्घोष में बदल गया। सर्वत्र समाजवादी समाज की चर्चा होने लगी। आचार्य नरेन्द्र देव, अशोक मेहता, डॉ० राममनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण आदि प्रमुख समाजवादी नेता राजनीति में अपना सम्पूर्ण व्यक्तित्व लेकर उभरे। तत्कालीन काँग्रेसाध्यक्ष पंडित जवाहरलाल नेहरू ने भी अपना स्वर इसी उद्घोष में मिला दिया। स्वतन्त्रता की इस बढ़ती तीव्रता के साथ साथ ही तत्कालीन अंग्रेज शासकों का दमन चक्र भी भीषण होता चला गया जिससे

कारण देश की आर्थिक और सामाजिक दशा निरन्तर द्रुतगति से बिगड़ती चली गई। फलत कवियो का ध्यान उस समाज की ओर गया जो दुर्दशाग्रस्त था, जो कीड़ा के जीवन से भी अधिक घिनौना जीवन व्यतीत कर रहा था। साधारण कवि की तो बात ही दूर, छायावाद के सशक्त और सर्वाधिक कल्पनाशील सुकुमार कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त भी प्रकृति की सुषमा से विमुख होकर इस कठोर धरातल पर उतर आये। जो आकाश उन्हे कभी अपार तथा विविध सुन्दरता का अक्षय भण्डार दिखाई दिया करता था, वही मृत्यु की नीलिमा की भाति गहन गम्भीर दिखाई देने लगा। अत वे स्वय ही जीव प्रसू भू की ओर उन्मुख नही हुए, वरन् उन्होंने इस ओर आने के लिए दूसरे अन्य कवियो का भी आह्वान किया—

'ताक रहे हो गगन
मृत्यु नीलिमा गहन गगन ?
अनिमेष, अचितवन, काल नयन ?—
नि स्पन्द शून्य, निर्जन, निस्वन ?
देखो भू को !
जीव प्रसू को !

और इसका परिणाम यह हुआ कि पन्त ने युगान्त युगवाणी तथा ग्राम्या जैसी कृतियो की रचना करके प्रगतिवाद की प्रगति को गति दी।

पन्त की भाति निराला भी छायावाद के स्तम्भ हैं किन्तु इनकी और पन्त की प्रगतिवादी काव्य चेतना का मूल अन्तर यह है कि इनमे प्रगतिवादिता आरम्भ से ही रही है जबकि पन्त की यह चेतना विचार विकास तथा युगीन परिस्थितियो की प्रतिक्रिया है। यही कारण है कि अपने छायावाद के चर्मोत्कर्ष काल मे भी *निराला ने हिन्दी साहित्य को कुकुरमुत्ता, नये पत्ते, अणिमा* जैसी कृतियाँ प्रदान की हैं जिनमे शोषक और शोषितो के माध्यम मे कवि ने यथार्थ समाज के अत्यन्त सजीव और मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किए हैं। इन दोनो कवियो के अतिरिक्त रामधारी सिंह दिनकर 'अज्ञेय' नागार्जुन, रामविलास शर्मा शिवमगल सिंह 'सुमन' रागेयराघव, केदारनाथ अग्रवाल त्रिलोचन आदि अनेक कवि हुए हैं जिन्होंने प्रगतिवाद को शक्ति और जीवन दिया है।

प्रगतिवाद का स्वरूप

'प्रगति शब्द का सामान्य अर्थ है आगे बढ़ना। अत प्रगतिवाद उस मार्ग को कहा जा सकता है जिससे आगे बढ़ा जाये जिससे प्रगति की जाये, किन्तु हिन्दी में प्रयुक्त 'प्रगतिवाद' शब्द एक विशेष अर्थ का बोधक है। यहाँ पर

प्रगति' का अपना साध्य है जो पूर्णतया यथार्थवाद पर आधारित है और जिसका मूलाधार मार्क्सवाद है। इसलिए प्रगतिवाद के स्वरूप को समझने के लिए मार्क्सवाद के स्वरूप को समझ लेना परम आवश्यक है।

मार्क्सवाद के तीन मुख्य सिद्धान्त हैं—द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद, मूल्य-वृद्धि का सिद्धान्त और अर्थव्यवस्था के अनुसार विश्व सभ्यता की व्याख्या। मार्क्स किसी अलौकिक सत्ता में विश्वास नहीं करता। उसके अनुसार आत्मा परमात्मा स्वर्ग एवं आदि भावनाएँ केवल काल्पनिक हैं। वास्तव में इनका कोई अस्तित्व नहीं है। सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में इसका सिद्धान्त यह है कि इसकी उत्पत्ति और इसका विकास भौतिक शक्तियों से होता है। दो वस्तुओं और शक्तियों के संघर्ष से तीसरी वस्तु का जन्म और विकास होता है। यह विकास भौतिक शक्तियों की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं से ही निरन्तर बढ़ता जाता है। जिस वस्तु में जितनी अधिक शक्ति होती है वह उतनी ही अधिक देर तक अपनी सत्ता बनाए रहती है। जितनी अधिक देर उसकी सत्ता बनी रहती है उतना ही अधिक उसका विकास होता है। यही मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद का सिद्धान्त कहलाता है।

मूल्य वृद्धि के सिद्धान्त के अन्तर्गत मार्क्स ने इन चार बातों का विवेचन किया है—मूल पदार्थ, स्थूल साधन, श्रमिक का श्रम और मूल्य वृद्धि। मूल पदार्थ और स्थूल साधन के अन्तर्गत वे साधन आते हैं जो उत्पादन में सहायक होते हैं। मशीन आदि यन्त्र ऐसे ही साधन हैं। इन्हीं के सहयोग से श्रमिक अपने श्रम के द्वारा उत्पादन करता है जिसका लाभ पूँजीपति को मिलता है। इसलिए मार्क्स ने समाज को दो वर्गों में विभाजित किया है—शोषक वर्ग और शोषित वर्ग। शोषक वर्ग पूँजीपतियों का है। पूँजीपति श्रमिकों के श्रम से उत्पन्न हुए उत्पादन के लाभ को स्वयं डकार लेता है और श्रमिक को उसका कोई अंश नहीं देता। इस प्रकार वह श्रमिक वर्ग का शोषण करता है। इसका परिणाम यह होता है कि पूँजीपति अहर्निश धनाढ्य होता चला जाता है और श्रमिक प्रतिदिन भुखमरी तथा दरिद्रता का शिकार बनता चला जाता है। शोषित वर्ग उन श्रमिकों का है जिनके श्रम का शोषण करके पूँजीपति धन अर्जित करता है। यद्यपि ये दोनों वर्ग समाज के अनिवार्य अंग हैं किन्तु इनकी विषमता समाज के लिए अभिशाप बन जाती है। जब तक समाज के इन वर्गों की विषमता को समाप्त नहीं कर दिया जाता, शोषक और शोषित का भेदभाव नहीं मिटा दिया जाता तब तक कोई भी समाज उन्नति नहीं कर सकता। इसी भेद भाव के कारण पूँजीपति अपने लाभांश को बढ़ाने के लिए अपनी वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि कर देता है जिससे समाज की अर्थ-व्यवस्था का सन्तुलन बिगड़ जाता है। मार्क्स का दृढ़ विश्वास है कि जब तक समाज

ी अथ-व्यवस्था सन्तुलित न होगी उसके उत्पादन का पूँजीपति और श्रमिकों म समुचित बँटवारा नहीं होगा तब तक समाज का विकास नहीं हो सकता।

मार्क्स का सम्पूर्ण अवधान समाज की अर्थ-व्यवस्था पर केन्द्रित था, इसी लिए इन्होंने इसी आधार पर विश्व सभ्यता की व्याख्या की है। मार्क्स समाज के जातिगत विभाजन को समाज के लिए उचित नहीं मानते। इन्होंने आर्थिक व्यवस्था को ही समाज के विभाजन का समुचित आधार मानकर समाज को दो वर्गों मे विभाजित किया है—शोषक वर्ग और शोषित वर्ग। शोषक वर्ग के अन्तर्गत वे व्यक्ति आते हैं जो बिना श्रम किये हुए ही दूसरों के श्रम से उत्पन्न धन का संचय करते हैं शोषित वर्ग म वे व्यक्ति हैं जिन्हे अपने श्रम का पूरा लाभांश नही मिलता और इस प्रकार वे पूँजीपतियों द्वारा शोषण का शिकार बनते हैं। इसी दृष्टि से मार्क्स ने विश्व सभ्यता की व्याख्या की है। इस व्याख्या को इन्होंने चार युगों म विभाजित किया है—

१ पहला युग दास प्रथा का युग
२ दूसरा युग सामन्ती प्रथा का युग
३ तीसरा युग पूँजीवादी व्यवस्था का युग
४ चौथा युग साम्यवादी व्यवस्था का युग

इस वर्गीकरण से यह स्पष्ट है कि मार्क्स साम्यवादी व्यवस्था को ही समाज के लिए अंतिम तथा श्रेयस्कर मानते है। साम्यवाद का मूल सिद्धान्त यह है कि समाज की आर्थिक व्यवस्था का सन्तुलन बनाए रखने के लिए सभी को उनकी पूँजी या उनके श्रम का उचित धनांश मिलना चाहिए। जिस समाज म श्रम करने वाला श्रमिक भूखा मरता है और श्रम न करने वाला पूँजीपति दिन प्रतिदिन धनाढ्य होता जाता है, वह समाज अस्तव्यस्त हो जाता है।

मार्क्स ने भाग्यवाद का भी प्रबल विरोध किया है। भाग्य पर विश्वास करने म दो प्रतिक्रियाएँ प्रमुख रूप म होती है। पहली तो यह कि पूँजीपति इसके सहारे अपनी शोषक प्रवृत्ति को छिपाने में सफल होते हैं क्योंकि वे श्रमिकों के मन म यह धारणा उत्पन्न करने म सफल होते हैं कि धन का श्रम म कोई सम्बन्ध नही है। यह तो केवल भाग्य का खेल है। जिसके भाग्य म धन लिखा है वह सदैव धनी रहेगा चाहे वह श्रम करे या न करे और जिसके भाग्य मे निधनता लिखी है वह चाहे जितना श्रम करे निधन ही बना रहेगा उसे कोई भी धनवान नही बना सकता। दूसरी यह कि भाग्य पर विश्वास करने के कारण श्रमिकों मे सन्तोष की भावना उत्पन्न हो जाती है जिससे वे अपने शोषण के प्रति कोई ध्यान नही देते। वे यह सोचने पर विवश हो जाते

हैं कि जब उनके भाग्य में धनवान होना लिखा ही नहीं, भरपट रोटी लिखी ही नहीं, तो वे न तो धनवान बन सकते हैं और न भरपेट रोटी ही पा सकते हैं। यह सच है कि इससे श्रमिकों के मन में अपने श्रम के प्रति भी थोड़ी-बहुत उदासीनता की भावना जगती है किन्तु इससे पूरा लाभ शोषक को ही मिलता है, क्योंकि शोषित के मन में कभी भी शोषक के विरुद्ध विद्रोह करने की भावना उत्पन्न नहीं होती। शोषित और शोषक के विषम अंतर को मिटाने के लिए मार्क्स ने राष्ट्रीयकरण को ही एकमात्र हल बताया है— व्यक्ति समाज का अंग है और समाज के लिए उसकी सत्ता है। जब तक वह समस्त समाज के विकास और वृद्धि में उपयोगी है तब तक उसका उतना ही मूल्य है जितना किसी अन्य व्यक्ति का। अतएव सम्पत्ति का विभाजन व्यक्तिपरक न होकर सामाजिक उपयोगिता के आधार पर होना चाहिए तथा किसी व्यक्ति का मूल्य इतना अधिक नहीं होना चाहिए कि उसके चुकाने में दूसरे व्यक्ति को कष्ट हो। इस मूल्य नियंत्रण के लिए सम्पत्ति पर से व्यक्ति का नियंत्रण हटाकर समाज का नियंत्रण लगाना आवश्यक है।

समाजशास्त्र का यही रूप हिन्दी-साहित्य में प्रगतिवाद के नाम से सबकी हुआ है। इसलिए प्रगतिवादी कवियों ने साम्यवाद की बड़ी प्रशंसा की है। कविवर पंत ने साम्यवाद को स्वर्णयुग का पदार्पण बताया है—

साम्यवाद के साथ स्वर्ण युग,
करता मधुर पदार्पण,
मुक्त निखिल मानवता करती,
मानव का अभिवादन ।

निराला ने भी 'अनउला' नामक कविता में साम्यवाद की प्रशंसा करते हुए इस जनहित का उदार सिद्धान्त कहा है—

'फिर पिता संग
जनता की सेवा का व्रत मैं लेता उमंग,
करता प्रचार
मंच पर खड़ा हो साम्यवाद इतना उदार।

प्रगतिवादी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ ये हैं—

१ राष्ट्रीय चेतना
२ रूढ़िगत आध्यात्मिकता का विरोध
३ यथार्थवादिता

५ परिवर्तन के प्रति मोह
६ नारी के प्रति नवीन दृष्टिकोण
७ सामयिकता
८ भौतिकता तथा बुद्धिवादिता
९ भाषा की सरलता

राष्ट्रीय चेतना

जिस समय प्रगतिवाद का हिन्दी साहित्य में आविर्भाव हुआ, उस समय भारतीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन अपनी सम्पूर्ण शक्ति से भारतीय मानस को झिकझोर रहा था। राष्ट्रीय चेतना की इस प्रबल लहर से तत्कालीन कवियों का अप्रभावित रह जाना सम्भव नहीं था। अत हिन्दी साहित्य में कवियों का एक वर्ग तो केवल राष्ट्रीयता को लेकर काव्य रचना में संलग्न था। श्री मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, रामधारी सिंह दिनकर', सोहनलाल द्विवेदी, केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' माखनलाल चतुर्वेदी जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' श्यामनारायण पाण्डेय आदि कवि इसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रगतिवादी कवियों ने भी राष्ट्रीय चेतना से प्रभावित होकर अनेक कविताओं की रचना की है, किन्तु इनकी राष्ट्रीय चेतना का रूप अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है। इनकी राष्ट्रीय चेतना का स्थूलतया इन वर्गों में विभाजन किया जा सकता है—

१ विदेशी दासता का विरोध
२ पूंजीवाद का विरोध और शोषितों के प्रति सहानुभूति
३ साम्प्रदायिकता का विरोध
४ सामाजिक सुधारों का आग्रह
५ युद्ध का विरोध और शान्ति की स्थापना का समर्थन
६ भारतमाता का गौरव-गान

उस समय विदेशी दासता के विरोध का इतना अधिक महत्व था कि केवल इसी विरोध को अपनाकर कोई भी कवि राष्ट्रीय कवि बन सकता था। जो लोग विदेशी दासता का विरोध कर रहे थे उनकी प्रशंसा करना या उन्हें प्रोत्साहन देना भी प्रकारान्तर से विदेशी दासता का ही विरोध था। प्रगतिवादी कवियों ने दोनों विधियों से विदेशी दासता का विरोध किया है। डॉ० राम विलास शर्मा सन् ४२ के क्रान्तिकारियों की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

यह शक्ति किसमें, बन्द रक्खे सैनिकों को,
सन् बयालिस के स्मरण बलिदानियों को।'

क्रांति का आह्वान करने में भी यही चेतना विद्यमान है—

> है समय यही आँखें खोलो वेदी पर धधकी प्रलय आग।
> अभिमान करो, बलि चढ़ चढ़कर, गाओ हँस हँसकर विजय राग।

राष्ट्रीय चेतना के साथ-साथ पूँजीपतियों के प्रति घृणा और शोषितों के प्रति सहानुभूति की भावना भी बढ़ी। फलतः प्रत्येक प्रगतिवादी कवि ने पूँजीपतियों की भर्त्सना की क्योंकि उनके अनुसार पूँजीपति भी शासक वर्ग के कारण दासता के बंधनों को सुदृढ़ बनाने में सहायक थे। डॉ० रांगेयराघव ने सूदखोर महाजन के प्रति अगाध घृणा भाव व्यक्त करते लिखा है—

> ठहर जा जातिद्रोही महाजन
> तनिक तो तू खोल यह मदिरा विघूर्णित आँख अपनी
> देख, कहाँ से लाया यह सम्पत्ति, यह साम्राज्य।

और डॉ० सुमन ने इन शब्दों में पूँजीपतियों पर व्यंग्य करके उनके शोषक रूप का चित्रण किया है—

> 'बिक रहा पूत नारीत्व जहाँ चाँदी के थोथे टुकड़ों में,
> कर्तव्य पालता धनिक वर्ग, मदिरा के जूठे टुकड़ों में।

जब अंग्रेज किसी भी प्रकार से भारतीय राष्ट्रीय चेतना का दमन न कर सके तो उन्होंने साम्प्रदायिकता का विष फैलाना प्रारम्भ किया ताकि राष्ट्रीय एकता को घुन लग जाय और भारतवासी पारस्परिक संघर्षों में पड़कर अपने स्वतन्त्रता प्राप्ति के लक्ष्य से भ्रष्ट हो जायँ। प्रगतिवादी कवियों ने साम्प्रदायिकता के विरुद्ध भी आवाज उठाई और साम्प्रदायिकता के भावों को बढ़ावा देने वाले लोगों को राष्ट्रद्रोही तथा समाजद्रोही बताया। इन कवियों ने साम्प्रदायिकता को समाप्त करने का संकल्प लिया। श्री नागार्जुन का यह संकल्प सभी कवियों के संकल्प का प्रतिनिधित्व करता है—

> 'हाँ, बापू!
> मैं निष्ठापूर्वक आज शपथ लेता हूँ
> सम्प्रदायवादी दलों के विरुद्ध लोह
> जब तक खण्डहर न बनेंगे,
> तब तक मैं इनके खिलाफ
> लिखता जाऊँगा।'

सभी नेता इस बात से सहमत थे कि जब तक भारतीय समाज का सुधार नहीं होता इस पुरानी गली-सड़ी रूढ़ियों और परम्पराओं से मुक्त करके नये प्रकाश में नहीं लाया जाता तब तक राष्ट्रीय चेतना का पूर्ण विकास नहीं हो

सकता और न तब तक स्वतन्त्रता ही प्राप्त हो सकती है। इसीलिये उन्होने समाज सुधार की ओर विशेष ध्यान दिया। प्रगतिवादी कवियो के मन मे भी यह भाव था और वे भौतिक तथा बौद्धिक दोनो ही दृष्टियो से समाज को सुधारना चाहते थे उसके जीवन स्तर को ऊचा करके उसम नई चेतना भर देना चाहते थ। इसीलिए इन्होने अनेक ऐसी कविताओ की रचना की, जिससे समाज को नई चेतना मिले। अपने इस ध्येय को पूरा करने के लिये उन्होने प्राय भारतीय इतिहास का सहारा लिया। 'दिनकर' ने तत्कालीन समाज को बताया कि आज अहिंसा और धर्म की आवश्यकता नही, वरन् शस्त्र बल की आवश्यकता है आज युधिष्ठिर जसे धर्मात्मा नही, वरन् अर्जुन और भीम जसे वीर चाहिये—

✓ 'रे रोक युधिष्ठिर को न यहा,
जाने दे उनको स्वर्ग धीर,
पर, फिरा हमें गांडीव गदा,
लौटा दे अर्जुन भीम वीर।'

✓ प्रगतिवादी कवियों ने युद्ध का खुलकर विरोध किया है। इनकी दृढ धारणा है कि युद्ध मानवता के विध्वसक होते हैं, ये धरती पर अशांति, अन्याय और शोषण को जन्म देते हैं। यही कारण है कि अधिकांश प्रगतिवादी कवियों ने शान्तिदूत महात्मा गाधी की सस्तुति की है। युग सारथी गाधी के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा व्यक्त करते हुये डॉ० 'सुमन' कहते हैं कि यदि गाँधीजी न होते तो समूची मानवता युद्ध आग मे जलकर राख हो जाती सारी ससति श्मशान बन जाती—

'मनु की सन्तान सगर-सुत-सी
सिकता में होजाती विलीन
जर्जर पद दलिता दीन-हीन।
सारी ससति बनती मसान।
घर घर उलूक, कौवे, शृगाल
जन पथ भयावने बियाबान
चट चट चट चिता सुलगतीं
गिरते ककालों पर गिद्ध-श्वान
खप्पर भर भर योगिनी
अँतड़ियां पहने करतीं रक्त-पान।'

भारतमाता के गौरव-गान के द्वारा भी इन कवियो ने अपनी राष्ट्रीय भावना को अभिव्यक्ति दी है। 'दिनकर' हिमालय के माध्यम से भारत माँ के

प्रति अपनी अगाध श्रद्धा इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

> 'मेरे नगपति ! मेरे विशाल !
> साकार दिव्य गौरव विराट
> पौरुष के पुञ्जीभूत ज्वाल !
> मेरी जननी के हिम किरीट !
> मेरे भारत के दिव्य भाल !'

श्री नागार्जुन भी भारत माँ के प्रति असीम श्रद्धा को इन शब्दों से प्रकट करते हैं—

> 'देवि ! तुम्हारी वसुन्धरा का वित्ता वित्ता रत्नाकर है,
> जन-युग का यह रिक्त हस्त कवि
> देवि ! तुम्हारे लिए
> आज निज शीश झुकाता !

स्पष्ट है कि प्रगतिवादी कवियों की राष्ट्रीय चेतना में रूढ़िवादिता न होकर अपने राष्ट्र के प्रति और अपने राष्ट्रवासियों के प्रति सच्चा प्रेम है। वे अपने राष्ट्र का उत्थान चाहते हैं और उन्हें विश्वास भी है कि निकट भविष्य में ही देश दासता की कठोर शृंखलाओं से मुक्त होगा, लपटों से झुलसी हुई धरती पर नई फसल पैदा होगी—

> 'नयी फसल देगी फिर धरती, लपटों से झुलसाई।

इन कवियों की यह धारणा किसी कल्पना पर आश्रित नहीं, वरन् सामाजिक यथार्थता पर और वास्तविकता पर आधारित है।

रूढ़िगत आध्यात्मिकता का विरोध

प्रगतिवादी कवि रूढ़ियों का कट्टर विरोधी है चाहे वे रूढ़ियाँ चाहे सामाजिक हों या आध्यात्मिक। जब वह देखता है कि समाज को पतित बनाये रखने में आध्यात्मिकता का विशेष योग है तो वह ईश्वर, धर्म, परलोक आदि भावनाओं के विरुद्ध प्रबल आवाज उठाता है। वह मानता है कि ईश्वर, धर्म और परलोक आदि की कल्पनाओं ने ही समाज को पंगु तथा निष्क्रिय बना दिया है वह अपने पुरुषार्थ को छोड़कर अकर्मण्य बन गया है। प्रगतिवादी कवि के अनुसार, मनुष्य ही इस सृष्टि का ईश्वर है। वही अपने सत्कार्यों से इसे स्वर्ग और दुष्कर्मों से नरक बना देता है। यही भाव पंतजी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

> 'मनुज प्रेम से जहाँ रह सकें—मानव ईश्वर !
> और कौन-सा स्वर्ग चाहिए तुझे धरा पर !

मार्क्सवादी दशन मे जितनी ईश्वर की उपेक्षा की गई है उतनी ही धम की भी की गई है। मार्क्सवादी धम को शोपकों का एक प्रबल शस्त्र मानते हैं, जिसका प्रयोग व शोपितो को दवाये रखने के लिये और अपनी शोषण वृत्ति को बनाये रखने के लिये करते हैं। प्रगतिवादी कवियों ने इसीलिये आध्यात्मिकता का विरोध किया है। परन्तु यहाँ पर यह जान लेना भी आवश्यक है कि इन्होने ज्ञानाश्रित आध्यात्मिकता का नहीं, बल्कि रूढिगत आध्यात्मिकता का ही विरोध किया है क्योंकि ये रूढिया ही तो समाज के जनसाधारण की प्रगति म बाधक हैं। पन्त की नहान, ग्रामदेवता, डा० रामविलास शर्मा की मूर्तियाँ केदारनाथ की चित्रकूट के बौद्रम यात्री आदि कविताएँ इस कथन के उदाहरण हैं। वस्तुत इन कवियो का आध्यात्मिकता के प्रति विरोध किसी सिद्धान्त के कारण नहा है वरन् सामाजिक व्यवहार के कारण है क्योंकि ईश्वर धम आदि की भावनाएँ सामाजिक प्रगति मे अवरोध उत्पन्न करती हैं इसीलिये प्रगतिवादी कवियो ने इनका विरोध किया है।

यथार्थवादिता

प्रगतिवादी कवि कल्पना म नहा यथाथ म आस्था रखता है। छायावादी कवियो के विरोध म एक यह भी प्रबल आक्षेप था कि उनका काव्य केवल काल्पनिक है। यथार्थता का अभाव होने के कारण उसम जग जीवन का स्पन्दन नहीं है, इसीलिये वह समाज के लिए अनुपयोगी है और इसीलिये वह हेय भी है। प्रगतिवादी कवियो ने समाज के यथाथ चित्रण प्रस्तुत किये हैं। इनकी दृष्टि मे समाज का समग्र रूप केवल दो वर्गों मे ही सीमित था—शोषक वग और शोषित वग—इसीलिये इनके काव्य मे यथाथ के नाम पर इन्ही दो वर्गों का चित्रण अधिक है। शोपक वग या पूँजीवादी वग समाज के अधिकाश भाग का शोषण करता है उन्हे उनके जीवन की अनिवाय आवश्यकताओ से वचित करता है इसलिये इस वग के प्रति इनका घृणा और इनका आक्रोश स्वाभाविक ही है। समस्त प्रगतिवादी काव्य मे शोषको का इसी रूप म चित्रण हुआ है। कविवर पन्त ताजमहल को पूँजीवाद का स्मारक मानते हुये उसके प्रति अपना अमित आक्रोश इन शब्दो म व्यक्त करते हैं—

> शव-सौध में हो शृंगार मरण का शोभन,
> नग्न क्षुधातुर वास विहीन रहें जीवित जन।'

कितनी भयकर है यह सामाजिक विडम्बना। एक ओर एक राजा ताज महल के भव्य निर्माण के माध्यम से मृत्यु का शृंगार करता है, अपनी मृत प्रेयसी की याद म इतने भव्य और विशाल मकबरे का निर्माण करता है और दूसरी ओर जीवित जन भूख-प्यास से आतुर होकर, जीवन की अनिवाय

आवश्यकताओं से वंचित होकर अकाल में ही मृत्यु का ग्रास बन रहे हैं।

डा० 'सुमन' ने इन पूँजीपतियों को नरक के कैंचुए, शान्ति के अभिशाप, मौत के सौदागर आदि सम्बोधनों के द्वारा इनके प्रति अपनी अपार घृणा को प्रकट किया है—

'ओ नर्क के कैंचुए, सुख शान्ति के अभिशाप,
मौत की सौदागरी के फटते अब पाप।

श्री नरेन्द्र शर्मा ने इन्हें वह छली बताया है जो भाग्य की दुहाई देकर दूसरों के श्रम से अपार सुख सुविधा संचित करता है—

एक व्यक्ति संचित करता है अर्थ कर्म के बल से।
और भोगता उसे दूसरा अरे भाग्य के छल से।'

पूँजीपतियों के प्रति इस घृणा और आक्रोश की यह प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक ही थी कि शोषितों के प्रति इन कवियों के हृदय में सहानुभूति हो। वस्तुतः प्रगतिवादी काव्य जहाँ एक ओर पूँजीपतियों के प्रति घृणा से भरा हुआ है वहाँ दूसरी ओर शोषितों के प्रति अपार सहानुभूति भी व्यंजित है। उनकी यथार्थ दशाओं का वर्णन करके प्रगतिवादी कवियों ने अपनी सहानुभूति की मार्मिक व्यंजना की है। दिनभर के भारी श्रम से थके हुए श्रमिक जब संध्या समय अपने घरों को लौटते हैं तो कवि पन्त का हृदय थकान के कारण उनके डगमगाते पगों को देखकर करुणा से भर जाता है। उनकी करुणा इन शब्दों में बोल पड़ता है—

ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी धर डगमग पग
भारी है जीवन! भारी पग!'

भारत के अधिकांश श्रमजीवी गाँवों में ही रहते हैं अतः प्रत्येक प्रगतिवादी कवि नगरों की सभ्यता एवं विलासिता को छोड़कर गाँवों के सूने, मलिन और उजड़े हुए वातावरण में पहुँचा है तथा उसने गाँव और गाँव वालों की दुःखद दशाओं के कारुणिक चित्र अंकित किये हैं। पन्तजी गाँवों की दुर्दशा को देखकर बिलख उठते हैं—

यह तो मानव लोक नहीं रे यह है नरक अपरिचित।
✓ यह भारत का ग्राम सभ्यता संस्कृति से निर्वासित।
मानव की दुर्गति गाथा से ओतप्रोत मर्मांतक।
सदियों से अत्याचारों की यह सूची रोमांचक॥

इससे अधिक यथार्थ और मार्मिक चित्रण भारत के गाँवों की दयनीय दशा का और क्या हो सकता है?

गाँवों में रहने वाले श्रमजीवियों के जीवन के अनेक चित्रों का अंकन पंत ने किया है जिनमें उनके जीवन के कारुणिक चित्रण भी हैं और उल्लास से भरे हुये। साथ ही, श्रमजीवियों की पत्नियों पर भी कवि की दृष्टि गई है जो अपने पतियों के साथ जीवन की आवश्यकताएँ जुटाने के लिये कमर तोड़ परिश्रम करती हैं। श्रम, सौन्दर्य और उल्लास से भरे हुये मजदूरिन के जीवन का यह वर्णन कितना स्वाभाविक है—

'सर से आंचल खिसका है, धूल भरा जूड़ा,
अधखुला वक्ष ढोती तुम सिरपर घर कूड़ा।
हँसती बतलाती सहोदरा-सी जन-जन से
यौवन का स्वास्थ्य झलकता आतप सा तन से।'

निराला की दृष्टि भी उस मजदूरिनी पर जाती है जो भीषण गर्मी में भी अपनी कर्म साधना में लगी हुई है—

वह तोडती पत्थर
देखा मैंने इलाहाबाद के पथ पर
वह तोडती पत्थर।
नहीं छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार
श्याम तन भर बंधा यौवन
नत नयन प्रिय कर्म रत मन
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार बार प्रहार
सामने तरु मालिका अट्टालिका आकार।

सामाजिक विषमता ने समाज को अनेक अभिशापों से अभिशप्त किया हुआ है। भिक्षा वृत्ति की विवशता भी इन्हीं अभिशापों का कुफल है। निराला ने एक भिक्षुक का हृदयद्रावक चित्रण करके समाज के इस अभिशप्त अंग की ओर संकेत किया है—

'वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।

इन पंक्तियों में यथार्थ और मार्मिकता चित्रण के साथ-साथ भिक्षुक के प्रति कवि की अगाध सहानुभूति भी मुखरित है। ऐसा यथार्थवादी वर्णन वही कवि कर सकता है जिसने अपनी मन की आँखों से किसी भिक्षुक को निर्निमेष दृष्टि से देखा हो।

यह वास्तविकता है कि समाज में शोषक वर्ग अपने पूर्ण आनन्द के साथ रहता है और शोषित वर्ग हर प्रकार की यातनाओं को सहन करने के लिए विवश है। इसी स्थिति का अत्यन्त मर्मस्पर्शी वर्णन कवि 'दिनकर' ने इन शब्दों में किया है—

"श्वानों को मिलता दूध वस्त्र भूखे बच्चे अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।
युवती की लज्जा वसन बेच जब ब्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक तब तेल-फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं॥

सामाजिक जीवन का प्रमुख आधार माना जाने वाला कृषक भी तो सामाजिक विषमता के अभिशाप से बच नहीं पाया है। कविवर रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' ने कृषक की दीन-हीन दशा का वर्णन करते हुए लिखा है—

'इन खलिहानों में गूँज रही, किन अपमानों की लाचारी।
हिलती हड्डी के ढाँचों में, फिरती दबी घर की नारी॥
युग युग के अत्याचारों की आकृतियाँ जीवन के तन में।
घिर घिर कर पुंजीभूत हुईं, ज्यों रजनी के छाया दिन में॥

कहने का भाव यह है कि प्रगतिवादी काव्य में समाज के जितने यथार्थ और सजीव चित्र मिलते हैं उतने अन्य किसी काव्यधारा में नहीं मिलते। वस्तुतः यथार्थवाद ही वह आधार शिला है जिस पर प्रगतिवाद का भव्य भवन टिका हुआ है।

मानवतावाद

प्रगतिवादी काव्य ठोस धरातल पर उतरकर मनुष्य और उसके समाज को देखता है इसलिए इसमें मानवतावाद के स्वर की प्रमुखता होना स्वाभाविक ही है। इसमें दलितों, शोषितों और दीनों के प्रति जो अपार सहानुभूति व्यक्त की गई है वह अन्य किसी काव्यधारा में परिलक्षित नहीं होती। यही सहानुभूति प्रगतिवादी कवियों की मानवता की प्रेरणा है। यही मानवता सामाजिक विषमता, शोषण, अनाचार के विरोध में और नये समाज की नयी तथा शान्तिपूर्ण स्थापना में प्रकट होती है। अतः कहा जा सकता है कि जीवन की कुरूपताओं, विषमताओं और अभावों के विरुद्ध प्रगतिवादी कवि का जो संघर्ष है

वही मानवतावाद का रूप लेकर फूटता है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्रगतिवादी कवि की मानवता एक सीमा से आवद्ध है, जिसमे केवल शोषितो के प्रति ही सहानुभूति है। शोषक वर्ग के प्रति तो उसमे अपार घृणा भरी हुई है जिसके कारण प्रगतिवादी कवि उन व्यक्तियो को पूँजीपतियो को बिल्कुल भी क्षम्य नही मानता जो सामाजिक विषमता के तथा दलितो की अपार पीडा के प्रमुख कारण हैं—

'आज जो मैं इस तरह आवेश में हूँ, अनमना हूँ।
यह न समझो मैं किसी के रक्त का प्यासा बना हूँ॥
सत्य कहता हूँ, पराये पैर का काटा कसकता।
भूल से चींटी कहीं दब जाये तो भी हाय करता॥
पर जिन्होंने स्वार्थवश जीवन विषाक्त बना दिया है।
कोटि कोटि बुभुक्षितों का कौर तलक छिना लिया है॥
बिलखते शिशु की व्यथा पर दृष्टि तक जिनने न फेरी।
यदि क्षमा कर दूँ उन्हे धिक्कार माँ की कोख मेरी॥'

प्रगतिवादी कवि की मानवता सीमित होते हुए भी इसलिए ग्राह्य है कि उसके मूल मे एक विशाल जन समुदाय की मुक्ति और सुख सुविधा की आकांक्षा निहित है।

परिवर्तन के प्रति मोह

प्रगतिवादी कवि को परिवर्तन के प्रति अत्यन्त मोह है। वह जगत मे बौद्धिक और भौतिक दोनो प्रकार के परिवर्तनो का ही हिमायती है। उसका दृढ विश्वास है कि जग का वास्तविक विकास प्राचीन परम्पराओं और रूढ़ियो की शृङ्खलाओं को तोडकर दूर फेंक देने मे ही है। पुरातनता के निर्मोक के नष्ट होने पर जिस नवीनता का उदय होगा, वह नवीनता जग जीवन को नया जीवन और नया रूप देगी। इसीलिए सभी प्रगतिवादी कवियों ने प्राचीनता के विरुद्ध विद्रोही भावनाएँ व्यक्त की हैं। कविवर पन्त प्राचीनता पर कुठाराघात करते हुए कहते हैं—

'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र,
हे स्रस्त ध्वस्त! हे शुष्क शीर्ण!
हिम-ताप पीत, मधु-वात भीत,
तुम वीतराग, जड पुराचीन!'

श्री नरेन्द्र शर्मा को प्राचीनता से बधी हुई यह दुनियाँ अत्यन्त भद्दी और रद्दी दिखाई देती है। अत वे मजदूरो का आह्वान करते हैं कि वे मिल

जुट कर ऐसी क्रांति करें कि यह दुनियाँ ही बदल जाय—

'आओ मजदूरो आओ, सब मिल जुल कर बदलो।
इस रद्दी दुनियाँ को, इस भद्दी दुनियाँ को ।।

कविवर नागार्जुन को भी अन्य प्रगतिवादियों की भाँति यही विश्वास है कि जब तक प्राचीनता को नष्ट नहीं कर दिया जायगा, दानवता को भस्मीभूत नहीं कर दिया जायगा, ममता की छाती पर लपट नहीं उठेगी, तब तक नए समाज का निर्माण न हो सकेगा। इसीलिए वे विप्लव का आह्वान करते हुए कहते हैं—

'भस्मीभूत बने दानवता नयनों से उगलें अंगारे।
ममता की छाती पर चढ़कर, धधक कर लपटें फुंकारें ।।

इन परिवर्तनों, क्रांतियों और विद्रोहों के द्वारा जिस समाज की स्थापना होगी, कविवर नागार्जुन के अनुसार, वह समाज सुख सुविधा से परिपूर्ण होगा, सभी लोग सक्षम और प्रबुद्ध होंगे, सभी अपने कर्त्तव्यों का दत्तचित्त होकर पालन करेंगे और सभी एकता के एक सूत्र में बंधकर स्वर्णिम समाज का निर्माण करेंगे—

'सुख-सुविधा सबके हेतु सहज, सब सक्षम, सब होंगे प्रबुद्ध,
बालक वृद्ध-वनिता सारे कर्त्तव्यनिरत, निर्माणशील,
सब एक सूत्र में गुम्फित कुसुमावलि समान,
अमरत्व न चाहेगा कोई, सम होंगे जीवन और मरण।

प्रगतिवादी कवि साहित्यिक क्षेत्र में भी रूढ़ियों और परम्पराओं के विरोधी थे। इन कवियों ने भाषा-सुन्दरी के पगों से अलंकारों की पायलें और उसके शासन से छन्दों के बन्धनों से मुक्त करके उसे स्वाभाविक रूप और शक्ति प्रदान की। महाकवि निराला ने मुक्त छन्द का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है—मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग होना। मुक्त छन्द में बाह्य समता के प्रति कवि का जो आग्रह होता है, वह समाप्त हो जाता है, केवल मुक्त छन्द में आन्तरिक साम्य होता है, जो उसके प्रवाह में सुरक्षित रहता है।' इसलिए इन कवियों ने मुक्त छन्द भाषा का काफी प्रयोग किया है। यह प्रयोग नवीनता के साथ-साथ भाव पूर्ण भी है। यथा—

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुन्दरी परी सी
धीरे धीरे धीरे।

इन पंक्तियों में यद्यपि छन्द का विधान नहीं है, किन्तु लय का भावानुकूल संयोजना के द्वारा कवि ने वक्तव्य को सजीव और साकार बना दिया है। लगता है, जैसे सन्ध्या सुन्दरी को पाठक अपनी ही आँखों से अपने ही सामने, व्योम मार्ग से उतरते हुए देख रहा है।

नारी के प्रति नवीन दृष्टिकोण

सामाजिक दृष्टि से प्रगतिवाद साम्यवाद से प्रभावित है और प्रेम के क्षेत्र में मुख्यतया फ्रायड से। इसलिए प्रगतिवादी कवि प्रेम और वासना को मनुष्य की स्वाभाविक भूख मानता है और इनकी तृप्ति पर किसी प्रकार का अंकुश या बन्धन स्वीकार नहीं करता। पन्तजी स्वच्छन्द प्रेम को ही सामाजिक हित मानते हुए कहते हैं—

> 'धिक् रे मनुष्य ! तुम स्वच्छ, स्वस्थ, निश्छल चुम्बन,
> अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर ?
> मन में लज्जित, जन से शंकित, चुपके गोपन,
> तुम प्रेम प्रकट करते हो नारी से कायर।'

प्रगतिवादी कवि की मान्यता है, जो यथार्थ पर आधारित है कि नारी प्रेम भावना तथा काम भावना का आधार है। इसलिए वह नारी के आन्तरिक सौन्दर्य की अपेक्षा उसके शारीरिक सौन्दर्य के प्रति ही अधिक आकर्षित है। यह आकर्षण कहीं-कहीं यथार्थता के नाम पर वासना के नग्न चित्रों का अंकन भी बन गया है किन्तु अधिकांश प्रगतिवादी साहित्य में नारी के सामाजिक महत्व की हिमायत की गई है। सामाजिक दृष्टि से प्रगतिवादी कवि समाज में नारी का महत्वपूर्ण स्थान स्वीकार करता है। उसका मन्तव्य है कि नर-नारी के समुचित सम्बन्धों से ही समाज का अबाधित विकास हो सकता है और प्रेम के स्वस्थ रूप की रक्षा हो सकती है। अतः नारी को भी समाज में उसके यथोचित अधिकार मिलने चाहिए, वह 'कामपुत्तलिका' न होकर 'मानवी' के रूप में प्रतिष्ठित हो। पन्तजी कहते हैं—

> 'सदाचार की सीमा उसके तन से हो निर्धारित,
> पूतयोनि वह, मूल्य चर्म पर केवल अंकित।
> वह समाज की नहीं इकाई शून्य समान अनिश्चित,
> उसका जीवन मान, मान पर नर के है अवलम्बित।
> योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित,
> उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह न रहे नर पर अवसित।

पन्त के अनुसार नारी का नारीत्व उसके सहज गुणों में है बनाव शृंगार के कृत्रिम सौन्दर्य में नहीं। जो नारी केवल शृंगार-प्रसाधनों से अपने रूप को

प्रतिष्ठित करना चाहता है वह समाज में अपने उपयुक्त स्थान पर न तो प्रतिष्ठित हो सकती है और न समाज का कोई हित ही कर सकती है। वह फूल, लहर, तितली, विहगी, मार्जारी आदि चाहे जो बन जाय किन्तु वह वास्तविक अर्थ में नारी नहीं हो सकती। पन्तजी ने अपनी 'आधुनिका' नामक कविता में ऐसे ही भावों को व्यक्त किया है।

निराला ने भी भारतीय नारी की दुर्दशा का वर्णन करते हुए उसके प्रति पूज्य भाव भी प्रदर्शित किया है—

> 'वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी
> वह दीपशिखा-सी शान्त, भाव में लीन
> वह क्रूर-काल-ताण्डव की स्मृति रेखा-सी
> वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन
> दलित भारत की ही विधवा है।

डा० रांगेय राघव भी नारी के महत्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि केवल केलि रति का केन्द्र और क्रीड़ा का ही धाम नहीं है वरन उसमें मानव की गरिमा भी है—

> 'अब भेद इतना है कि तुम केवल नहीं हो
> केलि रति का केन्द्र क्रीड़ा धाम
> मानव भी, सहयात्री भी हो गये हैं
> इस जगत् में अब तुम्हारे काम।

नारी के प्रति इसी स्वस्थ दृष्टिकोण के कारण इन कवियों का प्रेम-वासना न रहकर शक्ति बन गया है। इसी प्यार की शक्ति उसे जगत का प्रेमी बनाती है उसकी दुर्बलता का हरण करके उसमें नवीन साहस का संचार करती है और उसे श्रमक्षेत्र में बढ़ने का उत्साह देता है—

> 'मुझे जगत् जीवन का प्रेमी बना रहा है प्यार तुम्हारा
> मेरी दुर्बलता को हरकर नयी शक्ति नव साहस भरकर
> तुमने फिर उत्साह दिलाया श्रमक्षेत्र में बढ़ूँ सँभलकर।
>
> —डा० रामविलास शर्मा

प्रेम इस कवि को अगम सागर को पार करने की शक्ति देता है—

> 'हाथ में जब तक तुम्हारे प्यार की पतवार
> कर सकूँगा अगम सागर पार।
>
> —त्रिलोचन शास्त्री

और यही प्रेम थके हुये जीवन को नवस्फूर्ति प्रदान करता है—

> साँसों पर अवलम्बित काया,
> जब चलते चलते चूर हुई,
> दो स्नेह शब्द मिल गये,
> मिली नव-स्फूर्ति, थकावट दूर हुई।
>
> —डॉ० शिवमगलसिंह 'सुमन'

इस प्रकार यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि प्रगतिवादी साहित्य म जहाँ नारी के यथार्थ जीवन को व्यजित करके उसका सामाजिक महत्त्व अंकित है वहाँ स्वस्थ प्रेम को भी शक्ति के रूप म स्वीकार किया गया है।

सामयिकता

कवि निश्चित रूप से अपने समसामयिक युग से प्रभावित होता है किन्तु इस सामयिकता को वह कला के आवरण मे इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि उसका सामयिकता भी शाश्वत बन जाती है। यही कवि की सफलता है। जो कवि ऐसा करने म विफल रहता है, उसकी कला का महत्त्व कुछ ही दिनो ठहर पाता है, वह एक युग विशेष का कवि बनकर रह जाता है। प्रगतिवादी कवियों का मूलाधार यथार्थ था, अत इनके काव्य म सामयिकता की प्रधानता होनी तो स्वाभाविक ही थी, किन्तु इस सामयिकता को शाश्वता का रूप देने म य कवि प्राय असफल ही रहे हैं। फलत प्रगतिवादी साहित्य एक युग विशेष का ही साहित्य बनकर रह गया है। सामयिकता के प्रति इस वाद क कवियो और आलोचको का इतना अधिक दुराग्रह प्रतीत होता है कि वे इसकी परिधि म ही आबद्ध होकर साहित्य की प्राणवत्ता मान बैठे हैं। डा० रामविलास शर्मा के शब्दो म—सामयिक सघर्ष म आधुनिक साहित्य जितना ही तपेगा उतना ही निखरेगा। इस सघर्ष से दूर रहकर यदि लेखक सोने की कलम से भी काल्पनिक सपनो के गीत लिखेगा तो उसकी कलम और साहित्य का मूल्य दो कौड़ी से ज्यादा न होगा।' प्रगतिवादी कवि समसामयिकता से इतने आबद्ध हैं कि इसकी परिधि से वे कभी बाहर नहीं निकलते। इसीलिये समसामयिकता इस काव्यधारा का मूल स्वर भी है और इसके पतन का मूल कारण भी। इस धारा के कवि सामयिकता को कलात्मकता से सम्पृक्त करने म असफल ही रहे हैं। यह साहित्य वस्तुत सरस साहित्य न होकर एक सिद्धान्त-विशेष का प्रचारात्मक साधन है। यह मुख्य रूप से मजदूरो का समर्थक और पूँजीपतियों का विरोधी है। प्रचार के इस एक ही पक्ष को ग्रहण करने के कारण इस काव्य धारा को गहरी क्षति पहुँची है।

काव्य की समग्रता के लिए बुद्धितत्त्व के साथ साथ भावतत्त्व और रागतत्त्व भी अनिवाय हैं किन्तु प्रगतिवादी कवि केवल बुद्धितत्त्व को ही काव्य का सवस्व मानकर चला है इसलिए इस धारा मे बौद्धिकता का इतना प्राबल्य है कि उसके कारण काव्य की सरसता तिरोहित हो गई है। प्रगतिवादी कवि समाज की प्रत्यक समस्या का समाधान बुद्धि के बल पर खोजता है और वह उसी बात को स्वीकार करता है जिसे उसकी बुद्धि स्वीकार कर लेती है जो उसकी तक निकष पर खरा उतर आता है। यह अतिशय बौद्धिकता यदि इस काव्यधारा की विशेषता है तो इसकी एक ऐसी सीमा भी है जिसने इसे ह्रासोन्मुखी बनाया है। इस प्रवत्ति के कारण ही, इस धारा म दलित वग के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति ही व्यक्त हो पाई है। प्रगतिवादी कवि को जीवन के जिस पक्ष का व्यावहारिक अनुभव होना अपेक्षित था, वह इस काव्य म नही मिलता।

भाषा की सरलता

भाषा का सरल प्रयोग इस धारा की एक प्रमुख प्रवत्ति है। सभी कवियों न ऐसी भाषा का प्रयोग किया है जो न तो अलकारों के सौन्दय से लदी हुई है न क्लिष्ट शब्द योजना से सगठित है और न जिसमे कल्पना की गहराइयाँ हैं। प्रगतिवादी अपने कथ्य को सीधी-सादी भाषा म व्यक्त करता है जो सव सहज बोधगम्य है। पन्त जी ससुराल जाती हुई एक ग्राम वधू का वणन करते हुए कहते हैं—

> / 'लो अब गाडी चल दी भर-भर,
> बतलाती धनि पति से हँसकर,
> सुस्थिर डिब्बे के नारी नर,
> जाती ग्राम वधू पति के घर।

निराला भी कितनी सरल तथा प्रभावशालिनी भाषा मे अपनी विद्रोह की भावना को व्यक्त करते हैं— / आवाहन) निराला

> ✓
> 'एक बार बस और नाच तू श्यामा!
> सामान सभी तयार,
> कितने ही हैं असुर चाहिए कितने तुमको हार?
> कर मेखला-मुण्ड मालाओं क बन मन अभिरामा,
> एक बार बस और नाच तू श्यामा। अपरा ५

केदारनाथ अग्रवाल ने ग्राम की दयनीय स्थिति का चित्रण कितनी सरल

और यथार्थ भाषा में किया है—

'सड़े घूर की, गोबर की बदबू में दबकर,
महक ज़िन्दगी के गुलाब की मर जाती है,
रार, शाप, तकरार द्वेष से, दुख से कातर,
आज ग्राम की दुर्बल धरती घबराती है।'

यह काव्यधारा एक विशेष सिद्धान्त के प्रचार में सम्बद्ध है और इस देश के कोने-कोने में पहुँचा देना चाहती है इसीलिए इसकी भाषा का सरल होना स्वाभाविक भी है और आवश्यक भी। साथ ही यह यथार्थ के धरातल पर पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित है अतः इसमें व्यंग्यात्मकता का प्राधान्य होना भी अनिवार्य है। यही कारण है कि इस धारा के कवियों की भाषा सरल भी है और व्यंग्यों से भरी हुई भी। श्री त्रिलोचन शास्त्री सम्पन्न और सम्मानित व्यक्तियों के प्रति व्यंग्य के द्वारा अपनी प्रखर घृणा भावना व्यक्त करते हैं—

'पदमविभूषण जो हँसे, हँसते रहे,
हम जो लहरों में फँसे, फँसते रहे
बाघ बूढ़ा के कड़ा सोने का
लोग दलदल में फँसे, फँसते रहे।

फिर भी यह कहने में संकोच नहीं किया जा सकता कि कलापक्ष की ओर से प्रायः सभी प्रगतिवादी कवि उदासीन रहे हैं इसीलिए इस काव्यधारा में यत्र-तत्र ऐसे भी स्थल मिल जाते हैं जो न तो भावपक्ष की दृष्टि से ही सफल हैं और न कलापक्ष की दृष्टि से ही। जहाँ तक इस काव्य प्रवृत्ति के मूल्यांकन का सम्बन्ध है, अपनी अनेक सीमाओं के होते हुए भी इसने काव्य को यथार्थ धरातल पर उतारकर समाज और काव्य का अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। केवल इतनी एक प्रवृत्ति भी इसके महान महत्त्व की प्रतिष्ठा के लिए पर्याप्त है। इसके उदयकाल में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसके प्रति यह उज्ज्वल भविष्यवाणी की थी—'प्रगतिशील आन्दोलन बहुत महान् उद्देश्य से चालित है। इसमें साम्प्रदायिक भाव का प्रवेश नहीं हुआ तो इसकी सम्भावनाएँ अत्यधिक हैं। भक्ति-आन्दोलन के समय जिस प्रकार एक अदम्य दृढ़ आत्मनिष्ठा दिखाई पड़ी थी, जो समाज को नये जीवन दर्शन से चालित करने का संकल्प ग्रहण करने के कारण अप्रतिरोध्य शक्ति के रूप में प्रकट हुई थी उसी प्रकार यह आन्दोलन भी हो सकता है।

खेद है प्रगतिवादी कवि द्विवेदी जी की इस भविष्यवाणी को पूर्णतः साकार नहीं कर पाये।

प्रयोगवादी काव्य

छायावादी कवियो की अतिशय कल्पना प्रवणता, सूक्ष्मता आदि के विरुद्ध जा मानस क्रान्ति हुई उसने ही प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का जन्म दिया। यद्यपि इन दोनों काव्य धाराओ के आविर्भाव का कारण एक ही था, किन्तु दोनो के विकास की दिशाएँ परिवर्तित हो गई। प्रगतिवादी काव्य धारा मूलत मार्क्सवाद पर आधारित होकर एक प्रकार का राजनीतिक नारा बन गई और प्रयोगवाद राजनीति से विमुख होकर जीवन के यथार्थ मूल्यो का अन्वेषण और अकन करने म लग गया। डा नगेन्द्र ने इन दोनो काव्य धाराओ का पार्थक्य प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि शताब्दी के तीसरे दशक के अन्त म हिन्दी के कवियो म छायावाद के भाव-तत्त्व और रूप आकार दोनो के प्रति एक प्रकार का असन्तोष सा उत्पन्न हो गया था और धीरे धीरे यह धारणा दृढ होती जा रही थी कि छायावाद की वायवी भाव वस्तु और उसी के अनुरूप अत्यन्त बारीक तथा सीमित काव्य सामग्री एव शैली शिल्प आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति करने म सफल नही हो सकते। निसगत उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई—भाव वस्तु म छायावाद की सरल अमूर्त अनुभूतियो के स्थान पर एक ओर व्यावहारिक सामाजिक जीवन की मूर्त अनुभूतियो की माग हुई दूसरी ओर सुनिश्चित बौद्धिक धारणाओ का जोर बढा और शैली शिल्प म छायावाद की वायवी और अत्यन्त सूक्ष्म-कोमल काव्य सामग्री के स्थान पर विस्तृत जीवन की मूर्त सघन और नाना रूपिणी काव्य-सामग्री को आग्रह के साथ ग्रहण किया गया। आरम्भ म इस प्रतिक्रिया का एक समवेत रूप ही दिखाई देता था। कुछ ही वर्षों म इन कवियो के दो वर्ग पृथक हो गये—एक वर्ग सचेत होकर निश्चित सामाजिक राजनीतिक प्रयोजन से साम्यवादी जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति को अपना परम कवि कर्त्तव्य मानकर रचना करने लगा। दूसरे वर्ग ने सामाजिक राजनीतिक जीवन के प्रति जागरूक रहते हुए भी अपना साहित्यिक व्यक्तित्त्व बनाये रखा। उसने किसी राजनीतिक वाद की दासता स्वीकार नही की, वरन् काव्य की वस्तु और शैली शिल्प को नवीन प्रयोगों द्वारा आज के अनेक रूप अस्थिर चिर प्रयोगशील जीवन के उपयुक्त बनाने की ओर ध्यान दिया।' यद्यपि प्रगतिवाद के साथ साथ प्रयोगवाद भी पनपता रहा, किन्तु इसका स्पष्ट रूप सन् १९४३ ई० में 'अज्ञेय' द्वारा सम्पादित

तारसप्तक' के प्रकाशन के पश्चात् दिखाई दिया। इस कृति में गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजा कुमार माथुर, रामविलास शर्मा और अज्ञेय' इन सात कवियों की कविताएँ सकलित की गई थीं। इस संकलन के साथ ही हिन्दी-साहित्य में प्रयोगवाद अपना सुस्पष्ट और पृथक् अस्तित्व बनाकर चलने लगा। इस संकलन के लगभग १२ वर्ष पश्चात् दूसरा सप्तक' प्रकाशित हुआ जिसमें भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेरबहादुर सिंह, नरेशकुमार मेहता, रघुवीरसहाय और धर्मवीर भारती की कविताओं को संग्रहीत किया गया। वस्तुत यह संकलन प्रयोगवाद के विकास का सूचक है। इन संकलनों के अतिरिक्त प्रतीक', कल्पना, आलोचना, नयी कविता आदि पत्रिकाओं ने भी प्रयोगवाद के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

नामकरण

जिस प्रकार छायावाद के नामकरण का कारण उस वाद का विरोध और उसके प्रति उपेक्षाभाव था उसी प्रकार विरोध और उपेक्षाभाव प्रयोगवाद के भी नामकरण का कारण बना। इस काव्यधारा के प्रवर्तक अज्ञेय' ने इस धारा का अपनी ओर से कोई नाम नहीं दिया था किन्तु उनके द्वारा लिखी गई तार-सप्तक की भूमिका में अनेक बार प्रयोग शब्द का व्यवहार होने पर और प्रयोग' शब्द की व्याख्या किये जाने पर आलोचकों ने इस काव्यधारा को प्रयोगवाद का नाम दे दिया। अज्ञेय' ने इस नाम का विरोध करते हुए कहा कि 'प्रयोग तो सभी काल के कवियों ने किये हैं इसलिए हम प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना कवितावादी कहना। उनके इस विरोध की आलोचना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और जब इस नाम का प्रचलन हो ही गया तो प्रयोगवाद के समर्थकों ने इस संज्ञा को उसी प्रकार सार्थक बनाने का प्रयास किया जिस प्रकार न्याय वाले कवियों ने किया था। डॉ लक्ष्मीकान्त वर्मा ने इस नाम की सार्थकता का विवेचन करते हुए लिखा है— इसकी प्रकृति में यह तथ्य निहित है कि किसी भी वस्तु की मान्य (Accepted Nature) को पुन प्रयोग द्वारा पुन अनुभव किया जा सकता है और नई उपलब्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। प्रयोग की प्रक्रिया द्वारा मान्य एवं निर्धारित तथ्यों के अतिरिक्त नये तथ्य भी प्राप्त किये जा सकते हैं। साथ ही प्रयोग यह मानकर किया जाता है कि प्रयोगकर्त्ता की उपलब्धियाँ सदा सत्य ही न हों किन्तु महत्त्वपूर्ण हो सकती हैं। इसलिए प्रायः प्रयोग का महत्त्व है और प्रयोगकर्ता की स्थापनाओं का उपयोग है। दूसरे शब्दों में प्रयोग का उद्देश्य है मान्य सत्य का परीक्षण और फिर परीक्षण द्वारा सत्य के

नये आयामा का अन्वेषण।' 'अज्ञेय' ने प्रयोगवादी कवियो को 'राहो के अन्वेषी' बताया है।

हिन्दी के अनेक आलोचको का यह अभिमत है कि प्रयोगवाद एकदम विदेशी अन्धानुकरण है। इस अभिमत को सहज ही झुठलाया भी नही जा सकता, क्योकि अनेक पाश्चात्य कवियो तथा विचारको के प्रभाव इस धारा के कवियो पर सुस्पष्ट हैं। इस धारा के प्रवर्तक अज्ञेय ने तो अगरेजी की अनेक कविताओं के अनुवाद करके अपने संकलनो मे उन्हे स्थान भी दिया है और इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार भी किया है। कवियो के अतिरिक्त, 'अनुज' ने पाश्चात्य विचारकों मे फ्रायड, मार्क्स और डार्विन का विशेष प्रभाव प्रयोगवादी कविता पर माना है। अत प्रयोगवाद को पश्चिम का अन्धानुकरण तो नही कहा जा सकता परन्तु इसे पाश्चात्य विचारधाराओ से विशेष रूप से प्रभावित अवश्य माना जा सकता है। 'दिनकर' के शब्दों मे—'हिन्दी मे जो कुछ हो रहा है उसे इलियट आदि अंग्रेजी कवियो का अन्धानुकरण नही कहना चाहिए। मेरा अनुमान है कि जिन अवस्थाओ ने इगलैंड मे नये कवियो को उत्पन्न किया उनसे मिलती जुलती अवस्थाएँ अपने यहाँ के बुद्धिजीवियों को भी अनुभूत होने लगी हैं। इसलिए उनमे और यूरोपीय कवियो मे थोडा-बहुत साम्य दिखाई दे रहा है।'

प्रयोगवादी कवियो ने केवल भावगत प्रयोग ही नही किये, वरन् शैलीगत प्रयोग भी किये हैं। इन्होंने जितना परिश्रम भावो को नवीनता तथा प्रभविष्णुता देने का किया है उतना ही प्रयास तदनुकूल शैली विधान या अभिव्यक्ति पक्ष को सुधारने और सबल बनाने मे भी किया है। अत प्रयोगवाद की प्रवृत्तियो को दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—भावगत प्रवृत्तियाँ और शिल्पगत प्रवृत्तियाँ। भावगत प्रमुख प्रवृत्तियाँ ये हैं—

१ बौद्धिकता की प्रधानता
२ समसामयिक चेतना
३ अहं की अभिव्यक्ति
४ वासना की उन्मुक्त अभिव्यक्ति

बौद्धिकता की प्रधानता

प्रयोगवादी कवि काव्य को भावो का नही वरन् बुद्धि का परिणाम मानता है इसीलिए उसके काव्य मे भावुकता कम और बौद्धिकता अधिक मिलती है। प्रयोगवादी कवि जिस ओर भी देखता है उसका पुष्ट बौद्धिकता

मन्य उसके साथ लगी रहती है। अतः उसके लिए भावनामय सौन्दर्य का कोई महत्व नहीं रह जाता। उसकी बुद्धि ने जिस सौन्दर्य को स्वीकार किया, उसके लिए वही सौन्दर्य है। इसलिए वह परम्परागत सौन्दर्य भावना का तिरस्कार करता है। उसे चाँदनी वंचना प्रतीत होती है, आकाश का गहन और असीम विस्तार झूठा जान पड़ता है, शिशिर की राका निशा की शान्ति निस्सार दिखाई देती है— अज्ञेय

(हरी घास पर क्षण भर—शिशिर की राका-निशा)
पृ० ४८, ५१

'वंचना है चाँदनी
झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार
शिशिर की राका निशा की शान्ति है निस्सार!
दूर वह सब शान्ति, वह सित भव्यता,
वह शून्य के अवलेप का प्रस्तार
इधर— केवल झलमिलाते
चेतन हरे, इधर कुहास की हलाहल स्निग्ध मुट्ठी में
सिहरते से, पंगु, टुंडे
नग्न, बुच्चे दईमारे पेड़!

इसी प्रकार, प्रयोगवादी कवि उस गन्दे में भी सौन्दर्य देखता है जो अपने मन में गारा मिट्टी में गन्दे मुंह डालकर तीन टाँगों पर खड़ा हुआ है—

'निकटतर धंसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्र सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा नत ग्रीव
धैर्य धन गदहा।'

✓ प्रयोगवादी कवियों के मन में छायावादी अतीन्द्रिय और वायवी सौन्दर्य चेतना के विरुद्ध एक प्रबल विद्रोह की भावना थी। अतः इन कवियों में जो ऐंद्रिय चेतना का विकास हुआ, सौन्दर्य की परिधि में कुरूप अनगढ़ भद्दी आदि वस्तुओं का समावेश हुआ वह इसी भावना की प्रबल परिणति थी। समसामयिक अनगढ़ और भद्दे जीवन ने इस भावना को वास्तविक तथा स्वाभाविक बनाकर और भी अधिक सशक्त बना दिया।

अपनी बौद्धिकता के प्रति प्रयोगवादी कवि सदैव जागरूक रहता है। भावुकता का ज्वार आने के अवसर पाकर भी कवि उन्हें अपनी बौद्धिकता के कगार पाश में बाँध लेता है। प्रयोगवादी काव्य में ऐसी कविताओं का बाहुल्य है। उदाहरण के लिए 'अज्ञेय' की ये पंक्तियाँ दी जा सकती हैं—

'आओ बैठो
क्षण भर तुम्हें निहारूँ।
झिझक न हो कि निरखना
दबी वासना की विकृति है।
चलो उठें अब,
अब तक हम थे बन्धु
सैर को आये—
और रहे बैठे तो
लोग कहेंगे
धुँधले में दुबके दो प्रेमी बैठे हैं।'

यह ऐसा अवसर था, जब कवि अपनी भावुकता के और तज्जन्य मधुर कल्पना के अनेक वितान तान सकता था किन्तु कवि की बौद्धिकता ने भावुकता को उभरने ही नहीं दिया है। प्रयोगवादी कवि बौद्धिकता को कवि के लिए इसी प्रकार अनिवार्य मानता है, जिस प्रकार प्राचीन आचार्य प्रतिभा को मानते थे। 'अज्ञेय' ने बौद्धिकता के महत्व का प्रतिपादन करते हुए लिखा है— जैसे-जैसे हमारी बौद्धिक सहानुभूति गहरी होगी अभिव्यक्ति में व्यंजना आती जायेगी, वह सीधा संवेदन कम होता जायेगा जो किशोर कविता में होता है। जहाँ तक लेखक का सम्बन्ध है, ईमानदारी का मतलब यही है कि वह उस बौद्धिक विकलता को लेकर जिए और उसे अस्वीकार न करे, जो ज्ञान उसे दे जाता है और जो उसकी अनुभूति को सुधार जाती है।'

समसामयिक चेतना

✓प्रयोगवादी कवियों की समसामयिक चेतना अत्यन्त प्रबल है। आज का जीवन इतनी विशृंखलाओं और अस्तव्यस्तताओं से ग्रस्त है कि प्राचीन जीवन मूल्य लड़खड़ाकर एकदम टूट गये हैं। समाज की भौतिक प्रगति ने मानव मन को इतना झिकझोर दिया है कि वह अव्यवस्थित और अशान्त बनकर रह गया है। वह अपनी मानसिक अव्यवस्था से यदा-कदा इतना अधिक आक्रान्त हो जाता है कि अपनी सत्ता को अपने ही अत्यन्त सीमित साधनों में केन्द्रीभूत करके उनमें शान्ति प्राप्त करने का उपक्रम करने लगता है। तभी तो प्रभाकर माचवे अपने अस्तित्व को और अपनी चाय की प्याली को ही सत्य मानकर शेष सभी को असार बताते हैं—

'कब तक मगज मारता बैठूँ, तुम से काण्ट और बोजांके,
तक धुला जाता है बाँके, उधड़ रहे सीने के टाँके,
जीवन धोखा हो तो हो, यह प्यार कभी जोखों से खाली,
यह सब एक विराट व्यंग्य है, मैं हूँ सच औ' चा की प्याली।

जब प्रयोगवादी कवि सामाजिक धरातल पर उतरता है तो उस समाज में अनेक प्रकार की विषमताएँ दिखाई देती हैं। वह देखता है कि कतिपय पूंजीपतियों ने समाज का खून चूसकर निर्जीव और शुष्क बना दिया है। समाज का शोषित वर्ग जीवन की सभी सुविधाओं से वंचित होकर नारकीय यातनाएँ भोग रहा है। वह शोषक वर्ग के प्रति अपना आक्रोश प्रकट करता है। अज्ञेय की निम्नलिखित पंक्तियों में व्यंगमयी भाषा में ऐसा ही आक्रोश है—

> 'डरो मत शोषक भया,
> पी लो,
> मेरा रक्त ताजा है
> मीठा है
> सागर की लहर
> सुन्दर हो
> यह तो ठीक है
> पर यह आश्वासन तो नहीं दे सकती कि किनारे को
> लील नहीं लेगी ?
> डरो मत शोषक भया
> मेरा रक्त ताजा है
> मेरी लहर भी ताजी और शक्तिशाली है।

कभी-कभी यह आक्रोश सत्ताधारियों के प्रति घृणा के कारण क्रान्ति का स्वर बनकर फूट पड़ता है। धर्मवीर भारती सत्ताधारियों को ललकारते हुए कहते हैं—

> 'तुम जो मन्दिर में देवों पर डाल रहे हो फूल,
> और इधर कहते जाते हो जीवन क्या है ? धूल,
> तुम, जिसकी लोलुपता ने ही धूल किया उद्यान
> सुनो तुम्हें ललकार रहा हूँ सुनो घृणा के गान।'

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रयोगवादियों की भी शोषितों के प्रति प्रगतिवादियों की भांति केवल मौखिक और बौद्धिक है। जिस प्रकार प्रगतिवाद के किसी भी कवि ने शोषितों के जीवन को भोगकर अनुभव नहीं किया था उसी प्रकार की अनुभवहीनता इस धारा के कवियों में भी विद्यमान है।

प्रगतिवादी कवियों की अपेक्षा प्रयोगवादी कवियों की सामाजिक चेतना का क्षेत्र अधिक विस्तृत तथा व्यापक है। जहाँ प्रगतिवादी कवि अपने अशेष अवधान को केवल पूंजीवाद और शोषितों पर ही केन्द्रित करके रह जाता है वहां प्रयोगवादी कवि समाज के सम्पूर्ण परिवेश को अपनी कविता का विषय

बनाता है। आधुनिक काल में, समाज भौतिक दृष्टि से उन्नतिशील है। वह निरन्तर औद्योगिक विकास को बढ़ाता जा रहा है। इसी विकास का संकेत गिरिजाकुमार माथुर की इन पंक्तियों में निहित है—

'उगल रही हैं खानें सोना,
अभ्रक, तांबा, जस्त, थोरियम,
टीन, कोयला, लौह, प्लेटिनम,
युरेनियम, अनमोल रसायन,
कोपेक, सिल्क, कपास, अन्न धन,
द्रव्य फोसफेटों से पूरित।'

व्यक्ति समाज की महत्त्वपूर्ण इकाई है अतः प्रयोगवादी कवि ने जहाँ अपने व्यक्तित्व के चिन्तन प्रधान यथार्थ चित्रों को अंकित किया है वहाँ समाज के अन्य व्यक्तियों के मनोभावों को भी चित्रित किया है। आज प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व कितना कलुषित बना हुआ है, इसका बोध धर्मवीर भारती को इन पंक्तियों से सहज ही हो जाता है—

'हम सबके दामन पर है दाग,
हम सबकी आत्माएं झूठ
हम सबके माथे पर शर्म,
हम सबके हाथों टूटी तलवारों की मूठ।

'अज्ञेय' ने भी एक मर्मान्तक व्यंग्य के माध्यम से सामाजिक व्यक्ति के विषैले व्यक्तित्व को अभिव्यक्त किया है। उनकी दृष्टि में आज का व्यक्ति उस विषधर की भाँति है जो न तो सभ्य है न नागरिक आचरण-सभ्यता से परिचित है किन्तु सबको डसना जानता है—

'साँप
तुम सभ्य तो हुए नहीं, न होगे
नगर में बसना
भी तुम्हें नहीं आया
एक बात पूछूँ, उत्तर दोगे ?
फिर कैसे सीखा डसना,
विष कहाँ पाया ?'

इस प्रकार प्रयोगवादी काव्य में समसामयिक चेतना का बहुमुखी चित्रण मिलता है।

अहं की अभिव्यक्ति

प्रयोगवादी कवि पर मनोविज्ञान का गम्भीर प्रभाव है। आज का समाज मानसिक दृष्टि से रुग्ण है, उसके उपचेतन मन में विविध भावों की अनेक ग्रन्थियाँ उलझी हुई हैं। प्रयोगवादी कवि भी इस प्रभाव से अप्रभावित नहीं रहा है, इसलिए उसका व्यक्तित्व अत्यन्त जटिल और उलझा हुआ बन गया है। कभी उसमें आस्था के भाव जगते हैं और कभी अनास्था के। इसलिए उसका काव्य आस्था और अनास्था की द्वन्द्वमयी अभिव्यक्ति है। जब उसमें आस्था के भाव जगते हैं तो वह नवयुग के उदय की आशा में भाव-विभोर हो जाता है। उसमें इतना साहस आ जाता है कि वह एक 'जिन्दा सूर्य' उदित करने की शक्ति स्वयं में अनुभव करने लगता है—

'सघन तिमिर को कुचल कुचलकर
यदि मैं चलता हो जाऊँ तो
मेरे ही कदमों से जिन्दा सूर्य उगेगा।'

वह अपना ही नहीं समूचे विश्व की मंगल-कामना लेकर उल्लसित हो उठता है। अपनी सम्पूर्ण आस्था को सँजोकर वह रवि शक्ति के समक्ष समर्पित हो जाता है। रघुवीर सहाय सूर्य से धरती की मंगल-कामना करते हुए कहते हैं—

आओ, स्वीकार निमन्त्रण यह करो
ताकि, ओ सूर्य, ओ पिता जीवन के
तुम उसे प्यार से वरदान कोई दे जाओ
जिससे भर जाये दूध से पत्नी का आँचल
जिससे इस दिन उसके पुत्रों के लिए मंगल हो

आस्थामय होने के कारण ही कवि पीड़ा और करुणा को निषेधात्मक न मानकर भावात्मक वृत्ति के रूप में ग्रहण करता है। वह कभी तो करुणा को वह दीपक मानता है जिसकी लौ में जलने से शान्ति प्राप्त होती है—

'पर न हिम्मत हार,
प्रज्वलित है प्राण में अब भी व्यथा का दीप
ढाल उसमें शक्ति अपनी
लौ उठा।'

—भारतभूषण अग्रवाल

और कभी वह शक्ति मानता है जो मनुष्य के सम्पूर्ण कालुष्य को जला-कर उसे वह साहस प्रदान करती है जिससे वह समूची सृष्टि पर नियन्त्रण

करके पवत जमी विशाल बाधाओं को भी सहष चुनौती दने म समय बन जाता है—

'कि तु जो लघु दाग पड जाते हमारी आग के
वे बुद्धि के नक्षत्र,
उसके गणित के गत ग्रक हो जाते
कि उनकी नक्ति पर
भूकम्प-गर्भा धरित्री साधीर गुरु व्यक्तित्व
गतधा वा
विरोधी सष्टि से अडता
उभडकर काटता पावत्य बाधाएँ।'

—'मुक्तिबोध'

'अज्ञेय' ने भी स्पष्ट शब्दो म आस्था की शक्ति का स्वीकार किया है। जिस व्यक्ति मे आस्था होनी है वही तो निरन्तर उठने की शक्ति से सम्पन्न होता है सशयहीन होकर अपने कर्त्तव्य पथ पर बढता है और मानव के धरातल से उठकर देव धरातल पर प्रतिष्ठित हो जाता है, स्वय देवता बन जाता है—

'मैं आस्था हूँ
तो मैं निरन्तर उठते रहने की शक्ति हूँ।'

× × ×

'जो मेरा कम है, उसमें मुझे सशय का नाम नहीं
वह मेरी अपनी साँस सा पहचानता है।

× × ×

'आस्था न कापे,
मानव फिर मिट्टी का भी देवता हो जाता है।'

इसके विपरीत, जब कवि म अनास्था का भाव जगता है तो वह जीवन के सभी उच्च मूल्यो को तिलाजलि दे देता है। निराशा कुण्ठा, लघुता, हीनता आदि भावनाएँ उसके अह को उसके व्यक्तित्व को इतना आच्छन्न कर लेती हैं कि जीवन और जगत ही नहीं, वह स्वय भी अपने लिए निमूल्य हो जाता है। वह अनुभव करता है कि जिन भुजाओं की परिधि म वह मेघा को बाँधने का साहस करके चला था वे भुजाएँ टूट गई हैं—

'कि तु मैं—मेरी भुजाएँ टूट गयी हैं
क्योंकि मैंने उनकी परिधि में मेघों को बाँध लेना चाहा था।'

परिणामत व्यक्ति अपने को अत्यन्त क्षुद्र समझने लगता है। उसको यह मन्त्राकान्त रिरियाते कुत्ते में, मीनार शिखर के प्रार्थी मुल्ला में, अहलीन शिशु भिक्षुक से अधिक स्वयं का नहीं समझ पाता—

> 'मैं ही हूँ यह मन्त्राकान्त रिरियाता कुत्ता—
> मैं ही यह मीनार शिखर का प्रार्थी मुल्ला—
> मैं वह दुस्तर तल का अहलीन शिशु भिक्षुक—

ऐसी दशा भावनाओं के आ जाने पर अपने जीवन के प्रति अनास्था का भाव उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही है। इस अवस्था से ग्रस्त होकर अज्ञेय का यह सोचना कि उसका जीवन भंगुर है उस द्वीप के समान जो नदी धारा में नदी की मर्यादा के कारण ही अस्तित्वमय है अनुचित नहीं है। इस अवस्था में स्थिर समर्पण के अतिरिक्त और कोई चारा भी तो नहीं रह जाता—

> 'किन्तु हम हैं द्वीप
> हम धारा नहीं हैं
> स्थिर समर्पण है हमारा।
> द्वीप हैं हम
> यह नहीं है शाप
> यह अपनी नियति है
> यदि कभी ऐसा हो
> यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा कीर्तिनाशा
> घोर काल प्रवाहिनी बन जाय
> तो हमें स्वीकार है यह भी।

धर्मवीर भारती भी निराशा से कुण्ठित होकर स्वयं को रथ के उस टूटे पहिए से भिन्न नहीं समझते जो रथ से बिछुड़कर गतिहीन और परिणाम निरर्थक बन गया है—

> 'मैं रथ का टूटा पहिया हूँ
> लेकिन मुझे फेंको मत
> इतिहासों की सामूहिक गति
> सहसा झूठी पड़ जाने पर
> क्या जाने
> सच्चाई टूटे हुए पहियों का आश्रय ले।'

'ठंडा लोहा' नामक कविता में भी धर्मवीर भारती की ऐसी ही निराशा व्यक्त हुई है जो जीवन से पलायन की सूचक है—

'ऐसा लगता आज कि मेरा सारा जीवन नष्ट,
ऐसा लगता आज कि मेरी सभी साधना भ्रष्ट,
मैंने हरदम घोटा अपने सपनों का दम।

जगदीश गुप्त भी अपने अस्तित्व की असारता इन शब्दों मे व्यक्त करते हैं—

लगता है सारा अस्तित्व किसी जूठ पर
टिका हुआ, जाता है आपही बिखर बिखर।'

इसी प्रकार की भावनाएँ प्रयोगवाद के सभी कवियों द्वारा व्यक्त की गई हैं। प्रयोगवाद का समर्थक कवि या आलोचक इन भावों की अभिव्यक्तियों को मानव जीवन की सत्य संवेदनाएँ मानकर इन्हें यथार्थ के अन्तर्गत परिगणित कर सकता है।

वासना की उन्मुक्त अभिव्यक्ति

प्रयोगवादी कवि वासना को जीवन की हेय नहीं वरन् प्राकृतिक प्रवृत्ति मानता है, इसीलिए वह अपने काव्य में इसकी उन्मुक्त अभिव्यक्ति करता है। उदाहरण के लिए धर्मवीर भारती की ये पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

'मैंने कसकर तुम्हें जकड़ लिया है
और जकड़ती जा रही हूँ
और निकट, और निकट

× × ×

और तुम्हारे कन्धों पर, बाहों पर, होठों पर
नागवधू की शुभ्र दन्त पंक्तियों के नीले-नीले चिन्ह
उभर आये हैं।'

इन पंक्तियों में सम्भोग शृंगार का वर्णन है। इस वर्णन में किसी प्रकार का आवरण नहीं है वरन् वक्तव्य को निस्संकोच रूप से प्रस्तुत कर दिया है।

यद्यपि अधिकांश प्रयोगवादी कवियों ने वासना के ऐसे ही उन्मुक्त वर्णन किये हैं तथापि कुछ कवियों ने ऐसे वर्णनों को संकेतात्मक बनाकर अधिक संयत और ग्राह्य बना दिया है। उदाहरणार्थ गिरिजाकुमार माथुर की ये पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

'आज अचानक सूनी-सी सन्ध्या में
जब मैं यों हीं मैले कपड़े देख रहा था
किसी काम में जी बहलाने
एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट में लिपटा

गिरा रेशमी चूड़ी का छोटा-सा टुकड़ा
उन गोरी कलाइयों में जो तुम पहिने थीं
रग भरी उस मिलन रात में।

कहने का भाव यह है कि प्रयोगवादी कवियों ने भाव-क्षेत्र में अनेक प्रयोग किये हैं अनेक नयी प्रवृत्तियों को जन्म दिया है। इन प्रयोगों में उनको सफलता और असफलता दोनों ही सहज रूप से परिलक्षित होती हैं।

अभिव्यक्ति पक्ष की नवीनता तथा शक्ति प्रदान करने के लिए भी प्रयोगवादियों ने विविध प्रयोग किये हैं। इन प्रयोगों को इन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

१ उपमान विधान
२ प्रतीक विधान
३ बिम्ब विधान
४ छन्द विधान

उपमान विधान

उपमान विधान के द्वारा वक्तव्य को अधिक भाव प्रवण बनाकर व्यक्त करने की परम्परा प्राचीनकाल से ही चली आ रही है। कवि प्रस्तुत को प्रभावशाली बनाने के लिए किसी अप्रस्तुत की कल्पना करता है जिसका गुण धर्म रूप क्रिया आदि में प्रस्तुत से साम्य होता है या साम्य आरोपित कर लिया जाता है। उपमान के दो भेद होते हैं—मूर्त उपमान और अमूर्त उपमान।

प्राचीन परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह और नवीनता के प्रति दुराग्रह प्रयोगवाद की मूल प्रवृत्ति है। यही प्रवृत्ति इस धारा के कवियों के उपमान विधान में भी परिलक्षित होती है। अज्ञेय ने तो स्पष्ट कहा है कि प्राचीन उपमान अत्यधिक प्रयोग के कारण अर्थशून्य हो गये हैं अब उनमें भावोत्कर्ष की शक्ति नहीं रह गई है—

'अगर मैं तुमको
ललाती सांझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता
या शरद के भोर की नीहार—न्हायी कुँई,
टटकी कली चम्पे की
वगैरह तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है

या कि मेरा प्यार मला है।
बल्कि केवल यही
ये उपमान मलें हो गये हैं।
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच।
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।

यही कारण है, प्रयोगवादी कवियों ने अधिकांश नवीन उपमानों का सृजन किया है। यथा—

'हम नदी के द्वीप हैं
हम नहीं कहते कि हमको छोड़कर स्रोतस्विनी बह जाय
वह हमें *आकार देती है।'*

—'अज्ञेय'

इन पंक्तियों में द्वीप' और स्रोतस्विनी दो नवीन उपमानों का प्रयोग नवीन अर्थों में हुआ है। द्वीप' से तात्पर्य ऐसे जीवन से है जो एक प्रकार की निरीहता से घिरा हुआ है। स्रोतस्विनी' उध्व चेतना है जो जीवन को जीवन देने वाली है। इसी प्रकार—

'तेरी थीं वे आँखें, आर्द्र, दीप्तियुक्त
मानो किसी दूरतम
तारे की चमक हो।'

यहाँ पर नेत्रों को 'तारे' से उपमित किया गया है जो सर्वथा नवीन है।

भवानीप्रसाद मिश्र ने टूटे मनोरथ को टूटे पत्ते से उपमित किया है। यह *प्रयोग भी नवीन है—*

'टूट चुका है
अब यह मनोरथ
किसी डाल के पत्ते सा।'

गजानन माधव 'मुक्तिबोध' ने निम्नलिखित पंक्तियों में सूर्योदय की लालिमा को रुधिर सरिता से चान्दनी को स्वत धौली पट्टियों से और आकाश में उगे सितारों को दशमलव बिन्दुओं से उपमित करके नवीन उपमानों का भावपूर्ण प्रयोग किया है—

'रवि निकलता
लाल चिन्ता की रुधिर सरिता
प्रवाहित कर दीवारों पर
उदित होता चन्द्र

प्राचीन परम्पराओं का प्रतीक है।

> 'दुख तुम्हें भी है,
> दुख मुझे भी।
> हम एक ढहे हुए मकान के नीचे
> दबे हैं।

मुक्तिबोध का इन पंक्तियों में ढहा हुआ मकान उस समाप्त होनी शासन-सत्ता का है जो अपने अपार अत्याचारों से जनता का दमन करने के लिए कटिबद्ध है।

रूप विभ्रमा चाँदनी' नामक कविता में गिरिजाकुमार माथुर ने चाँदनी को 'आधुनिका' के अर्थ में प्रयुक्त किया है —

> स्लीवलस ब्लाउज पहने
> छरहरी चाँदनी
> पेड़ों की चमकदार जालियों तले
> बेफिक्र मस्ती से
> हल्के कदम रख चलती

अतः स्पष्ट है कि प्रयोगवादी कवियों ने नये प्रतीकों का बहुलता में आविष्कार किया है।

बिम्ब विधान

सम्प्रेषणीयता काव्य का मुख्य प्रयोजन होता है। जिस काव्य में सम्प्रेषणीयता जितनी अधिक होगी वह उतनी ही उच्चकोटि का माना जायगा। बिम्ब विधान काव्य की सम्प्रेषणीयता को सुलभ रूप में ग्राह्य बनाता है। कवि शब्दों के माध्यम से अपने वर्ण्य का इस प्रकार वर्णन करता है कि पाठक या श्रोता के सामने उसका चित्र-सा प्रस्तुत हो जाता है और तब वह वर्ण्य को सहज रूप से ग्रहण करने में ही समर्थ नहीं होता, वरन उस भावानुभूति या रसानुभूति को अनुभव करने में भी सुविधा हो जाती है। इसलिए प्राचीन काल से ही कवि अपने काव्यों में विविध प्रकार के बिम्बों का विधान करते आये हैं। अँगरेजी के सुप्रसिद्ध कवि विलियम वर्ड्सवर्थ की तो मान्यता है कि एक भी कवि बिम्ब-विधान किये बिना रह ही नहीं सकता, क्योंकि समस्त काव्य ही मानव प्रकृति का कलात्मक बिम्ब है।

प्रयोगवादी कवियों ने भाषा के जिस रूप को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है उसमें बिम्बों का विधान स्वाभाविक और अनिवार्य है। यही कारण है इस काव्यधारा के कवियों की भाषा में बिम्बों के विविध रूप प्रचुरता से

मिलते हैं। 'अज्ञेय' का कविताश है —

उड गई चिडिया
कॉपी फिर
थिर होगई पत्ती।'

इन पक्तियो मे किसी शाखा से उडने वाली एक चिड़िया का वणन है। चिडिया के उडते समय वह शाखा हिलने लगती है और कुछ देर बाद फिर स्थिर होजाती है। बिम्ब विधान के द्वारा कवि ने इस दृश्य का चित्र सा प्रस्तुत कर दिया है। इसीलिए इसमे निहित सम्प्रेषणीयता सहज सुलभ हो जाती है। इसी प्रकार—

'तालों के जाल
घने, कहीं लदे छदे
कहीं ठूँठ तने, केलों के कुज
बने, सीसम की मेंड बँधे।'

इन पक्तियो म प्रकृति का बिम्बात्मक चित्रण है। वक्षो के विविध नामो से अज्ञेय' ने प्रकृति का दृश्य ही उपस्थित कर दिया है।

सो रहा है झोंप अँधियाला
नदी की जांघ पर
डाह से सिहरी हुई यह चादनी
चोर पैरों से उझक कर
झांक जाती है।'

इन पक्तियों मे 'अज्ञेय' ने प्रकृति के माध्यम से जो मौन बिम्ब प्रस्तुत किया है उससे नायिका की गोद मे सोये हुए नायक का और सौत का ईर्ष्या भाव एकदम सजीव हो उठा है।

अज्ञेय' की भांति गजानन माधव 'मुक्तिबोध' भी भावानुकूल बिम्ब प्रस्तुत करने मे अत्यत कुशल हैं। 'ब्रह्मराक्षस' नामक कविता मे इन्होने बावडी का जो चित्र अकित किया है, वह उसकी शून्यता और भयकरता को साकार बना देता है—

'बावडी को घेर
डालें खूब उलझी हैं,
खडे हैं मौन औदुम्बर।
व शाखों पर
लटकते घुग्घुओं के घोंसले
परित्यक्त, भूरे, गोल।'

डालों का उलझना, गूलरों की ग्लानि और उन्नर्यों व नटकने हुए धागत वातावरण की भयानकता को साकार बनाकर पाठक व हृदय का भयाक्रान्त करन म समर्थ हैं। इसी प्रकार बावड़ी का यह दूसरा बिम्ब भी उसकी शून्यता और भयानकता का दृश्य बना देता है —

'बावडी की इन मुँडेरों पर
मनोहर हरी कुहनी टेक
बठी है टगर
ले पुष्प तारे श्वेत
लाल फूलों का लहकता भौंर
मेरी यह कन्हेर ..
वह बुलाती एक खतर की तरफ जिस ओर
अँधियारा खुला मुह बावडी का
शून्य अम्बर ताकता है।'

गिरजाकुमार माथुर द्वारा प्रस्तुत चाँदनी के माध्यम से, मुग्धा नायिका का यह चित्र भी अत्यन्त सटीक है —

'अठखेलियाँ करती अदाव से—
साथ चलती सिलहुट की
उँगलियों में
गूँथ निजी उँगलियाँ
हाथों को झुलाती
रुकती, मुसकाती
नीचे कुछ देर देख
फिर तिरछी नजरों में
पुतलियाँ उठाती। —

अत कहा जा सकता है कि प्रयोगवादी काव्य म बिम्बों का बहुमुखी विधान हुआ है और यह विधान काव्यानुभूति को सम्प्रेषणीय तथा सप्रभावी बनाने म पूर्णतया सफल है।

छन्द विधान

छन्द ही वह विभेदक तत्त्व है जो गद्य और पद्य का पार्थक्य करता है। साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने, इसीलिए छन्दबद्ध पद को पद्य या काव्य माना है—

'छन्दोबद्ध पद पद्यम।'

अति प्राचीन काल से ही काव्य के लिए छन्द का महत्त्व सर्वमान्य रहा है।

छान्दोग्योपनिषद् मे छन्द की महत्ता इन शब्दो म स्वीकार की गई है—

देवा वै मत्योर्बिम्यतस्त्रयी विद्या प्राविशन् । ते छन्दोभिरात्मानमाच्छादमन् । यदेर्भिराच्छादयस्तच्छदसी छन्दस्त्वम् ।'

अर्थात देवा ने मत्यु के भय से अपने को (अपनी रचनाओ को) छन्दो के द्वारा ढक लिया । इस आच्छादन के कारण ही ये छन्द कहलाय ।

इस वक्तव्य से सुस्पष्ट है कि छन्द के काव्य को केवल सजीव और सरस ही नही बनाते, वरन उसे सहज स्मतिगम्य बनाकर अमरता भी प्रदान करते हैं । श्रुति-परम्परा के कारण सहस्रा वर्षों तक जीवित रहने वाला वदिक साहित्य इस कथन का सबसे अधिक प्रबल प्रमाण है । श्री घाटे ने यही मन्तव्य व्यक्त किया है —

'The credit of preserving without serious corruption the Vedic texts may be largely due to the fact that they are in fixed metrical form '

अर्थात वेदो के रूप के विकृत न होने तथा दीघजीवा होने का श्रेय उनकी छन्दोबद्धता को ही है ।

सस्कृत और हिन्दी के कवियो ने अपने काव्यो को छन्दो से बद्ध करके इस अति प्राचीन परम्परा का पालन किया है । हिन्दी के छायावादी-युग तक यह परम्परा अक्षुण्ण बनी रहती है किन्तु अठारहवी शताब्दी के लगभग पाश्चात्य साहित्य म छन्द की अनिवार्यता को लेकर एक प्रबल वाद खडा हो गया जिसमे अनेक पाश्चात्य आचार्यों तथा कविया ने यह स्वीकार किया कि छन्द काव्य के लिए अनिवाय नही । इनके अनुसार सवश्रेष्ठ काव्य की रचना बिना छन्दो के भी हो सकती है । इस वग के समथको के छन्द के विरुद्ध मूल आक्षेपा का साराश यह है—

१ कवि की विचार प्रक्रिया छन्द विहीन होती है अर्थात् वह छन्दोबद्ध भाषा म नही सोचता फिर उसकी अभिव्यक्ति छन्दों म क्यो की जाये । छन्द-विहीन विचारो को छन्द के बन्धन मे बाँधकर व्यक्त करना उनकी स्वाभाविकता को नष्ट करना है ।

२ कवि के मन मे सभी विचार एक मात्रा में नही होते । कुछ विचार उसके हृदय पर स्थायी और गम्भीर प्रभाव डालते हैं और कुछ केवल झलक दिखाकर तिरोहित हो जाते हैं । जब सभी विचार समान मात्रा या आयाम के नहा होते तो उनका लिखित रूप छन्दो म बाँधकर समान क्यो बनाया जाये ।

इससे कला की स्वाभाविकता नष्ट होती है और उसकी हृदयस्पर्शिनी शक्ति को क्षति पहुंचती है।

३ छन्द कलाकार की सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति में बाधक होते हैं, क्योंकि कलाकार अपने हृदय के भावों का सहज अभिव्यक्ति तभी कर सकता है जब उसका ध्यान केवल भावाभिव्यक्ति पर केन्द्रित हो। यदि उसका ध्यान छन्द-योजना पर भी आधारित होगा तो निश्चय ही उसकी भावाभिव्यक्ति को ठेस पहुंचेगा।

४ छन्द पूर्ति के लिए कवि को या तो भावों को तोड़ना मरोड़ना पड़ता है या अनेक अनावश्यक शब्दों की भरमार करना पड़ती है इससे भाव और भाषा दोनों का रूप विकृत हो जाता है।

५ यदि छन्द को काव्य का अनिवार्य तत्त्व मान भी लिया जाय तो पुराने छन्द इतने घिस पिट गए हैं कि उनमें न तो कोई आकर्षण ही रह पाया है और न भावात्मक की शक्ति ही।

यद्यपि इन आक्षेपों की अपनी सीमाएँ हैं किन्तु इस प्रवृत्ति का प्रभाव हिन्दी के प्रगतिवादी कवियों पर पड़ा। इन्होंने छन्द को कविता का बंधन मानकर इससे कविता को मुक्त करने का संकल्प किया। कविवर निराला ने इस विषय में अपना मन्तव्य व्यक्त करते हुए लिखा है—मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बन्धनों से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग होना मुक्त छन्द में, बाह्य समता के प्रति कवियों में जो अतुल आग्रह होता है, वह समाप्त हो जाता है केवल मुक्त छन्द में आन्तरिक साम्य होता है जो उसके प्रवाह में सुरक्षित रहता है। परवर्ती कवियों ने तो एक प्रकार से छन्दों का पूर्ण बहिष्कार कर दिया। यही प्रवृत्ति प्रयोगवादी कवियों में स्पष्टतया परिलक्षित होती है।

लय छन्द की आत्मा है। छायावादोत्तर हिन्दी के कवियों ने छन्दों का तो खुलकर विरोध किया किन्तु लय के महत्व को ये भी अस्वीकार नहीं कर सके। 'अज्ञेय' ने सुस्पष्ट शब्दों में लय के महत्व का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—कविता का सर्वांग सौन्दर्य मात्रा वर्ण गुरु-लघु के बन्धनों में गढ़े हुए छन्दों की नींव पर नहीं वरन लय की बुनियाद पर टिक पाता है। कविता की बुनियादी माँग लय है। इससे स्पष्ट है कि प्रयोगवादी कवि परम्परागत छन्दों के महत्व को उस प्रकार स्वीकार नहीं करता, जिस प्रकार प्राचीन कवि करते आये हैं किन्तु उसके काव्य को देखकर यह भी नहीं कहा

जा सकता कि उसने प्राचीन छ दो को पूणतया बहिष्कार कर दिया है। फलत उसके काव्य मे छ द विधान के चार रूप स्पष्ट हैं—

१ प्राचीन परम्परागत छ दो का प्रयाग।
२ परम्परागत छदो मे किंचित परिवतन किए हुए छ दो का प्रयाग।
३ मिश्रित छ दा का प्रयोग।
४ नवीन छ दा का प्रयोग।

अज्ञेय के काव्य मे परम्परागत छ दों का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक और विशुद्ध रूप म मिलता है। यथा—

> रात आती है मुझे क्या, मैं नयन मू दे हुए हू ।
> आज अपने हृदय में मैं, अ शुमाली को लिए हू ॥
> दूर के उस शू य नभ में, सजल तारे छलछलाए।
> वज्र हू मैं ज्वलित हूँ, बेटोक हू प्रस्थान में हू ॥

इस छ द म १४ वर्णों के पश्चात यति विधान है और अन्त मे एक लघु तथा दो गुरु वण हैं। अत यहाँ पर विद्या छन्द है। और—

> 'भोर बेला नदी तट की घंटियों का नाद।
> चोट खाकर जग उठा, सोया हुआ अवसाद॥
> नहीं मुझको नहीं अपने, दप का अभिमान।
> मानता हू मैं पराजय, है तुम्हारी याद॥'

इस छ द मे १४ और १० वर्णों के पश्चात् यति और अन्त मे गुरु-लघु है। अत रूपमाला छ द है।

प्रयोगवादी कवि छ द प्रयोग मे सुदढ़ होकर परम्परा का पालन नहीं करते, अत इनके काव्य मे परिवर्तित या मिश्रित छ दो के प्रयोग मिलना स्वाभाविक हा हैं। इन दोनो रूपों के उदाहरण 'अज्ञेय' के काव्य से उद्धत है—

> 'ककड से तू छील छील, कर आहत करदे।
> बाँध गले में डोर कूप, के जल में धरदे॥
> गीला कपडा रख मेरा, मुख आवृत्त करदे।
> घर के किसी अधेरे कोने में तू धरदे॥'

इन पक्तियो म यति स्थाना मे परिवतन करके लीला छ द को प्रस्तुत किया गया है। लीला छन्द मे ७ ७ १० पर यति और अन्त में सगण

(लघु-लघु गुरु) होता है। कवि ने यति के स्थानों में परिवर्तन करके १४, १० पर यति का प्रयोग किया है।

> तुम जो भाई को अछूत कह, वस्त्र बचाकर भाग।
> हम जो बहिनें छोड़ बिलखती बढ़े आ रहे भाग॥
> रुक कर उत्तर दो मेरा है अन्तर्निहित आह्वान।
> सुनो तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान॥

इस छन्द में सार और सरसी के छन्दों का मिश्रित रूप है।

प्रयोगवादी काव्य में अधिकांशतया मुक्त छन्दों का प्रयोग हुआ है। ये छन्द वर्णों या मात्राओं पर आधारित न होकर लय पर आधृत हैं। इनमें भावानुसारिणी लय काव्य को अधिक सम्प्रेषणीय बनाने में सहायक होती है। यथा—

> 'मौलिक अभियान तुम्हारा यह, युग के दमठ!
> डगमग डगमग अहि कोल-कमठ
> नप गए तुम्हारे तीन डगों में नभ जल-थल
> नयनों में आग्नेय प्रकाश प्रबल
> जल गया निशा का अहंकार
> तम तार-तार।'

इन पंक्तियों में कविवर 'सुमन' ने युग-पुरुष गाँधी की महत्ता का वर्णन किया है। गाँधीजी का अभियान व्यापक था। उसकी व्यापकता इस पंक्ति की लम्बाई से ध्वनित होती है— मौलिक अभियान तुम्हारा यह युग से कमठ! जब भी इस प्रकृति पर कोई असाधारण घटना घटित होती है तो पृथ्वी को धारण करने वाले शेषनाग आदि विचलित हो उठते हैं। डगमग-डगमग अहि कोल-कमठ में डगमग शब्द की आवृत्ति उनकी व्याकुलता असहायता विचलित दशा आदि को साकार कर देती है। वामनावतार ने सहज रूप में ही अपने तीन पगों में तीनों लोकों को नाप लिया था। 'नप गए' शब्दों के लघु स्वर इसी सहजता को प्रतिध्वनित करते हैं। 'जल गया निशा का अहंकार' में वर्णों में दीर्घध्वनि निशा के अहंकार की व्यापकता गम्भीरता और भयानकता आदि भावों की सूचक है। 'तम तार-तार' में तार शब्द की आवृत्ति नितान्त ध्वस्त दशा को सूचित करने वाली है। इस प्रकार कवि ने लय के द्वारा अपने वक्तव्य को अधिक संवेदनीय बनाकर प्रस्तुत करने में सफल हुआ है। इसी प्रकार—

> 'और सचमुच इन्हें जब जब देखता हूँ
> यह खुला वीरान संसृति का घना हो सिमट आता है—
> और मैं एकान्त होता हूँ
> समर्पित।

इन पंक्तियों में भी भावानुसारिणी लयात्मकता है। 'जब जब देखता हूँ' में 'जब' शब्द की आवृत्ति कवि के मन की आकुलता तथा प्रिया के दर्शन से उत्पन्न गम्भीर प्रभावात्मकता को व्यंजित करती है। 'यह खुला वीरान संसृति का घना हो सिमट आता है' इस पंक्ति की लम्बाई संसृति के गहन गम्भीर तथा अत्यन्त विस्तृत सूनेपन को साकार बना देती है। 'समर्पित' की लघु ध्वनियाँ व्यक्त करती हैं जैसे इसके द्वारा कवि के मन का सारा संघर्ष तिरोहित हो गया है ठीक उसी प्रकार जैसे कोई वस्तु किसी अलौकिक चमत्कार से देखते-देखते ही अन्तर्धान हो जाती है।

'वे गरजतीं, गूँजतीं, आन्दोलिता
गहराइयों से उठ रहीं ध्वनियाँ, अतः
उद्भ्रान्त शब्दों के नये आवर्त में'

'मुक्तिबोध' की इन पंक्तियों में बावडी से उठती हुई ध्वनियों की गम्भीरता 'गरजती, गूँजती, आन्दोलिता' शब्दों की ध्वनियों से मूर्तिमयी हो गई हैं।

कहने का भाव यह है कि प्रयोगवादी कवियों ने भावानुसारिणी लयात्मकता के द्वारा अपने भावों का उत्कर्ष करके उन्हें सहज संवेदनीय और सम्प्रेषणीय बनाने में सफलता प्राप्त की है। इस काव्यधारा में प्रयुक्त छन्द विधान का विवेचन करते हुए डॉ० नामवरसिंह ने लिखा है—'छायावाद युग में जो मुक्त छन्द वैकल्पिक था, वह प्रयोगवादी कविता का मुख्य स्वर हो गया। मुक्त छन्द को ही विशेष रूप से अपनाने के कारण प्रयोगवादियों ने इसमें नये नये स्वरों और नयी-नयी लयों के प्रयोग किये। छायावाद में प्रायः रोला और घनाक्षरी की लय पर ही मुक्तछन्द लिखे गये, लेकिन प्रयोगवाद में सवैया तथा अन्य प्राचीन छन्दों की लय का मुक्त ढंग से उपयोग किया गया।'

दुरूहता

प्रयोगवादी कवियों का मुख्य प्रयोजन काव्यगत परम्पराओं का तिरस्कार करके उनके स्थान पर नये भावों को और अभिव्यक्ति की नयी शैलियों को जन्म देना है। इसीलिए प्रगतिवादी काव्य में दुरूहता का आ जाना स्वाभाविक ही है। इस दुरूहता के तीन कारण मुख्य हैं—

१ फ्री एसोसियेशन(Free Association) की प्रक्रिया तथा स्वप्न प्रतीक, जो स्पष्टतया फ्रायड मनोविज्ञान पर आधारित हैं।

२ संकेतमयी भाषा तथा रागात्मक मौर्कापय (Emotional Sequence) इन्हें फ्रान्स के प्रतीकवादियों ने प्रारम्भ में अपनाया था।

३ नवीनता का अतिशय दुराग्रह।

प्रयोगवादी कवि व्यक्तिवाद को प्रश्रय देता है। उसकी मान्यता है कि व्यक्ति का मस्तिष्क विविध भावजन्य ग्रन्थियों से आबद्ध रहता है। ये ग्रन्थियाँ

इतनी उलझी हुई होती है कि इनका समझ लेना आसान नहीं। प्रयोगवादी कवि जब व्यक्तिवादी यथार्थ के नाम पर इनका चित्रण करता है तो उसकी अभिव्यक्ति में किसी एक भाव की सम्पूर्णता नहीं होती वरन् विविध भावों के सम्बद्ध और असम्बद्ध अनेक खण्ड होते हैं जिन्हें समझ पाना पाठक के लिए अत्यन्त दुष्कर कार्य होता है। स्वप्न प्रतीक इस प्रकार की दुरूहताओं को और भी अधिक बढ़ा देते हैं। यथा—

'—सुन्दर
उठाओ
निज वक्ष
और—कस उभर।
क्यारी
भरी गेंदा की
स्वर्णारक्त
क्यारी भरी गेंदा की
तन पर
खिली सारी
अति सुन्दर।
उठाओ।'

—शमशेर

प्रयोगवादी कवि की धारणा है कि कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक भावों की व्यंजना करना कवि की कुशलता का प्रमाण है। इसलिए वह संकेत-मयी भाषा का प्रयोग करता है और उन संकेतों से अर्थों का ग्रहण करके उनमें सम्बद्धता स्थापित करने की जिम्मेदारी अपने पाठकों पर डाल देता है। कम ही पाठक इस जिम्मेदारी को शायद निभा पाते हैं। उदाहरण के लिए 'अज्ञेय' की ये पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

'ओ आहूत!
ओ प्रत्यक्ष!
अप्रतिम!
ओ स्वयं प्रतिष्ठ!'
× × ×
'रूप—
वासहीन
एक ज्योति
अस्मिताहमता की
ज्वाला
अपराजिता अनावृता।'

नवीनता का अतिशय दुराग्रह भी प्रयोगवादी काव्य को दुर्बोध तथा क्लिष्ट बनाने म पर्याप्त योगदान देता है। प्रयोगवादी कवि की धारणा है कि भावाभिव्यक्ति क प्राचीन उपकरण अब इतने अधिक घिस पिट गये हैं कि उनम भावों को व्यक्त करन की शक्ति ही नही रह गई है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अधिक रगडन स बतन का मुलम्मा छूट जाता है। नवीनता वरेण्य है किन्तु नवीनता क नाम पर पाठक को द्राविड प्राणायाम के लिये विवश कर देना और फिर भी कुछ प्राप्त न होना ग्राह्य नही है। प्रयोगवादी कवियो ने नये-नये और भावोत्कर्षक उपमान देकर हिन्दी-भाषा की शक्ति की वृद्धि की है, इसम सन्देह नहीं परन्तु ऐसे उपमानो का भी अभाव नहीं है जो अपने नवीन रूप या अथ के कारण अत्यन्त दुरुह बन गए हैं। यथा—

> सागर में ऊबडूब करती खाली बोतल
> जाने किसके कंवके (और कहा पर)
> घडी दो घडी सुख की साक्षी'

इन पक्तियो म सागर समाज का और 'खाली बोतल अधिकार विहीन नारी का प्रतीक है। इन प्रतीकार्थों तक सहज पहुचना सम्भव नही है। इसी प्रकार —

> अभी अभी जो
> उजली मछली
> भेद गयी है
> सेतु पर खडे मेरी छाया'

म 'उजली मछली सत्यानुभूति का सेतु' अन्त सघष का और'छाया अहकारयुक्त पूर्वाग्रहो का प्रतीक है। ये प्रतीक नवीन तो हैं किन्तु इनके इन प्रतीकार्थों का बोध होना कठिन श्रम की अपेक्षा रखता है। डॉ० नगेन्द्र ने प्रयोगवाद की सीमाओ का सकेत करते हुए लिखा है— जीवन की भांति काव्य मे भी नवीनता और प्रयोग का बडा महत्व है परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि मूल्यों का सन्तुलन बना रहे। जीवन के मूल तत्वों पर दृष्टि केन्द्रित रखते हुए उन्हीं के पोषण और समृद्धि विकास के निमित्त प्रयोग करता उनको रूढि और स्थविरता से बचाने के लिए नवीन गति विधि का अन्वेषण करना साधक और स्तुत्य है, परन्तु यदि एतादृशत्वमात्र से वर हो जाय और नवीनता की खोज अथवा नय प्रयोग साधन न रहकर साध्य बन जायें, उनको यदि जीवन के मूल तत्वो स अधिक महत्त्व दिया जाने लगे तो वे अपना सार्थकता खो बैठते हैं और प्राय बाधक बन जाते हैं। काव्य के विषय मे भी ठीक यही बात है।

५

नकेनवादी काव्य

प्रयोगवाद के साथ साथ मुख्यतः इसके विरोध में एक काव्यधारा और प्रवाहित हुई थी जिसे नकेनवाद या प्रपद्यवाद का नाम दिया गया है। इस धारा के तीन प्रमुख कवि हैं—नलिन विलोचन शर्मा, केसरीकुमार और नरेश मेहता। इन कवियों के नामों के प्रथम अक्षरों को लेकर इस काव्यधारा का नामकरण किया गया है। प्रारम्भ में इन कवियों ने इस नाम का विरोध किया था किन्तु यह नाम इतना प्रचलित हुआ कि विवश होकर इन कवियों को भी यह नाम स्वीकार कर लेना पड़ा। ये कवि अपनी रचनाओं को प्रपद्य कहते हैं इसीलिए इस काव्यधारा को प्रपद्यवाद भी कहा गया है।

इस काव्यधारा के मूल में 'अज्ञेय' द्वारा प्रवर्तित प्रयोगवाद का विरोध ही रहा है। इन कवियों ने अपने अनेक लेखों में अपनी ही रचनाओं को वास्तविक प्रयोगवादी रचनाएँ बताया है और नलिन विलोचन शर्मा को प्रयोगवाद का प्रवर्तक सिद्ध करने का प्रयास किया है। इनके अनुसार 'अज्ञेय' ने सप्तकों के द्वारा जिस नवीन काव्य प्रवृत्ति का परिचय दिया है वह प्रयोगवादी काव्य न होकर केवल प्रयोगशील काव्य है।

नकेनवादियों का घोषणापत्र

नकेनवादी कवियों ने स्वयं को 'अज्ञेय' द्वारा मान्य प्रयोगवादी कवियों से भिन्न रखने के लिये अपनी काव्य प्रवृत्ति को प्रपद्यवाद का नाम दिया और साथ ही एक घोषणापत्र भी प्रस्तुत किया। इस घोषणापत्र के बारह सूत्र ये हैं—

१ प्रपद्यवाद भाव और व्यंजना का स्थापत्य है।

२ प्रपद्यवाद सर्वतन्त्र है। उसके लिये शास्त्र या दल निर्धारित नियम अनुपयुक्त है।

३ प्रपद्यवाद महान पूर्ववर्तियों की परिपाटियों को भी निष्प्राण मानता है।

४ प्रपद्यवाद दूसरों के अनुकरण की तरह अपना अनुकरण भी वर्जित समझता है।

५ प्रपद्यवाद को मुक्तकाव्य की नही स्वच्छद काव्य की स्थिति अभीष्ट है।

६ प्रयोगशील प्रयोग को साधन मानता है प्रपद्यवादी साध्य।

७ प्रपद्यवाद की दृक्वाक्यपदीय प्रणाली है।

८ प्रपद्यवाद के लिये जीवन और काव्य कच्चे माल की खान हैं।

९ प्रपद्यवादी प्रयुक्त प्रत्येक शब्द और छन्द का स्वय निर्माता है।

१० प्रपद्यवादी दृष्टिकोण का अनुसधान है।

११ प्रपद्यवाद मानता है कि पद्य म उत्कृष्ट केन्द्रण (पद्य के लयात्मक सगीतात्मक उपादानो के फलस्वरूप उसम अतिरिक्त शब्दों के बिना ही रागात्मक घनत्व सनिविष्ट हो जाता है) होना है और यही गद्य और पद्य में अन्तर है।

१२ प्रपद्यवाद मानता है कि चीजो का एकमात्र सही नाम होता है।

—नया हिन्दी-काव्य

प्रयोगवाद और प्रपद्यवाद

पहिले बताया जा चुका है कि प्रपद्यवाद का आविर्भाव प्रयोगवाद का विरोध करने के लिए और प्रपद्यवादी कवियो का स्वय का प्रयागवादी कवियों से भिन्न बताने के लिये किया गया है। प्रपद्यवादियों के अनुसार प्रयोगवाद और प्रपद्यवाद म पार्थक्य प्रतिष्ठित करने वाले तत्त्व ये हैं—

१ 'अनय द्वारा सप्तकों म जिस काव्य का शील निरूपण हुआ है, वह प्रयोगवादी न होकर प्रयागशील है।

२ प्रपद्यवादी के लिये प्रयाग साध्य है 'अनय' उसे साधन मानते हैं।

३ 'प्रयोगशील उलझी सवेदनाओ और साधारणीकरण एव निवेदन के दोआबे म रहने के कारण आपद्धर्मी बना रहता है। समझौते की समस्या, जो उलझन और साधारणीकरण की युगल उपलब्धि के सद्धान्तिक आयास की अर्जित समस्या है उसके लिये बनी रहती है।

४ 'अज्ञेय' इसे स्वीकार नही करते कि 'स्वान्त सुखाय कोई लिख *सकता है।*

५ प्रयाग का साधन मानने के कारण प्रयोगशील कविता मुक्त होगी स्वच्छद नही।

६ अज्ञेय साधारणीकरण कस्मै देवाय आदि प्रश्नों को महत्त्व देते हैं।

य अतीत और परम्परा का कुछ अंश तक स्वीकार करते हैं।

- 'अर्थ' के अनुसार प्रयोग सत्य का साधन है इस सत्य का उप लब्धि ही इनका ध्येय है। क्या अन्य सत्य की—जिसकी खोज म वे प्रयोग र रहे हैं—उपलब्धि (?) के बाद कविता करना छोड देंगे? प्रयोक्ता की ोताखोर से तुलना भी कोई अर्थ नहीं रखता। गोताखोर अपरिचित सागर । परिचित मोती निकालता है जिस पुराने जमाने म कभी गहरा न किनारे रेंका होगा। कवि परिचित वस्तु म अपरिचित भाव-सम्बन्ध लाता है। ोताखोर का मोती पाना बहुत-कुछ भाग्य पर निर्भर है कवि का शक्ति और पराक्रम पर। मोती बहुत-कुछ मुम्बकित है काव्य के भाव मूल्य और यजना के उपादान नहीं।

—नया हिन्दी काव्य

प्रयोगवादियों के काव्य सिद्धान्त

प्रयोगवादियों ने अपनी रचनाओं के लिये कुछ सिद्धान्त भी स्थिर किए हैं जिन्हें इनके काव्य विषयक सिद्धान्त कहा जा सकता है। ये सिद्धान्त निम्न लिखित हैं—

१ प्रयोगों की आवश्यकता शाश्वत है अतः प्रयोग की प्रक्रिया कभी समाप्त नहीं होता।

२ अतीत इनके लिये केवल भार है प्रेरक नहीं।

३ कविता भावों विचारों घटना स्पर्शों चित्र अथवा अलकार आदि से नहीं लिखी जाती। वह केवल शब्दों से लिखी जाती है, जिसके निर्माता वे स्वय हैं।

४ कविता म सत्य ही पुनर्निमाण होता है।

५ कविता को बुद्धि से सम्पृक्त होना आवश्यक है। कारण, बौद्धिकता काव्य का प्राण है।

६ अन्य सवेदनाओं को लेकर भी कवि कवि बना रह सकता है। सत्य सवेदना के तो दो ही सनातन अधिकारी हैं—बालक और गँवार।

७ साधारणीकरण की नई और पुरानी शर्तों की मान्यतायें व्यर्थ अन र्गल हैं। इनके काव्य के लिए एक प्रतिष्ठित पाठक ही ठीक है। कारण काव्य कभी भी जनसाधारण की वस्तु नहीं रहा।

८ इनके काव्य की दुरूहता के कई कारण हैं पर जो अनिवार्य हैं। दुरूहता का वास्तविक उत्तरदायित्व पाठकों अथवा आलोचकों पर है कवि पर नहीं।

६ भाषा के प्रश्न पर उन्ह अज्ञेय के विचार बहुत कुछ मान्य हैं। यद्यपि प्रेषणीयता उन्हे स्वीकार नही। प्रेषण गद्य का गुण है काव्य का नही।

१० उपचेतन की समस्या काव्य की सनातन समस्या है। फ्री एसोसियशन (Free Association) काव्य के लिए अनिवार्य है।

—नया हिन्दी काव्य

कहने की आवश्यकता नही कि इस प्रकार की धारणाओ मे बँधकर काव्य की रचना करने वाले कवि जिस काव्य की रचना करेंगे वह अनिवार्यत विचारों और शब्दों की अस्तव्यस्तता के अतिरिक्त और कुछ न होगा। नवीनता के प्रति ममता विकास का लक्षण है, किन्तु सभी प्राचीन मान्यताओं को अग्राह्य और अनुपयोगी मान लेना केवल दुराग्रह है जो विकास की गति में बाधक होता है। प्रयोग को ही साध्य मान लेना परम्परा को नितान्त निष्प्राण मानकर त्याग देना साधारणीकरण और सम्प्रेषणीयता का सर्वथा तिरस्कार कर देना, बौद्धिकता को ही काव्य का मूल तत्त्व मानकर रागतत्त्व का पूर्णतया बहिष्कार कर देना आदि ऐसी ही दुराग्रहपूर्ण मान्यताएँ हैं। यही कारण है, प्रयोगों की अतिशय दुराग्रहता के कारण इनकी रचनाओ म एक नीरस और प्रभावहीन विचित्रता ही परिलक्षित होती है जो अँगरेजी के कमिंग्ज जैसे कवियों का अनुकरणमात्र है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

१ 'जगम दशक जड वन्य ओ—
अन्धकार।

२ वे कल सुबह आठ ही बजे मिलेंगे ?
कलकत—ताप—अ जा—अ मेल।'

३ 'मेरी गड़ती आँखें यहीं आप्यायित
र दे
ल हीं'

४ 'नहीं
मैं मरने की मनोदशा में नहीं हूँ,
नाचो शंकर
नाचो क—
लाग पर।'

ऐसी कविताओं म कवि के दुराग्रह के अतिरिक्त और कुछ भी तो नही है। प्रयोगवादी कवियो ने भी प्राचीन परम्पराओं को छोड़कर नवीनताओं को अपनाया है, परन्तु उनकी धारणा अतिशय दुराग्रहता स ग्रस्त नही है, इसीलिए उनके अधिकांश प्रयोग काफी सफल और भावपूर्ण हैं।

सौन्दर्य-बोध के लिए कवि की अपनी अनुभूति ही बहुत बड़ी सीमा तक उत्तरदायी होती है। नये कवियों की अनुभूति बदली तो उनका सौन्दर्य-बोध भी बदल गया। परम्परा से विरूप या सौन्दर्यहीन समझी जाने वाली वस्तु में भी नये कवि को अमित सौन्दर्य दिखाई दिया। नकेनवादी कवियों में यह अनुभूति भी नहीं है। नवीनता के नाम पर, इन्होंने सौन्दर्य के जो चित्र प्रस्तुत किये हैं वे विरूपता की भावना को ही अधिक उत्तेजित करते हैं। आषाढ़ के प्रथम दिवस का वर्णन करते हुए केसरीकुमार लिखते हैं—

> घनान्ध, प्रात (या दिवारात), वस्त्रावतन,
> विद्युत्तालम्ब फिर अन्धकार
> रोमिल बिडाल झाबेटी दाँतों में जिसके
> है पकड़ गया दिन के मूस का अग्र भाग
> लटका करता छटपट छटपट।'

इन पंक्तियों में वर्षाकालीन भयंकरता को ध्वनित करने के लिए जो ओज पूर्ण शब्दावली प्रयुक्त की गई है वह तो कुछ हद तक सफल है किन्तु नवीन उपमान योजना ने इस किंचित् सफलता को भी धूमिल बना दिया है। दिन में छाये हुए बादल ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे बिडाल ने चूहे को मुँह की ओर से पकड़ लिया हो। बादलों को बिडाल और दिन को चूहा बताना वस्तुतः सम्प्रेषणीयता के सिद्धान्त के मूल तत्वों को भी ठुकरा देना है।

नवीन उपमानों का दुराग्रह इन कवियों के वक्तव्यों को सार और भावहीन ही नहीं बनाता, वरन् कहीं-कहीं तो ऐसी स्थिति तक पहुँचा देता है जिसे अश्लील कहा जायगा —

> समझें न वर्मा जी,
> यह है कपोत वर्मी
> (दो सन्तरे औ जिन ! हाँ)
> नींबू नहीं, नीबू नहीं, नहीं बालिग।'
> ×　　×　　×
> 'जैसे टेस्ट ट्यूब में की बेबी भार दे
> रस मिस का मिसपन,
> रहे अक्षत यौवन।

प्रयोगवादी कवियों की भाँति इस धारा के कवियों ने भी फ्री एसोसियेशन का प्रयोग किया है जिनमें मनोवैज्ञानिकता के स्थान पर अस्पष्टता दुरूहता असहजता आदि काव्य विकृतियाँ ही अधिक हैं। उदाहरण के लिए नरेश मेहता

की ये पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं—

> ले लो वह बेच रहा वेदना निग्रह रस
> जो 'सरे ब्लम की सग्रहणी को करता छू-म तर ।
> आह वेदना मिली विदाई
> जब तुम च आ 'दम होवा बन, 'इउन फु ज से
> शल्य-चिकित्सा का युग है यह
> क्यों न अपनी लश्राइमल ग्रं थ निकलवा लो ?
> ये दो लवणीय एच टू ओ के कम्पेण्डियस और पोटबुल
> उदधि भी सूखे रहा करेंगे ।'

✓ नकेनवादी कवियो पर विदेशी कवियो तथा साहित्य वादो का गम्भीर प्रभाव है । फ्रास के अतियेथार्थवादियो, प्रतीकवादियो बिम्बवादियो और अवैयक्तिकता वादी इलियट के साथ-साथ इन पर आधुनिक चमत्कारवादी यूरोपीय कवियो का प्रभाव भी यथेष्ट है। इसी प्रभाव के कारण इन कवियो के भावो और शैलियों मे भारतीयता का अभाव है और इसी अभाव ने इन्हे भारतीय कवि नही बनने दिया है । जहाँ कहीं ये भारतीय धरा पर और भारतीय समाज म उतर आये हैं, वहाँ इनका काव्य अनुभूतिमय होने के कारण प्रभावोत्पादक बन गया है । नलिन की निम्नोद्धत पंक्तियो मे सन्ध्या का कितना सजीव वणन है—

> बालू के ढूह हैं जसे बिल्लियाँ सोई हुई
> उनके पजों से लहरें बौड भागतीं ।
> सूरज की खेती चर रहे मेघ-मेमने
> विश्रब्ध, अचकित ।'

इन पंक्तिया म जिन नवीन उपमानो की योजना की गई है वे भावो का उत्कर्ष बढाकर उन्हे सप्रेष्य बनाते हैं । इसी प्रकार—

> 'एक फिसड्डी चिडिया
> अन्धकार में पथ हारी
> जाते दूर घोंसले से कितनी
> भटकती हुई अँधेरे में
> जैसे कलकत्ते में खो जाए पाच साल की बच्ची ।'

म भी नवीन उपमान योजना ने अन्धकार की भयावहता का बढाकर कवि की भाव योजना को सवेद्य बना दिया है ।

केशरीकुमार का यह प्रकृति वणन भी नवीन उपमानों से केवल सवेद्य ही

नहीं बना, वरन् बिम्बात्मकता के कारण सहज ग्राह्य भी बन गया है—

> 'रोज, जम रोज
> निःस्वन
> आज भी कुछ फूल मुरझे, पीथ मोली
> सघन बादल बह चले
> ज्यों वक्ष अनुलित उड़े
> कुछ उड़ चले
> ज्यों काग, कौए, चील।

अत्यन्त दुख का विषय है कि नकेनवादी-काव्य में ऐसे सहजानुभूतिपूर्ण वर्णन अधिक नहीं हैं।

अतः कहा जा सकता है कि नकेनवादी काव्य विदेशी काव्य सिद्धान्तों तथा काव्य प्रभावों को लेकर भारतीय वातावरण में उतरने वाली वह धारा है जो आविर्भूत हुई तो है किन्तु जिसमें गति और प्रवाह नहीं है। यही कारण है इस काव्यधारा का प्रभाव अन्य कवियों पर नहीं पड़ा है और हिन्दी-साहित्य का यह अनावश्यक अध्याय अब प्रायः समाप्त ही हो गया है।

६
नयी कविता

लोक मे नामकरण का विशेष महत्व नही होता, क्योकि वह वहाँ पर केवल एक सकेत का काम करता है, किन्तु साहित्य मे नामकरण का विशेष महत्त्व होता है, क्योकि वह काव्यधारा विशेष की सम्पूण प्रवत्तियो को स्वय म निहित किये हाता है। यही कारण है कि अनेक कृतियो के, साहित्य के इतिहास के कालो के, काव्यधारा विशेष के नामो के औचित्य और अनौचित्य पर विवाद होते आये हैं और होते रहेगे। इस दृष्टि से 'नयी कविता नाम भी विवादास्पद हो सकता है और इसके अनौचित्य या अनुपयुक्तता को सिद्ध करने के लिए सहज रूप से यह कहा जा सकता है कि भाव की दृष्टि से काव्य कभी पुराना नही होता और काल की दृष्टि से कोई भी पदाथ नया नही रह सकता। अत नयी कविता की प्रवत्तियो का विश्लेषण करने से पूव इसके नामकरण के औचित्यानौचित्य पर विचार कर लेना अपेक्षित है।

श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने नयी कविता की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण करते हुए लिखा है— नयी कविता के नयेपन में यही ऐतिहासिक, वयक्तिक सामाजिक और आत्म व्यजक सत्य के आयाम और धरातल विकसित करते हैं जो परम्परा से भिन्न होते हुए भी साथक एव समथ रूप मे नयी अभिव्यजना को अवतरित करते हैं। यही नही इस नयेपन म उस नवान धरातल, मानसिक स्थिति, अनुभूति और सवेदनशील तथ्यों की अभिव्यक्ति मिलती है जिसमे यथाथ की स्वीकृति है मिश्रित भावनाओं की सवेदना है, रस बोध के नये स्तर हैं सौन्दय अनुभूति की भिन्न साथकता है और बदलते हुए सन्दर्भों के मानव-जीवन के प्रति जिज्ञासा है। नयी कविता का विचार बोध और उसकी अभिव्यक्ति वह चरम बिन्दु है जहाँ कलाकार अथवा कवि की कलाकृति उन माध्यमों को त्यागकर चलती है जो निष्प्राण चेतनाहीन रूप में अपने जीण शीण कलेवरों के साथ आज के जीवन मे स्वारोपित रूप से जीना चाहते हैं।' इसका तात्पय यह है कि नयी कविता अनुभूति और अभिव्यक्ति की दृष्टि से नयेपन को लेकर चलती है। नयी कविता के कवियों और समीक्षकों का यह दावा काफी हद तक ठीक भी है किन्तु कालान्तर में यह नयापन भी तो पुराना पड जायेगा, तब इस काव्यधारा का यह नाम कितना अनुचित प्रतीत होगा यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

इस काव्यधारा को सम्भवतः यह नाम उस समय मिला जब सन् १९५४ ई० में श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी और श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा के प्रयासों से 'नये पत्ते' का प्रकाशन हुआ। इसके पश्चात् 'नयी कविता' नामक पत्रिका के द्वारा इस काव्यधारा को प्रसारित और प्रचारित किया गया जिसके सम्पादन में डॉ० जगदीश गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी और विजयनारायण साही का सहयोग विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सन् १९५५ ई० में साहित्य-सहयोग की छत्र छाया में धर्मवीर भारती तथा लक्ष्मीकान्त वर्मा द्वारा सम्पादित 'निकष' ने भी नयी कविता के विकास में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। इस नये चरण में पहुँच कर नयी कविता तथा नवलेखन की पूर्ण रूप से स्थापना हो गई।

यदि हम प्रगतिवाद से लेकर नयी कविता तक की काव्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण करें तो अनायास ही यह निष्कर्ष निकल आता है कि प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता भिन्न काव्यधाराएँ नहीं हैं वरन् एक ही विचार-धारा के क्रमशः विकसित रूप हैं। प्रगतिवाद ने छायावाद की अतिशय सूक्ष्म तथा वायवी प्रवृत्तियों के विरोध स्वरूप उस सत्य की स्थापना की थी जो यथार्थ था, जिसका समाज के जीवित धरातल से सम्बन्ध था। इस वाद की सबसे बड़ी दुर्बलता यह रही कि यह एक दर्शन विशेष की सीमाओं में ही आबद्ध होकर रह गया। इसमें व्यक्ति का महत्त्व उसी सीमा तक स्वीकार किया गया जहाँ तक वह सामाजिक जीवन का प्रतीक था। फलतः व्यक्ति के सामाजिक पक्ष का तो विस्तार से उद्घाटन हुआ, परन्तु उसका निजी व्यक्तित्व नितान्त उपेक्षित हो गया। यही कारण है कि व्यक्ति के आन्तरिक पक्ष का निरूपण करने के लिए प्रगतिवादी काव्य में कोई अवकाश ही न रह गया। प्रयोगवाद ने इस अभाव की पूर्ति की। वह मुख्यतया व्यक्ति के आन्तरिक पक्ष को ही लेकर चला। प्रयोगवादी कवि ने यथार्थ और मनोविज्ञान के आधार पर व्यक्ति के भीतर छिपी हुई संवेदना का, जय-पराजय की आशा-निराशा का, राग-बुद्धि का विश्लेषण किया। इन्हीं भावों की अभिव्यक्ति के लिए इस कविता के भीतरी प्रतिमानों को भी अपनाना पड़ा। सूक्ष्म भावानुभूतियों की अभिव्यंजना के लिए नयी शिल्प-कला अपेक्षित भी थी। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की ये सभी प्रवृत्तियाँ नयी कविता में और भी अधिक विकसित रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। डॉ० रामदरश मिश्र के शब्दों में 'लोक भावनानुभूति, सामाजिक दृष्टि, लोक-सम्पृक्ति से प्रभावित काव्य शिल्प, निराशा-पराजय के भीतर भी अनागत भविष्य की विजय के प्रति उत्साहमयी दृष्टि प्रगतिवाद की ये उपलब्धियाँ कवि के पूर्ण व्यक्तित्व का माध्यम पाकर नयी कविता में अधिक खिल उठीं। दूसरी ओर क्षण-बोध, अन्तर्मन की अछूती शक्तियों और व्यथाओं, संवेदनाओं, मुक्त साहचर्य की प्रतीतियों, नये बिम्ब, प्रतीक, उपमान,

छद से मुक्त शिल्प की छवि को लेकर प्रयोगवाद नयी कविता म विलीन हो गया। इस प्रकार नयी कविता म विभिन्न सस्कारो के विभिन्न अनुभवो के योग काय करने लगे और उसम जीवन की बहुविध छवि दिखाई देन लगी। ✓इन वादो के अतिरिक्त व्यक्तिपरक काव्य की भी प्रवत्तियाँ नयी कविता मे विकसित होकर निहित है। इस प्रकार नयी कविता म उन सभी काव्य प्रवत्तियो का विकसित रूप समाहित है जो छायावाद के उपरात आविभूत हुई हैं। यही कारण है नयी कविता के क्षेत्र म ऐसे अनेक कवि आ गये हैं जिनका सम्बध प्रगतिवादी, व्यक्तिपरक या प्रयोगवादी काव्यधारा से रहा है।

यद्यपि नयी कविता म प्राय वे सभी प्रवत्तिया विकसित होकर उभरी हैं जिनका आविर्भाव छायावाद युग के पश्चात् हुआ है, तथापि इसम विकसित कुछ ऐसी प्रवत्तिया भी हैं जिनका उल्लेख करना आवश्यक है। ये हैं —

✓
१ जीवन के प्रति आस्था
२ क्षणवाद
३ मानवतावाद
४ व्यग्यात्मकता
५ जीवन-बोध
६ नये मूल्यो की प्रतिष्ठा
७ अनुशासित शिल्प

जीवन के प्रति आस्था

छायावादियो की लौकिक जीवन के प्रति कोई आस्था न थी, इसलिए वे रहस्यात्मकता का सबल लेकर उस एकात निजन मे जाने के लिए आकुल थे जहाँ अवनि का कोलाहल नही था। प्रगतिवादियो का जीवन दशन एक सिद्धात विशेष (माक्सवाद) से आबद्ध होगया था इसलिए उनकी जीवनानुभूति म सामाजिक तत्त्व का बाहुल्य होने से व्यक्तिगत जीवन का यथाथ तिरोहित हो गया था। प्रयोगवादी कवि प्राय अपनी ही जैविक सवेदनाओ मे आवत्त रहे। ✓नये कवियों न सम्पर्ण जीवन के प्रति आस्था व्यक्त की है अर्थात जीवन के सम्पूण उपयोग म अपना अगाध विश्वास प्रकट किया है। नये कवि की दष्टि म जीवन केवल आस्था पुण्य, धम सदाचार, उल्लास, आनद ही नही है वरन अनास्था, पाप, अधम अनाचार, विषाद भी है। जीवन के पहले पक्ष को लेकर चलना जीवन की यथाथता से पलायन और दूसरे पक्ष को लेकर जीना जीवन का विकृतियो को प्रोत्साहन देना है। अत इनम कोई भी एक पक्ष जीवन की सम्पूणता नही है। जीवन की सम्पूणता इन दोनो पक्षो के समन्वय म है। नया कवि ऐसे ही जीवन के प्रति अपनी आस्था व्यक्त करता

है जो इन दोनों पक्षों को लिए हुए हो, जो अपनी सङ्गतियों और विसंगतियों से मिलकर पूर्ण बना हो। इसीलिए नया कवि जीवन के एक एक क्षण को महत्त्व देता है, क्योंकि वह जानता है कि जीवन की सम्पूर्णता एक-एक क्षण से मिलकर बनती है। एक क्षण को भी अभुक्त जाने देना जीवन की सम्पूर्णता से विमुख होना है। इसी सिद्धान्त का उल्लेख 'अज्ञेय' ने इन शब्दों में किया है —

'एक क्षण
क्षण में प्रवहमान व्याप्त सम्पूर्णता,
इससे कदापि बड़ा नहीं था महाम्बुधि
जो पिया था अगस्त्य ने
एक क्षण
होने का अस्तित्व का अजस्र अद्वितीय क्षण
होने के सत्य का, सत्य के साक्षात का,
साक्षात के क्षण का
आज हम आचमन करते हैं।'

वस्तुतः जीवन का सम्पूर्ण भोग क्षणों के द्वारा ही किया जा सकता है। जीवन के वैविध्य में और क्षणों की परिवर्तनशीलता में नया कवि जीवन के प्रति अपनी आस्था को सँजोये रहता है। वह कभी सामाजिक चेतना से अभिभूत होकर इस पृथ्वी पर स्वर्ण-किरण उतारने के लिए लालायित होता है—

'गायक ! भू पर उतार स्वर्ण किरण कोई,
मुखरित कर मधुर गान मेरे मन कोई।

कभी जीवन की विषमताओं में आशा और उल्लास का भाव लिए मुस्कराता है—

'भ्रम नहीं, यह टूटती जंजीर है,
और ही नूतन की तस्वीर है
स्नेह उपाय की वर्षा लिए,
मुस्कुराती आ रही है ज़िन्दगी।

कभी जीवन के मझधार महाम्बुधि में स्वयं की नैया डुबाने के लिए उद्यत दिखाई देता है—

कि जब तूफान आया है, हिलोरों ने बुलाया है
तुम्हारी नाव क्या तट में बँधी रह जायेगी ?

और कभी अपने व्यक्तिगत उल्लासों को छोड़कर जीवन के कटु सत्य की ललकार का सामना करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है—

> 'आज किन्तु जब जीवन का कटु सत्य मुझे ललकार रहा है,
> कैसे हिले नहीं सिंहासन ?'

जब वह अपनी आत्मा के धरातल पर उतरता है तो वह देखता है कि उसका अंतर्मन विविध अभिलाषाओं के लिए मचल रहा है, तृप्ति का एक भारी अभाव उसकी संवेदनाओं को झिंझोर रहा है तो वह अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए आतुर हो उठता है क्योंकि वह जानता है कि यह जीवन क्षण भंगुर है —

> 'जानता हूँ एक दिन मैं फूल-सा
> टूट जाऊंगा बिखरने के लिए,
> फिर न आऊंगा तुम्हारे रूप की —
> रोशनी में स्नान करने के लिए।'

जीवन की क्षण भंगुरता ही नये कवि का क्षणों का महत्त्व बताती है इसीलिए वह शीघ्र से शीघ्र जीवन का भोग कर लेना चाहता है। वह जानता है कि जीवन की परिणति मृत्यु है। अतः इससे पूर्व ही वह जीवन को जितना भोग सके उतना ही अच्छा है—

> 'धीरे धीरे बात करो सारी रात प्यार से
> देख-देख हमें तुम्हें चाँद गला जा रहा,
> क्योंकि प्यार से हमारा प्राण ढला जा रहा
> धीरे धीरे प्राण ही निकाल लो दुलार से।'

इस प्रकार नया कवि जीवन की सम्पूर्णता को अपने काव्य में अंकित करता है और जीवन के प्रति अपनी आस्था व्यक्त करता है। उसका कवि सभी प्रकार के वादों से निर्बन्ध होकर काव्य की व्यापकता और दृष्टि की उन्मुक्तता को लेकर चलता है।

क्षणवाद

नया कवि जीवन के किसी एक अंग का नहीं वरन् जीवन की सम्पूर्णता का भोक्ता है। वह भली प्रकार जानता है कि जीवन क्षणों का पुंज है, इसीलिए वह जीवन के एक एक क्षण को महत्त्व देता है। क्षण और क्षणों में घटित भाव उसके लिए सबसे बड़ा सत्य है। इसीलिए वह क्षणों की तन्मयता में जिये हुए जीवन को और भोगे हुए जीवन को ही सत्य मानता है। क्षणों की अनुभूति से परे कोई इतिहास नहीं है कोई सत्य नहीं है, इसका

प्रतिपादन श्री धर्मवीर भारती ने 'कनुप्रिया' में अत्यंत सशक्त रीति से किया है। कनुप्रिया कनु से कह रही है—

'अच्छा मेरे महान कनु,
मान लो कि क्षण भर को
मैं यह स्वीकार लूँ
कि मेरे ये सारे तन्मयता के गहरे क्षण
सिर्फ भावावेश थे
सुकोमल कल्पनाएँ थीं
रंगे हुए अर्थहीन आकर्षक शब्द थे।
मान लो कि
क्षण भर को
मैं यह स्वीकार लूँ
कि पाप-पुण्य धर्माधर्म न्याय दण्ड
क्षमाशील वाला यह तुम्हारा युद्ध सत्य है।
तो भी मैं क्या करूँ कनु
मैं तो वही हूँ
तुम्हारी बावरी मित्र
जिसे सदा उतना ही ज्ञान मिला
जितना तुमने उसे दिया
जितना तुमने मुझे दिया है अभी तक
उसे पूरा समेट कर भी
आसपास जाने कितना है
तुम्हारे इतिहास का
जिसका कुछ अर्थ समझ नहीं आता।'

दरअसल इतिहास के गूढ़ ज्ञान की अपेक्षा एक क्षण की जी हुई अनुभूति, जिया हुआ ज्ञान बहुत बड़ा सार्थक और सत्य है। नये कवि को क्षणों में दिखाई देने वाला जीवन-सौंदर्य, जीवन के विविध भाव, अनुभूत होने वाली अनुभूतियाँ, बाह्य और आंतरिक व्यापार आदि सभी सत्य हैं। इसलिए तो वह प्रत्येक क्षण जीना और उसका भोग करना चाहता है—

शरद चाँदनी
बरसी
अंजुरी भरकर पीलो
ऊँघ रहे हैं तारे

सिहरी सरसी
ओ प्रिय कुमुद ताकते
अनभिप
क्षण में
तुम भी जी लो।'

क्षण ही अनुभूति के जनक हैं। सम्भवत यही कारण है कि अनुभूतिया की सच्चाई और गहराई जितनी नयी कविता म मिलती है, उतनी अय काव्यधाराओं म परिलक्षित नहीं होती। नय कवि म अनुभूति की इतनी गम्भीरता है कि वह 'एक' से ही 'सम्पूर्ण को जान लेने का क्षमता रखता है, दो आँखों के दद से ही समूची मानव जाति का दद जान जाता है—

चेहरे थे असख्य
आँखें थीं
दद सभी में था
जीवन का दश सभी ने जाना था
पर दो
केवल दो
मेरे मन में कौंध गई
मैं नहीं जानता किसकी वे आँखें थीं
नहीं समझता फिर उनको देखूँगा
परिचय मन ही मन चाहा उद्यम कोई नहीं किया
किन्तु उसी की कौंध
मुझे फिर फिर दिखलाती है
चेहरे असख्य
आँखें असख्य
जिन सबमें दद भरा है
पर जिनको मैं पहले देख नहीं पाया था
वही परिचित दो आँखें ही
चिर माध्यम हैं
सब आँखों से सब दर्दों से
मेरे चिर परिचय का।'

अनुभूति क प्रभाव मे इतिहास की बडी से बडी घटना भी निर्जीव बन जाती है और अनुभूति की सहजता मे छोटे स-छोटा भाव भी सजीव तथा अमर बन जाता है। उदाहरण के लिए, श्री रघुवीर सहाय की ये पक्तियाँ

प्रस्तुत हैं—

> 'आज फिर शुरू हुआ जीवन
> आज मैंने एक छोटी सी
> सरल कविता पढ़ी
> आज मैंने सूरज को डूबते देर तक देखा
> आज मैंने शीतल जल से जी भर कर
> स्नान किया
> आज एक छोटी सी बच्ची आयी
> किलक मेरे कंधे चढ़ी
> आज आदि से अन्त तक एक पूरा गान किया
> आज जीवन फिर शुरू हुआ।

इस कविता में जिन व्यापारों का उल्लेख है वे अत्यन्त नगण्य और सामान्य हैं। यदि इन्हें अनुभूति-अभिभूत होकर देखा जाय तो ये जीवन के एक ऐसे सत्य का उद्घाटन करते हैं जिसे कोई भी नकार नहीं सकता। एक एक व्यापार जीवन का एक एक बिम्ब है किन्तु ये सभी बिम्ब जीवन की सम्पूर्णता को आकार उसी प्रकार सकते हैं जिस प्रकार एक एक क्षण मिलकर महान् सत्य बन जाता है।

स्पष्ट है कि नयी कविता में क्षणों का बड़ा महत्त्व है। नया कवि जीवन के योग में और भोग्य की अनुभूति के क्षणों की महत्ता को निर्भ्रान्त रूप से स्वीकार करता है।

मानवतावाद

✓*हिन्दी-साहित्य में, आदिकाल से ही किसी न किसी रूप में मानवतावाद* का स्वर मुखरित रहा है किन्तु सबसे अधिक स्पष्टता इसमें प्रगतिवाद युग में आती है। प्रगतिवादी मानवतावाद का मूलाधार दलितों पीड़ितों, शोषितों के प्रति सहानुभूति है। प्रगतिवादी कवि अपनी सम्पूर्ण सहानुभूति सहेजकर शोषित वर्ग के प्रति इतना अभिभूत हो जाता है कि वह शोषकों को स्पष्ट न किये जाने की स्थिति में अपने जन्म को ही निरर्थक मान बैठता है और अपनी असमर्थता का अनुमान करके आत्मग्लानि से भरकर स्वयं को ही धिक्कारने लगता है—

> ✓ 'आज जो मैं इस तरह आवेश में हूँ, अनमना हूँ।
> यह न समझो, मैं किसी के रक्त का प्यासा बना हूँ।
> सत्य कहता हूँ, पराये पैर का काँटा कसकता।
> भूल से चींटी कहीं दब जाय तो भी हाय करता।

पर जिन्होंने स्वार्थवश जीवन विषाक्त बना दिया है।
कोटि कोटि बुभुक्षितों का कौर तलक छिना लिया है।
बिलखते शिशु की व्यथा पर दृष्टि तक जिनने न फेरी।
यदि क्षमा कर दूँ उन्हें धिक्कार माँ की कोख मेरी।'

मानवता के कारण ही प्रगतिवादी कवि यह घोषणा करता है कि वह सभी दलितों के दुख दूर करके इस धरा को नरक होने से बचायेगा, वह उन छलियो के हाथो से अमृत घट छीन लेगा जो स्वय अमृत पीने के लिए दूसरो को विष पिलाते हैं —

'मैं न अकेला कोटि कोटि हैं मुझ जसे तो।
सबको ही अपना अपना दुख है वसे तो।
पर दुनियाँ को नरक नहीं रहने देंगे हम।
कर परास्त छलियों को अमृत छीनेंगे हम।'

नया कवि भी मानवतावादी है, किन्तु इसकी मानवता किसी आदर्श पर या बौद्धिक सहानुभूति पर आधारित नही है। यह मनुष्य के अन्ततम मे बठकर उसमे व्याप्त सवेदनाओ को खोजता है मनुष्य को मिथ्या मूल्यो से छुटाकर यथार्थ मूल्यो से परिचित कराता है। नये कवि की दृष्टि म, मिथ्या आदर्शों से खडित सत्य, निममता से पीडित प्रेम कृत्रिम समाज से कुण्ठाहीन व्यक्ति आरोपित धनाढ्यता से फकीरी और व्यर्थ की बातो से चुप रहना अच्छा और उपादेय है—

अच्छा
खडित सत्य
सुघर नीरन्ध्र मृषा से
अच्छा
पीडित प्यार
अकम्पित निममता से
अच्छी कुण्ठा रहित इकाई
साँचे ढले समाज से
अच्छा
अपना ठाठ फकीरी
मँगनी के सुख साज से
अच्छा सार्थक मौन
व्यर्थ के श्रवण मधुर छन्द से'

मनुष्य की यथार्थ प्रवृत्तियों का चित्रण भी मानवतावाद का ही एक अंग है। नये कवियों ने मनुष्य के बाह्य रूप की अपेक्षा इसके आन्तरिक रूप का ही अधिक चित्रण किया है। यदि मनुष्य के अन्तर्मन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय तो उसमें अनेक प्रकार की विकसित और दमित इच्छाएँ अनेक प्रकार की कुण्ठाएँ और अनेक प्रकार की ग्रंथियाँ मिलेंगी। नये कवि ने इन सभी का चित्रण अपने गानों में इतनी प्रचुरता से किया है कि अनेक आलोचक नयी कविता को कुण्ठाओं और ग्रंथियों का काव्य मानते हैं। वस्तुतः इस धारणा का मूल नयी कविता की मानवतावादी प्रवृत्ति को न समझना ही है। जिन आलोचकों के संस्कार आदर्श और कल्पित मानव से आबद्ध हैं उन्हें इस यथार्थ मानव में दोषों की भाषा का दिखाई देना कोई अस्वाभाविक बात भी नहीं है।

जब मनुष्य जीवन में मनोवांछित फल प्राप्त कर लेता है तो उसका मन हर्ष और उल्लास में झूमने लगता है। वह आशा और विश्वास लेकर कह उठता है—

> रोम-तारों से बँधो पुलकन अमर हो।
> एक क्षण का मधुर दर्शन, नयन-पट की स्निग्ध छलकन
> युगल उर में युगल जीवन मिलन का बंधन अमर हो।

और ऐसी ही आशा तथा विश्वास इन पंक्तियों में भी है—

> मुझे दूर कर दूर जा रहे,
> दूर कभी जा भी पाओगे
> इस जीवन के जीर्ण दीप को
> तुम्हें प्रकाश बना रखूँगा।

अपनी उल्लास-दशा में प्रकृति भी उसे उन्नमित दिखाई देती है। मुस्काते चाँद को निशा की बाँहों में देखकर उसमें भी खुमार छा जाता है—

> मुसकाता है जब चाँद निशा की बाँहों में
> सच मानों तब मुझ पर खुमार छा जाता है।

लेकिन सभी इच्छाएँ तो पूर्ण नहीं होतीं। अधिकांश अपूर्ण और अतृप्त रहकर मानव-मन को भिन्न-भिन्न करती हैं। उसके मन की तृष्णा मरु की प्यास के समान अनन्त बन जाती है—

> मरु की प्यास सूरज से प्रीति बढ़ी है,
> मेरी तृष्णा में मरु की प्यास जड़ी है।

तब उसे अनुभव होता है कि यह जीवन भग्न सुधा कामनाओं का अमिट अभिशाप है। वह तृप्ति में सदैव अतृप्ति ही पाता है मिलन की हर रात

इसके लिए कम ही रह जाती है—

> 'इसलिए कल पर न टालो आज की अभिसार बेला,
> प्रिये ! मिलन के वास्ते यह रात क्या हर रात कम है।'

इस प्रकार न्ये कवियो ने मानवतावाद का एक नये परिप्रेक्ष्य म चित्रित किया है जो मनोवैज्ञानिकता तथा यथार्थवाद से सम्पृक्त है।

व्यग्यात्मकता

जब कवि मे भावावेश की स्थिति प्रबल हो जाती है तो वह अपने आवेग को साधारण शब्दों मे या साधारण शैली मे व्यक्त नही कर पाता। ऐसी स्थिति म वह व्यग्यात्मक का आश्रय लेता है। नय कवियो ने जीवन और समाज के हर पहलू को झाँक झाँककर देखा है जहाँ उन्ह अनेक ऐसे पक्ष दिखाई दिये हैं जिनसे उनम आवेश या आक्रोश की स्थिति आई है। यही कारण है नये कवियों में व्यग्यात्मकता प्रचुरता से मिलती है। नागरिक तथा कृत्रिम जीवन पर मार्मिक व्यग्य करते हुए 'अज्ञेय' कहते हैं —

> क्षण भर भुला सकें हम
> नगरी की बेचन बुदकती गडड मडड अकुलाहट—
> और न मानें उसे
> पलायन,
> क्षण भर देख सकें
> आकाश, धरा
> दूर्वा मेघाली,
> पौधे
> लता दोलती,
> फूल,
> झरे पत्ते
> तितली भुनगे
> फुनगी पर पूँछ उठा कर इतराती छोटी सी चिडिया—
> और न सहसा चोर कह उठे मन में
> प्रकृतिवाद है स्खलन
> क्योंकि युग जनवादी है।'

आज का नागरिक जीवन कितना कृत्रिम और प्रकृति के सुरम्य वातावरण से हीन बन गया है और प्रकृति प्रेम को लोग कितना घृणास्पद मानने हैं यह व्यग्य इन पक्तियो म निहित है।

अतिशय ज्ञान व्यक्ति तथा समाज को कितना पथभ्रष्ट कर देता है, इसका वर्णन 'मुक्तिबोध' ने 'ब्रह्मराक्षस' के माध्यम से इन पंक्तियों में किया है —

> 'और, तब दुगुने भयानक ओज से
> पहचान वाला मन
> सुमेरी-बेबिलोनी जन-कथाओं से
> मधुर वैदिक ऋचाओं तक
> व तब से आज तक के सूत्र
> छंदस मंत्र थियोरम
> सब प्रमेयों तक
> कि मार्क्स, एंजेल्स, रसेल, टायनबी
> कि हिडेग्गेर व स्पेंग्लर, सार्त्र, गांधी भी
> सभी के सिद्ध अन्तों का
> नया व्याख्यान करता वह
> नहाता ब्रह्मराक्षस, श्याम
> प्राक्तन बावड़ी की
> उन घनी गहराइयों में शून्य

'मुक्तिबोध' की 'एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्म-कथन' नामक कविता तो आद्य से इति तक मार्मिक व्यंग्यों से परिपूर्ण है। इस कविता में व्यंग्य पैना में बनाया गया है कि जिन वीरों ने भारतीय स्वतंत्रता के लिए अपने प्राणों की बाजी लगाई अपना सर्वस्व स्वाहा कर दिया वे तो विस्मृत हो गये, यथेष्ट आदर से वंचित रहे और जिन्होंने कुछ भी नहीं किया, वे नेता के रूप में देश के भाग्य निर्माता बन गये —

> स्वयं की जिन्दगी फ़ुरसत कभी
> नहीं रही
> क्योंकि हम बागी थे
> उस वक्त,
> जब रास्ता कहाँ था ?
> दीखता नहीं था कोई पथ।
> अब तो रास्ते-ही रास्ते हैं।
> मुक्ति के राजदूत सस्ते हैं।

गिरिजाकुमार माथुर की 'बौनों की दुनियाँ' कविता भी आधुनिक समाज पर मार्मिक व्यंग्य करके उसकी पोल को सफलतापूर्वक खोलकर रख

देती है। आज का मनुष्य किस प्रकार और किस लिए अपने से दुबल व्यक्ति को पनपने नहा देता, उसके शारीरिक, मानसिक बौद्धिक विकास को विकसित नहीं होने देता यही इस कविता का प्रतिपाद्य है। कतिपय पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

हम सब बौने हैं
मन से मस्तिष्क से भी
भावना से चेतना से भी
बुद्धि से विवेक से भी
क्योंकि हम जन हैं
साधारण हैं
हम नहीं हैं विशिष्ट
क्योंकि हर जमाना हमें
चाहता है बौने रहें
वरना मिलेंगे कहाँ
वक्ता को श्रोता
नेता को पिछलगुए
बुद्धिजनों को पाठक
आन्दोलनों को भीड

अत कहा जा सकता है कि नयी कविता म व्यंग्यात्मकता का बाहुल्य महज ही मिल जाता है जो कवि के वक्तव्य को अत्यधिक मार्मिक बनाने म सफल है।

जीवन बोध

नया कवि जीवन से पलायन नही करता, वरन् इसके अन्दर बैठकर इसके रूप का बोध करता है, इसके विविध पहलुओ को देखता और समझता है। हिन्दी के कुछ आलोचको का नयी कविता के कवि पर यह आक्षेप है कि इस कवि का जीवन-बोध भारतीय नहीं है और विदेशा से आयात किया है। इसीलिए इसके काव्य मे जीवन के स्वस्थ रूप की अपेक्षा जीवन का वह रूप मिलता है जिसम अनास्था, बिखराव, मूल्यहीनता आदि भावो प्राबल्य है। ये भाव पाश्चात्य प्रभाव के कारण ही हैं। इसम सदेह नही कि यह आक्षेप कुछ ही सीमा तक सत्य है, किन्तु यह प्रवत्ति नयी कविता की प्रवत्ति नहीं वरन आत्मसात न किए हुए पाश्चात्य साहित्य और दर्शन का प्रभाव है जो हमारे भारतीय सस्कारो से बिल्कुल भी मेल नही खाता। अधिकाश नये कवियो ने जीवन को भारतीय परिवेश म ही देखा है और उसकी भारतीय रीति से ही अभिव्यक्ति की है। नये कवियो द्वारा वर्णित जीवन दो प्रकार का है—समाज सम्बद्ध और

व्यक्तिपरक। जब नया कवि सामाजिक धरातल पर उतरता है तो उसे मुख्यत दो संस्कृतियां म विभक्त दिखाई देता है—नगर की संस्कृति और गाँव की संस्कृति। कहने की आवश्यकता नहीं कि नगर की संस्कृति म सहज स्पन्दनों का नितान्त अभाव है वरन् अकृत्रिमता और आडम्बरों का सहारा लेकर फल फूल रहा है। इसीलिए नये कवि को नगर या निवासी उसकी सभ्यता एक विषैले सप के समान भयानक और घातक दिखाई देती है—

साँप तुम सभ्य हुए नहीं न होंगे
✓ नगर में बसना भी तो तुम्हें नहीं आया
एक बात पूछूँ उत्तर दोगे ?
फिर कैसे सीखा डसना
विष कहाँ पाया ?

नागरिक सभ्यता म प्रश्न इतना है कि उसकी वास्तविकता का बोध सहज ही नहीं हो पाता। इस पापी सभ्यता के असभ्य मार्मिक तथा यथातथ्य *चित्र नये कवियों ने अंकित किये हैं।* इस चित्रण की सजीवता का कारण यह है कि इन कवियों ने इस सभ्यता को बहुत ही निकट से देखा है।

प्रगतिवादी कवियों ने ग्रामीण वातावरण तथा दशा के प्रति अपनी अपार सहानुभूति व्यक्त की है और गाँवों की सभ्यता के अनेक चित्र चित्रित किये हैं। *यद्यपि प्रगतिवादी काव्य म गावों के विविध चित्रों की संख्या कम नहीं है* किन्तु इन कवियों म यथार्थता का अभाव है क्योंकि इन्होंने उस जीवन को भोगा नहीं है केवल बौद्धिकता के द्वारा उसका बोध पाया है। इन कवियों की बौद्धिक सहानुभूति उनके यथार्थ चित्रण म प्राय बाधक है और यत्र-तत्र तो इनके वर्णन हास्यास्पद भी बन गये हैं। नये कवियों म से अधिकांश को ग्राम जीवन का अनुभव है। उन्होंने या तो इस जीवन को स्वयं भोगा है या बहुत ही निकट से इसका अनुभव किया है। यह कारण है कि नयी कविता म गाँवों के यथातथ्य बिम्ब अंकित हुए हैं। यथा—

झींगुरों की लोरियाँ
सुला गयी थीं गाँव को
झोंपड़े हिंडोलों-सी झुला रही हैं
धीमे धीमे
उजली कपासी धूप लोरियाँ।

इन पंक्तियों म ग्रामीण वातावरण का जो बिम्ब प्रस्तुत किया है, वह अत्यन्त सजीव तथा यथातथ्य है। लगता है, जैसे स्वयं कवि किसी रात में

गाँव के एक कोने मे खडा हुआ गाँव का आँखो देखा हाल सुना रहा हो। इसी प्रकार—

वह सुखी बहकी हवाएँ चैत की
कट गयीं मूलें हमारे खेत की
कोठरी में लौ बढ़ाकर दीप की
गिन रहा होगा महाजन सेंत की।'

इन पक्तियो मे ग्रामीण वातावरण और किसानो की दुर्दशा का बिम्बों द्वारा जो चित्र प्रस्तुत किया गया है वह अत्यन्त मार्मिक है। इन पक्तियो से जो अर्थ ध्वनित होता है वह यह है कि किसान अपना खून पसीना बहाकर अपनी फसल पकाता है। चैत की हवाए आकर उस फसल को जब सुखा देती हैं तो किसान आनन्दमग्न होकर उसे काट लेता है। लेकिन उसका परिश्रम उसके कुछ काम नही आता। वह तो फिर भी भूखा बना रहता है। उसकी सारी फसल शोषक महाजन के घर पहुच जाती है। यही तो महाजन की मुफ्त कमाई है जिसके कारण वह बिना श्रम किये हुए ही, बिना जीवन सघर्ष झेले हुए ही, लखपति बना हुआ है।

नये कवि ने व्यक्ति के अन्तर्मन का भी यथातथ्य विश्लेषण किया है। उसकी मान्यता है कि आदर्श के रग बिरगे रगों से रगकर जो व्यक्ति चित्रित किया जाता है वह व्यक्ति का अधूरा चित्रण है क्योंकि व्यक्ति केवल गुणों का ही तो पुज नही उसमे दोषो की भी अपार राशि निहित है। अत व्यक्ति की सम्पूर्णता उसके गुण दोष मे ही है। यही कारण है नया कवि जितनी तत्परता के साथ व्यक्ति के गुणों का वर्णन करता है उतनी ही निर्भरता के साथ वह उसके दोषों को भी अनावृत करते हैं। आज का व्यक्ति तो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से गम्भीर रोगों से ग्रस्त है। उसके उपचेतन मन मे न जाने कितनी कुण्ठाओ की ग्रन्थियाँ पडी हुई हैं जो उसके प्रत्येक कार्य कलाप को सचालित करती हैं। व्यक्ति जाने-अनजाने इन ग्रन्थियों के आदेशो पर चलता रहता है। अत आज का कवि मनुष्य की इन ग्रन्थियो को उजागर करके उसके सम्पूर्ण रूप का ही चित्रण नही करता वरन् उनके प्रति सचेत रहने की चुनौती भी देता है। नयी कविता मे जो अनास्था निराशा मृत्युकामना, पराजय अतिशय शृगारिकता आदि के भाव मिलते हैं जिन्हे नैतिक आलोचक घोर सकट समझते हैं इन्ही ग्रन्थियो की अभिव्यक्ति है। नया कवि जब किसी मनुष्य को आत्महत्या के लिये प्रेरित करता है तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह इस कुकृत्य को श्रेयस्कर मानता है। उसका अभिप्राय उन विवशताओं का उद्घाटन होता है जो व्यक्ति को इन कुकृत्य को वरण करने के लिये मजबूर करती हैं। परोक्ष रूप से, नया कवि ऐसा करके समाज को सावधान करना चाहता है कि वह किसी भी मनुष्य के सामने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न न होने दे। परन्तु जहाँ नये कवि ने इन भावों को जीवन-दर्शन स्वीकार कर लिया है वहाँ वह

अपने पावन उद्देश्य से भ्रष्ट हो गया है, क्योंकि तब ये भाव सृजनात्मक न रहकर विध्वंसात्मक बन गये हैं जीवन की गति न रहकर उसके अवरोधक हो गये हैं। ऐसे कवि भी नयी कविता में देखे जा सकते हैं किन्तु उनकी संख्या नगण्य ही है या उनका यह जीवन-दर्शन स्थायी न होकर एक क्षणिक आवेग बनकर रह गया है।

नवीन मूल्यों की प्रतिष्ठा

जीवन में दो प्रकार के मूल्य होते हैं—चिरंतन और परिवर्तनशील। चिरंतन मूल्य देश-काल निरपेक्ष होते हैं। उनके स्वरूप पर देश या काल का प्रभाव नहीं पड़ता। वे सर्वत्र एक रूप होते हैं। परिवर्तनशील मूल्य देश-काल सापेक्ष होते हैं अर्थात् देश तथा काल के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं या होने चाहिये। परिवर्तनशील मूल्य जब किसी परम्परा में सम्पृक्त हो जाते हैं तो उनमें एकरूपता या स्थायित्व आ जाता है वे अपने परिवर्तनशीलता के धर्म को छोड़ देते हैं। इन मूल्यों की यह अवस्थिति जीवन और समाज के लिए हानिकारिणी है। नया कवि इस सत्य से अवगत है अतः वह परम्पराओं का विरोधी है। वह अशाश्वत मूल्यों का रूप बदलने का हिमायती है। इसीलिये उसका विद्रोही स्वर जहाँ जीवन और समाज के अनेक मूल्यों को बदलने के लिये मुखरित हो रहा है वहाँ कई शाश्वत मूल्यों में भी परिवर्तन करके उन्हें अधिक सशक्त बनाने के लिये प्रयासशील है।

परम्परा मानती है कि जीवन में सुख वरेण्य है सुख से ही जीवन का विकास होता है आत्मा का परिष्कार होता है। इसके विपरीत दुख त्याज्य है, क्योंकि इसमें आत्मा का ह्रास होता है। नया कवि परम्परा की इस मान्यता को स्वीकार नहीं करता। वह मानता है कि जीवन के विकास के लिये जितना सुख आवश्यक है उतना ही दुख भी। उसकी धारणा है कि केवल सुखी जीवन या केवल दुखी जीवन जीवन का अपूर्ण रूप है क्योंकि जीवन की सम्पूर्णता सुख दुख के समन्वय में है। इसीलिये वह दुख को भी वरेण्य मानता है, क्योंकि सुख की अपेक्षा दुख आत्मा का परिष्कार करने में मनुष्य को जीवंत बनाने में अधिक समर्थ है। अज्ञेय कहते हैं—

'दुख सबको माँजता है
और
चाहे स्वयं सबको
मुक्ति देना वह न जाने
किन्तु जिनको माँजता है
उन्हें यह सीख देता है कि
सबको मुक्त रक्खें।'

किसी प्रभाव को जीवन मे ग्रहण करना, परम्परा की दृष्टि से, दोष है। नया कवि मानता है कि अभाव समझे जाने वाले भावो को भी अपनाना सगत है, यदि इन्हें जीवन की शक्ति के रूप मे प्रयुक्त किया जाये। इसलिये कुँवर नारायण उस शून्य को भी वरेण्य मानते हैं जो उन्हें उन तक पहुँचाता है—

'एक शून्य है
मेरे हृदय के बीच
जो मुझे मुझ तक पहुँचाता है।'

दुख सृष्टि का अनिवार्य धर्म है किन्तु आज का परम्पराग्रस्त समाज जीवन की इस अनिवार्यता को किसी भी प्रकार स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है। उसे यदि दुख मिलता है, विवश होकर यदि उसे दुख भाव भोगना पड़ता है तो वह उसे यथाशक्ति छिपाने का प्रयत्न करता है। वस्तुत जीवन की व्यथा का सहन करने की उसमे शक्ति ही नही रह गई है। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना समाज की इसी दुर्बलता पर तीक्ष्ण व्यग्य प्रहार करते हुए कहते है—

'मै नया कवि हूँ
इसीसे जानता हूँ
सत्य की चोट बहुत गहरी होती है।
मैं नया कवि हूँ
इसीसे मै जानता हू
चश्मे के तले की दृष्टि बहरी होती है।
इसीसे सच्ची चोटें बाटता हूँ
झूठी मुस्कानें नहीं बेचता।'

नया कवि परम्परा से बधे हुए प्रत्येक जीवन मूल्य को चुनौती देता है। उसका कथन है कि धर्म, दर्शन नीति आचार आदि ये सभी मूल्य केवल आवरण हैं जिनमे मनुष्य अपनी दुर्बलताओं को आवृत्त करता है। ये वे धाम ूल हैं जो जीवन की नवानुभूति नवचिन्तन, नवगति मे बाधा उपस्थित करते हैं। यही कारण है कि उच्च मानसिक और भौतिक उपलब्धियों का दावा करने वाला मनुष्य स्वय अपनी ही आत्मा से परास्त हो जाता है वह उसकी पुकार का कोई भी उत्तर देने मे स्वय को अशक्त और असमर्थ ही पाता है—

मगर जब जब पुकारा मैंने
मानवहीन अचेतन बयाबानों में,
पहाड़ों में गुफाओं में,
तो पत्थरों और जगलों से भी

मेरी प्रतिध्वनियाँ लौटी हैं
पुकार का उत्तर पुकार से आया है
असन्न पशुओं ने मेरे प्यार दुलार को
बेगर्त प्यार का मूक सिहरन में
लौटाया है।
मगर हाय रे हाय, मेरे परम
प्यार की पुकार का उत्तर
हृदय आत्मा और चेतना के दावेदार
ज्ञानी विज्ञानी प्रगतिमान मानव की
आत्मा में से आज तक लौटकर
नहीं आया है।

सौंदर्य का रूप भी एक परम्पराबद्ध मान्य है। इस परम्परा के अनुसार सुरूप ही सौंदर्य है। नया कवि इस मान्यता से भी सहमत नहीं है। वह कहता है कि केवल सुरूप ही सौन्दर्य नहीं कुरूप समझी जाने वाली वस्तुएँ भी सुन्दर हैं यदि उन्हें परम्परा की शृंखला से मुक्त होकर देखा जाय। इसीलिए नया कवि नये उपमानों को अपने काव्य में प्रतिष्ठा करता है और पुराने उपमानों का निरस्कार करता है। उसकी मान्यता है कि प्राचीन उपमानों में अब वह अर्थ नहीं रह गया है जो उनमें अभिप्रेत है —

अगर मैं तुमको
ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता
या शरद के भोर की नीहार न्हायी कुँई,
टटकी कली चम्पे की
वगैरह, तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है।
बल्कि केवल यही
ये उपमान मैले हो गये हैं।
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच।
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।'

उपमानों के अतिरिक्त इन्होंने परम्परागत शब्द योजना तथा अभिव्यक्ति प्रणाली में भी काफी परिवर्तन किये हैं।

इस प्रकार नये कवियों ने जीवन जगत् और साहित्य में पुराने तथा

परम्परागत मूल्यों को छोड़कर नवीन मूल्यों की प्रतिष्ठा की है जिससे काव्य का भाव तथा कला दोनों पक्ष ही सबल बने हैं।

अनुशासित शिल्प

नये कवियों ने जहाँ भाव जगत को अपनी नवीनताओं और मौलिकताओं से समृद्ध किया वहाँ शिल्प विधान में भी यथेष्ट परिवर्तन करके उसे अभिव्यंजना शक्ति प्रदान की। उपमानों की नवीनता का उल्लेख तो ऊपर हो ही चुका है। भाषा को सशक्त और सबल बनाने के लिए इन कवियों ने प्रतीकों और बिम्बों का भी प्रचुरता में प्रयोग किया है। इनके प्रतीक विधान और बिम्ब विधान अधिकांशतया नवीन ही हैं। यथा—

> 'इन प्राणों का एक बुलबुला भर पी लेने को—
> उस अनन्त नीलिमा पर छाये रहते हो
> जिसमें वह जन्मी है, जियी है पली है जियेगी,
> उस दूसरी अनन्त प्रगाढ़ नीलिमा की ओर
> विद्युल्लता की कौंध की तरह
> अपनी इयत्ता की सारी आकुल
> तड़पों के साथ उछली हुई
> एक अकेली मछली।'

इन पंक्तियों में 'मछली' का प्रतीकार्थ परम्परा से भिन्न है। अज्ञेय के अनुसार, यहाँ पर मछली का प्रतीकार्थ है—'सेतु पद खड़े कवि की नीचे जल पर पड़ती हुई परछाई को भेद जाने वाली प्रकाशमान मछली वह प्रतीक है जिसके द्वारा अन्वेषी स्वयं अपने अहंकार से उत्पन्न पूर्वग्रहों की छाया के पार देख लेता है।' यहाँ पर यह प्रतीकार्थ नवीन भी है और प्रभावोत्कर्षक भी। इसी प्रकार —

> 'भीतर जो शून्य है
> उसका एक जबड़ा है,
> जबड़े में माँस काट खाने के दाँत हैं
> उनको खा जायेंगे,
> तुमको खा जायेंगे

यहाँ शून्य' बर्बर आदिम प्रवृत्ति का प्रतीक है।

प्रतीक विधान की भाँति ही नयी कविता में बिम्ब विधान का भी नवीन

और सफल प्रयोग है। यथा—

> 'छोटे छोटे, बिखरे से,
> शुभ्र बादलों को पार करता—
> मानो कोई तप-क्षीण कापालिक
> साध्य साधना की बल बुझी भरी
> बची-खुची राख पर धीमे से पर रखता—
> नीरव, चपलतर गति से
> चाँद भागा जा रहा है
> द्रुतपद—
> जागा हूँ मैं स्वप्न में कि
> चार का गजर कहीं खड़का।'

इन पंक्तियों में प्रयुक्त बिम्बों के द्वारा कवि अपने मन्तव्य का सम्प्रेषण करने में सफल हुआ है।

इस धारा के कवियों ने भाषा का भी अभिनव संस्कार किया है। काव्य के अन्य उपकरणों की भाँति भाषा के विषय में भी इन कवियों की यही मान्यता रही है कि प्राचीन भाषा सब प्रकार के भावों को सफलतापूर्वक वहन करने में असमर्थ हो गई है अतः उसके अभिनव संस्कार की नितान्त आवश्यकता है उसमें नयी शक्ति भरने की जरूरत है। इसलिए इन कवियों ने भाषा में प्रयुक्त होने वाले नये शब्दों की भी सृष्टि की है और आवश्यकतानुसार प्राचीन शब्दों में नये अर्थ भरे हैं। यथा—

> देह
> बल्ली
> एक पिंजरा है ? पर मन इसी में से उपजा।
> जिसकी उन्नीत शक्ति आत्मा है।

यहाँ उन्नीत शब्द उन्नत से बनाया गया है। इसका अर्थ है 'उच्चतम।' इन पंक्तियों में इस नवीन शब्द की बहुत सार्थकता है।

मुहावरे भाषा की शक्ति के प्रमुख आधार होते हैं किन्तु इन कवियों ने इन्हें भी परिवर्तित रूप में प्रयुक्त किया है—

> 'आज चिन्तामय हृदय है
> प्राण मेरे थक गये हैं
> बाट तेरी जोहते ये
> नन भी तो थक गये हैं।'

'नन पकना' प्रचलित मुहावरे 'नयन थकना' आदि का परिवर्तित रूप है।

कहने का भाव यह है कि नये कवियों का शिल्प अत्यन्त अनुशासित है। नवीनता का समावेश होने से, इसमें पर्याप्त सुघरता तथा शक्ति आगई है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। नयी कविता नये कवि के नवीन विश्वासों, नवीन धारणाओं, नवीन बोधों और नवीन दिशाओं आदि से सम्पृक्त वह पटल है जिस पर अंकित विविध चित्र मानव के अन्तर्मन की सम्पूर्णता को सहज ही उजागर कर देते हैं। निस्सन्देह, नयी कविता का भविष्य उज्जवल है।

रेणुका

रेणुका मे सग्रहीत कविताएँ तीन खडों म विभाजित हैं—व्योम कुजा की परी अयि कल्पने गा रही कविता युगो से मुग्ध हो और पूक द जो प्राण म उत्तेजना। इस सग्रह की समस्त कविताओ म कवि का पाँच प्रकार की भावनाएँ परिलक्षित होती हैं—प्रगति भावना, राष्ट्रीय-भावना, शृङ्गार भावना, अध्यात्म भावना और प्रकृति चित्रण की भावना।

रेणुका' का कवि इस विषमतापूर्ण और पीडित ससार म समता तथा सुख लाने का इच्छुक है। जिस प्रकार साकेत' के राम इस भूतल पर स्वग का सन्देश लेकर नही आन वल्कि इस भूतल को ही स्वग बना दना चाहत है, उसी प्रकार 'रेणुका' का कवि कल्पना का वैभव त्यागकर इसी धरा को अलका बनी देखने का अभिलाषी है।

> 'व्योम कुजों की परी अयि कल्पने !
> भूमि को निज स्वग पर ललचा नहीं!
> पा न सकती मृत्ति उडकर स्वप्न को
> शक्ति है तो आ, बसा अलका यहीं।'

कवि कल्पना का सामाजिक बन जाना प्रगतिवाद की प्रमुख विशेषता है। प्रगतिवादी समाज क पुर्ननिमाण के लिए वतमान समाज का ध्वस आवश्यक मानता है। रेणुका का कवि भी अपनी कविता से जग मे ज्वाला सुलगाने की प्राथना करता है—

> 'क्रांति धात्रि कविते ? जाग उठ आडम्बर में आग लगा दे,
> पतन, पाप पाखड जले जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे।'

राष्ट्रीय भावना क अन्तगत कवि का वर्तमान के प्रति असन्तोष और अतीत के प्रति अनुराग व्यक्त हुआ है। अतीत के प्रति अनुराग प्रदशन भी राष्ट्रीय कवियो की एक परम्परा-सी रही है। यह भावना प्राय दो रूपो म प्रकट होती है, एक तो विद्रोह के रूप म जहाँ कवि वतमान के ध्वस की कामना करता है। 'रेणुका' म ताडव कविता इसी रूप का प्रतिपादन करती है—

> 'नाचो, हे नाचो नटवर'
> चन्द्रचूड ! त्रिनयन ! गगाधर ! आदि प्रलय ! अवढर ! शकर !
> नाचो, हे नाचो, नटवर !'

दूसरा रूप है अतीत का गौरव-गाथा का गान! उदाहरणाथ रेणुका' को

हिमालय' कविता की मुख्य पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

> 'तू पूछ, अवध से, राम कहाँ ? वृन्दा ! बोलो, घनश्याम कहाँ ?
> ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक ? वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ ?'
>
> × × × ×
>
> री कपिलवस्तु ! कह, बुद्धदेव के वे मंगल उपदेश कहाँ ?
> तिब्बत, ईरान, जापान, चीन तक गये हुए सन्देश कहाँ ?'

किन्तु इस विद्रोह में भविष्य निर्माण की कोई योजना परिलक्षित नहीं होती। केवल कवि का वर्तमान के प्रति असन्तोष और तज्जन्य आक्रोश ही स्पष्टतः मुखरित है।

रेणुका' के कवि ने शृंगार भावना की भी अभिव्यक्ति की है किन्तु यह भावना छायावादियों की भी कुण्ठित और धूमिल नहीं बल्कि स्वस्थ संतुलित और स्पष्ट है। यथा—

> 'पनघट से आ रही पीतवसना युवती सुकुमार
> किसी भाँति ढोती गागर यौवन का दुर्वह भार।
> बनूँगी मैं कवि ! इसकी माँग कलश, काजल, सिन्दूर, सुहाग।

यह कवि की कविता की पुकार है शृंगार का यह वर्णन स्वस्थ और मर्यादित होने के साथ-साथ उदात्त भी है।

रेणुका की अध्यात्म भावना किसी गम्भीर चिन्तन की परिणति नहीं बल्कि इसमें साधारण और स्वाभाविक दार्शनिक विचारों को ही व्यक्त किया गया है। जैसे—जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध सृष्टि की नश्वरता, संसार की अन्त दुःखमय आदि। जीवन और यौवन की नश्वरता का यह वर्णन देखिए—

> जीवन का मधुमय उल्लास औ यौवन का हास विलास।
> रूप राशि का यह अभिमान एक स्वप्न है स्वप्न अजान।'

रेणुका' में प्रकृति का प्रयोग प्रायः राष्ट्रीयता की भावना में आविर्भूत विद्रोह अध्यात्म भावना और शृंगार भावना की अभिव्यक्ति देने के लिए किया गया है। यथा—

> विद्रोह—'धधक उठा तेरे मरघट में जिस दिन सोने का संसार,
> एक एक कर लगा दहकने मगध सुन्दरी का शृंगार
> जिस दिन जला चिता गौरव की, जय भेरी जब मूक हुई,
> जमकर पत्थर हुई न क्यों, यदि टूट नहीं दो टूक हुई।'
>
> —पाटलीपुत्र की गंगा से

अध्यात्मक भावना— एक बात है सत्य कि झर जाते हैं खिलकर फूल यहाँ,
जो अनुकूल वही बन जाता दुर्दिन में प्रतिकूल यहाँ।
मैत्री के शीतल कानन में छिपा कपट का शूल यहाँ।
कितने कीटों से सेवित है मानवता का मूल यहाँ।
इस उपवन की पगडंडी पर बचकर जाना परदेशी
यहाँ मेनका की चितवन पर मत ललचाना परदेशी।

—परदेशी

शृङ्गार भावना—मुक्ता कुंतल में गूँथ भृङ्ग का पहन कुसुम कर्णाभूषण,
दिग्वधू क्षितिज पर बजा रही मंजीर चपल कँप रहे चरण।
रुनझुन रुनझुन किसका शिंजन ?

—अमा सध्या

यदि इन पाँचो भावनाओ का विश्लेषण किया जाये, तो कहा जा सकता है कि प्रगति और राष्ट्रीय भावना कवि की समिष्टिगत भावना की अभिव्यक्ति है और शृंगार तथा अध्यात्म भावना व्यष्टि की। प्रकृति चित्रण की भावना म दोनो भावनाओ का समष्टि और व्यष्टि का समन्वय है। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि कवि युगीन परिस्थियो से बाध्य होकर अपनी समूह भावना को पोषित तथा कोमल भावना का नियंत्रित करने मे प्रयत्नशील है। उसके युवा हृदय म इन दोनों भावनाओं का द्वन्द चलता है जिसम अन्त में समाज-भावना की विजय होती है व्यष्टि के निरोध एव समष्टि के ग्रहण के ही दो रूप राष्ट्रीय तथा प्रगतिवादी बनकर उसके काव्य म अवतीर्ण हुए हैं।

हुंकार

रेणुका' मे कवि के मन मे व्यष्टि और समष्टि का जो सघर्ष प्रारम्भ हुआ है 'हुंकार मे वह प्राय समाप्त-सा हो जाता हैं। समष्टि व्यष्टि को पराभूत कर लेती है और कवि की वाणी वतमान का दयनीय दशा के प्रति क्रियास्वरूप विद्रोह कर उठती है—

समय ढूह की ओर सिसकते मेरे गीत विकल धाये।
आज खोजते उन्हे बुलाने वतमान को पल आये॥'

इसीलिए कवि शृङ्ग छोड मिट्टी पर उतर आता है व्योम कुंजो की परी कल्पना प्राणों म उत्तेजना फूंकने के लिए आतुर हो उठती है। वह कल्पना की जाली बुनने वाले कवियों को चुनौती देता है—

अमृत गीत तुम रचो कलानिधि। बुनों कल्पना की जाली।
तिमिर ज्योति की समर भूमि का मैं चरण, मैं बेताली॥

फूट ही पड़ती हैं। यही सहज प्रक्रिया है। इसीलिए 'रसवन्ती' में किसी निश्चित उद्देश्य का अभाव है, केवल कवि मानस की प्रसन्नता ही इसका कारण है।

'रसवन्ती' का कवि प्रकृति को भी अपनी शृङ्गार भावना की अभिव्यक्ति का साधन बनाता है। 'हुंकार' का कवि 'रसवन्ती' का प्रणेता नहीं हो सकता, यह सहज ही कहा जा सकता है क्योंकि एक में समष्टि की चरम सीमा है और दूसरी में व्यष्टि की पराकाष्ठा। 'पतझड़ की सारिका' में कवि इसी शंका का समाधान करता है—

'जग तो समझता है यही पाषाण में कुछ रस नहीं।
पर गिरि हृदय में क्या न व्याकुल निर्झरों का वास है ?'

इन पंक्तियों में कवि ने अपनी दमित काम भावनाओं की ईमानदारी के साथ स्वीकृति ही नहीं दी, बल्कि एक शाश्वत सत्य की प्रतिष्ठा की है। अतः 'दिनकर के आलोचकों का रसवन्ती' को कुछ विस्मय और उन्मन के साथ अपनाना केवल कवि के प्रति ही अन्याय नहीं वरन् एक शाश्वत सत्य की सत्यता को भी झुठलाना है। 'रेणुका' में जिस कविता ने उड़कर नीलकुञ्ज में स्वप्न न खोजने की, चमेली में चन्द्र किरणों से चित्र न बनाने की, अधरों में मुस्कान और कपोलों में लाली न बन जाने की कसम खाई थी तथा 'हुंकार' में जो युग धर्म की पुकार बनी, प्रकृति पक्ष को लेकर रक्तशोषिणी संस्कृति को जिसने ललकारा अपना लक्ष्य विचार कर युग पर जिसने अपने तन मन धन का समर्पण किया और जिसने कवि के महायज्ञ की आहुति तैयार की, वही कविता 'रसवन्ती' में आल्हा गाते हुए प्रेमी की राधा को घर से खींचकर चोरी चोरी नीचे खड़ी करने लगी—

वो प्रेमी हैं यहाँ, एक जब बड़े साँझ आल्हा गाता है
पहला स्वर उसकी राधा को घर से यहाँ खींच लाता है।
चोरी चोरी खड़ी नीम की छाया में छिपकर सुनती है
'हुई न क्यों मैं कड़ी गीत की बिधना?', यों मन गुनती है।

कहने का भाव है कि 'रसवन्ती' कवि के शृंगारिक भावों की स्पष्ट और सहज अभिव्यक्ति है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद के शब्दों में "यदि पक्षियों के साधन से कहना चाहें तो 'रेणुका' में 'चातक' की चेतना प्रमुख है और 'हुंकार' में श्येन (बाज) का शौर्य। 'रसवन्ती' में तो कोकिल की काकली है।"

द्वन्द्वगीत

'द्वन्द्वगीत' में अध्यात्म भावना और व्यष्टि समष्टि के द्वन्द्व की प्रधानता है। इसमें ईश्वर, आत्मा (जीव) जीवन और मृत्यु आदि पर विचार व्यक्त

किए गए हैं। जिस प्रकार कबीर आदि भक्त कवियों ने ब्रह्म की सर्वव्यापकता स्वीकार की थी, सर्वत्र अपने लाल की लाली देखी थी उसी प्रकार द्वन्द्वगीत का कवि भी सृष्टि के प्रत्येक कण में उसी 'लाली' का रूप और प्रभाव देखता है—

> किरणों के दिस छोर दल, सबमें दिनमणि की लाली रे !
> चाहे कितने फूल खिलें पर एक सभी का माली रे !'

जीवन और मृत्यु के विषय में भारतीय दर्शन पुनर्जन्म की इच्छा में प्रतिपादन करता है। भगवान कृष्ण ने अर्जुन के समक्ष इसी सिद्धान्त की व्याख्या किया था—

> 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
> तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

यही मान्यता द्वन्द्वगीत में भी व्यक्त की गई है—

> जीवन ही बस मृत्यु बनेगा और मृत्यु ही नव जीवन
> जीवन मृत्यु बीच तब क्यों द्वन्द्वों का यह उत्थान-पतन ?

संसार अस्थिर है, अतः इसमें पनपने वाला जीवन भी क्षणभंगुर है। जिस यौवन पर व्यक्ति मदान्ध हो जाता है वह यौवन भी ठहरता कितने दिन है—

> 'दो कोटर को छिपा रहीं मदमाती आँखें लाल सखी !
> अस्थि तन्तु पर हो ता हैं ये खिले कुसुम-से गाल सखी।
> और कुचों के कमल ? हारेंगे ये तो जीवन से पहले
> कुछ थोड़ा सा मांस प्राण का छिपा रहा कंकाल सखी !

आत्मा के स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण ही मनुष्य भटकता रहता है और जीवन मरण के चक्र में पड़ा रहता है। साथ ही कवि ने कुछ व्यावहारिक शंकाएँ भी प्रस्तुत की हैं। जैसे—यदि जीवन असत है तो यह पाप-पुण्य का बन्धन क्या है ? यदि जीवन सत्य है तो वह मिथ्या में क्या भटकता रहता है ? यदि आत्मा नित्य और निर्लिप्त है तो इन धर्मशास्त्रों की क्या आवश्यकता है ? और यदि ईश्वर अचिन्त्य है तो उसके चिन्त्य रूप का अन्वेषण तथा उसकी आराधना और पूजा के प्रयत्न क्यों ?—

> जो सजन असत, तो पुण्य-पाप का श्वेत-नील बन्धन क्यों है ?
> स्वप्नों के मिथ्या-तन्तु-बीच आबद्ध सत्य जीवन क्यों है ?
> हम स्वयं नित्य, निर्लिप्त अरे तो क्यों शुभ का सन्देश हमें ?
> किस चिन्त्य रूप का अन्वेषण ? यह आराधन पूजन क्यों है ?'

यहाँ पर यह भी उल्लेख्य है कि 'द्वद्वगीत' का दशन प्रतिपादन शुष्क नही बल्कि सरावन और अनुभूतिपूण है ससार के विरोधी प्रतीत होने वाले विभिन्न तत्वो म रागात्मक सामजस्य उत्पन्न करने का हार्दिक प्रयत्न ही यहाँ दृष्टिगोचर होता है, बुद्धि से उसके रामन का प्रयास बहुत कम। द्वद्वगीत' का दशन सैद्धान्तिक नही, बल्कि व्यावहारिक है इसी कारण सरस एव सुगम है।

'द्वद्वगीत' म कवि की दाशनिक और समन्वयवादी भावना ने 'सामधेनी' और 'कुरुक्षेत्र' की रचना के लिए कवि के मन म बीज डाल दिए।

सामधेनी

'द्वद्वगीत मे कवि के मन म व्यष्टि और समष्टि का जो द्वद्व प्रारम्भ हुआ था वह सामधनी' म आकर अवसान प्राप्त कर लेता है। व्यष्टि पर समष्टि की पूर्ण विजय हो जाती है। कवि की भावनाएँ समष्टिमय बन जाती हैं। जिस प्रकार सन्त कबीर ने अपनी विरक्ति की उदघोषणा करते हुए कहा था कि 'जो घर फूँक आपणा चलै हमारे साथ, उसी प्रकार सामधेना' का रचयिता भी अपनी क्रांति की भावनाओ से अभिभूत होकर इसी प्रकार का आह्वान करता है —

'मेरी पू जो है आग जिसे जलना हो, बढ़े निकट आये।'

सामधेनी का 'कुरुक्षेत्र की रचना म महत्त्वपूण योग है। जो युद्ध की समस्या कवि के मन म सामधेनी' की कलिग विजय कविता लिखते समय आविर्भूत हुई थी वही समस्या तो कुरुक्षेत्र की आधार शिला है। यही कारण है कि कलिग विजय और कुरुक्षेत्र' के कुछ अशों मे बहुत ही भाव-साम्य है। जिस प्रकार महाभारत को जीत लने के पश्चात् युधिष्ठर के मन म भयकर ग्लानि होती है और उन्हें अपने कृत्य पर गहन पश्चाताप होता है उसी प्रकार महाराज अशोक भी कलिंग को जीतने के पश्चात् युद्ध का क्या परिणाम हुआ यही सोचत हैं—

'सोचते इस बन्धु वध का क्या हुआ परिणाम ?
विश्व को क्या दे गया इतना बडा सग्राम ?'

और जिस प्रकार के स्वप्न मे वे सुयोधन आदि की बातो को सुनते हैं तो उनका पश्चाताप द्विगुणित हो जाता है, कलिंग विजय मे भी कोई अदृश्य शक्ति अशोक को सत्य का संदेश देती है। कहने का भाव यह है कि इन दोनो कृतियों की पृष्ठभूमि म बहुत कुछ साम्य है। स्वय कवि ने कलिग विजय की 'कुरुक्षेत्र' से सम्बद्ध महत्ता इन शब्दो मे स्वीकार की है—बात यो हुई कि पहले मुझे अशोक के निर्वेद ने आकर्षित किया और कलिंग विजय कविता

लिखते लिखते मुझे ऐसा लगा, मानो युद्ध की समस्या सारी समस्याओं की जड़ हो। इसी क्रम में द्वापर की ओर ध्यान गया और मैंने युधिष्ठिर को देखा जो विजय इस छोर से उस छोर तक कुरुक्षेत्र में बिछी हुई लाशों को ताक रहे थे।'

कुरुक्षेत्र

कुरुक्षेत्र में महाभारत की प्रख्यात कथा के एक महत्त्वपूर्ण अंश को लेकर उसे युगानुरूप कल्पना से मण्डित किया है। जब महाभारत का भयानक युद्ध समाप्त हो जाता है और विजय श्री युधिष्ठिर को मिल जाती है तो युधिष्ठिर का मन खिन्न हो जाता है। वे असंख्य वीरों की मृत्यु से विचलित हो उठते हैं उनका मन वैराग्य और विरक्ति की भावनाओं से भर जाता है। वसुधा का राज्य उनके लिए विष का दाहक बन जाता है। अपने मन के इस द्वन्द्व को लेकर भीष्म पितामह के पास पहुँच जाते हैं जो बाणों की शय्या पर लेटे हुए अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे थे।

युधिष्ठिर की वैराग्य भरी बातें सुनकर पितामह को दुःख हो जाता है और वे अनेक प्रकार से युधिष्ठिर के द्वन्द्व का शमन करते हैं। वे युद्ध के कारणों पर प्रकाश डालते हुए बताते हैं कि युद्ध के प्रेरक तत्त्व कुशासन हैं। इसलिए इसमें कुशासन की भर्त्सना और सुशासन की संस्तुति की गई है—

'नृपति चाहिए क्योंकि परस्पर मनुज लड़ा करते हैं।
शासन चाहिए क्योंकि न्याय से वे न स्वयं डरते हैं।

यों तो कुरुक्षेत्र में प्रसंगवशात् अनेक विषयों की चर्चा है किन्तु इसका सर्वप्रमुख प्रतिपाद्य है साम्यवाद की स्थापना। कवि का विश्वास है कि जब तक मनुष्य को बराबर जीने के अधिकार और साधन नहीं मिल जाते तब तक समाज में सच्ची शान्ति और व्यवस्था नहीं हो सकती। इसीलिए वह कहता है—

'है सबको अधिकार मृत्ति का पोषक रस पीने का,
विविध अभावों से अशंक होकर जग में जीने का।'

कुरुक्षेत्र का दूसरा प्रमुख प्रतिपाद्य है विज्ञान। आज समूचा संसार इस तथ्य से अवगत है कि विज्ञान का प्रयोग निर्माण के लिए नहीं विध्वंस के लिए हो रहा है, कवि की दृढ़ धारणा है कि इसका कारण हृदय और मस्तिष्क की असमानता है। इसलिए जब तक इन दोनों का समुचित समन्वय नहीं हो

जा सकती—

> किन्तु है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष
> छूटकर पीछे गया है रह हृदय का देश,
> नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्यौहार,
> प्राण में करते दुखी हो देवता चीत्कार।

इस प्रकार अन्य अवान्तर प्रसगो के साथ-साथ कुरुक्षत्र मे आज के युग की भीषणतम युद्ध की समस्या का बहुत ही सुन्दर और व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत किया गया है। वस्तुत 'कुरुक्षेत्र' एक ऐसा प्रबन्ध काव्य है जिसम कवि ने अपनी राष्ट्रीय चेतना को पूर्ण अभिव्यक्ति दी है।

उवशी

उवशी 'दिनकर' का नवीनतम प्रबन्ध काव्य है। इस काव्य म कवि ने एक अत्यन्त प्राचीन भारतीय आख्यान के द्वारा अनेक भाव पक्षो का उद्घाटन किया है। इन भाव पक्षों मे सास्कृतिक पक्ष नारी का स्वरूप, प्रेम की अभिव्यजना आदि प्रमुख हैं। इस काव्य म वेद पुराण कालीन सस्कृति का ही मुख्य रूप से चित्रण हुआ है। यदि इस काव्य म वर्णित सामाजिक परिस्थितियो पर विचार किया जाए तो यह निष्कष सहज ही निकल आता है कि समाज म आश्रम व्यवस्था का महत्व था। आठ प्रकार के विवाहों म ब्राह्म विवाह गान्धव विवाह तथा राक्षस विवाह विशेष रूप से प्रचलित थे। पुरुरवा का गन्ध मादन पवत पर उवशी के साथ जाना और परस्पर प्रेम मे आबद्ध होकर विवाह कर लेना गान्धव विवाह है किन्तु कवि ने उवशी के मुख से स्पष्ट रूप से कहलवाया है कि उस समय राक्षस विवाह म भी लोग अपना गौरव मानते थे—

> 'जिन्हें प्रेम से उद्वेलित विक्रमी पुरुष बलशाली
> रण से लाते जीत या कि बल सहित हरण करते हैं।'

उवशी मे राजा प्रजा, ऋषि तथा ब्राह्मणो की यज्ञो के प्रति श्रद्धा का पूर्ण वणन मिलता है। पुरुरवा द्वारा पुत्र इच्छा के लिए नमियेय यज्ञ करना इस बात का प्रमाण है—

> 'एक वष पर्यन्त गन्ध मादन पर विचरेंगे।
> प्रत्यागत हो नमियेय नामक शुभ यज्ञ करेंगे।'

कहने का भाव यह है कि सास्कृतिक तत्त्वों की दृष्टि से उवशी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है प्राचीन भारतीय सस्कृति का जितना सजीव और यथार्थ वर्णन इस कृति म हुआ है वैसा कम ही देखने मे आता है।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि 'दिनकर' जागरूक साहित्यकार हैं। वे चाहे जिस युग को अपने काव्य का प्रतिपाद्य बनाएँ किन्तु इनकी आँखें सदैव अपने युग पर ही रहती हैं। उर्वशी में नारी के स्वरूप चित्रण में भी इनकी यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप में परिलक्षित होती है। आज का युग हिन्दी साहित्य के उन युगों से भिन्न है जब नारी को केवल काम की पुत्तलिका और भोग की सामग्री माना जाता था जब कवियों की दृष्टि नारी के केवल शरीर तक ही पहुँच पाती थी उसकी आत्मा में पैठने की शक्ति कवियों में नहीं थी आज के समाज में नारी का स्थान पुरुष की भाँति ही समाज का महत्त्वपूर्ण अंग मान लिया गया है। दिनकर ने लिखा है—नारी के भीतर एक नारी है जो अगोचर और इन्द्रियातीत है। इस नारी का सन्धान पुरुष तब पाता है जब शरीर की धारा उछालते उछालते उसे मन के समुद्र में फेंक देती है जब दैहिक चेतना से परे वह प्रेम की दुर्गम समाधि में पहुँच कर निःस्पन्द हो जाता है।' नारी के भाव स्वरूप का चित्रण करने के लिए कवि ने उर्वशी में नारी के अनेक रूपों का वर्णन किया है। इन रूपों में नारी का उच्छृंखल रूप नारी का प्रेमिका रूप, नारी का पत्नी रूप और नारी का माता रूप प्रमुख है। उर्वशी में एक सच्ची और स्वयं-समर्पित प्रेमिका की वे सभी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं जो एक आदर्श प्रेमिका में होनी चाहिए। किन्तु उसके व्यक्तित्व की सीमा यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती भावना के अथाह सागर में विचरण करते हुए भी उसका चिंतन बना रहता है। वह कामना और बुद्धि का पार्थक्य इन शब्दों में करती है—

'रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी,
क्योंकि बुद्धि सोचती और शोणित अनुभव करता है।
निरी बुद्धि की निर्मितियाँ निष्प्राण हुआ करती हैं,
चित्र और प्रतिमा, इनमें जो जीवन लहराता है,
वह सूत्रों से नहीं, पत्र पाषाणों में आया है,
कलाकार के अन्तर के हिलकोरे हुए रुधिर से।

कहने का तात्पर्य यह है कि 'उर्वशी' में नारी के बाह्य और आभ्यन्तर दोनों रूपों का सफलतापूर्वक चित्रण हुआ है। नारी अपने बाह्य रूप में जितना सुन्दर होती है, आभ्यन्तर रूप में उतनी ही उन्नत होता है। इस प्रकार प्रस्तुत कृति में नारी के स्वरूप का परम्परामुक्त वर्णन करके कवि ने नारी को महत्त्वपूर्ण स्थान समाज में प्रतिष्ठित किया है।

उर्वशी में व्यक्त प्रेम शरीर के उस धरातल से प्रारम्भ होता है जिसमें वासना का अनल अहर्निश धधकता रहता है, किन्तु आगे चलकर यह तन की

अतिक्रमण करके अत्यन्त व्यापक और उदात्त रूप ग्रहण कर लेता है। इस परिवर्तन के मूल में कवि की यह भावना निहित है—

> 'कवि, प्रेमी एक ही तत्व हैं, तन की सुन्दरता से
> दोनों मुग्ध, देह से दोनों बहुत दूर जाते हैं,
> उस अनन्त में, जो अमूर्त धागों से बांध रहा है
> सभी दृश्य सुषमाओं को अविगत, अदृश्य सत्ता से।

कवि की इन कृतियों पर विहगावलोकन करने से ही यह निष्कर्ष सहज ही निकल आता है कि कवि का भावक्षेत्र बहुत ही व्यापक है। किन्तु इस क्षेत्र में दो भाव प्रमुख रूप से उभरते हैं—राष्ट्रीय चेतना और सांस्कृतिक चेतना। इसीलिए इन्हें कुछ आलोचकों ने राष्ट्र कवि भी मान लिया है।

जहाँ तक 'दिनकर' के काव्य के कलापक्ष का सम्बन्ध है यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि इनका कलापक्ष भावपक्ष का उत्कर्ष करने वाला है। कहीं भी कवि ने ऐसा सायास शब्द विन्यास नहीं किया कि किसी प्रकार की क्षति भावों को पहुंचे। भाव चाहे जैसे हों कवि ने उनकी अभिव्यक्ति सरलतम भाषा में करके उन्हें अधिक सम्प्रेषणीय बना दिया है। यथा—

> पाप हो सकता नहीं वह युद्ध है
> जो खड़ा होता ज्वलित प्रतिशोध पर
> छीनता हो स्वत्व कोई और तू
> त्याग तप से काम ले, यह पाप है,
> पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे
> बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ हो।'

इन पंक्तियों में युद्ध की अनिवार्यता का निरूपण नितान्त बोधगम्य भी है और प्रभावशाली भी। छन्द की गति से प्रभावशीलता और भी अधिक बढ़ जाती है। इसी प्रकार—

> 'देखा है ग्रामों की अनेक रम्भाओं को,
> जिनकी आभा पर धूल अभी तक छायी है?
> रेशमी देह पर जिन अभागिनों की अब तक,
> रेशम क्या? साड़ी सही नहीं चढ़ पायी है।
> पर, तुम नगरों के लाल, अमीरी के पतले
> क्यों व्यथा भाग्यहीनों की मन में लाओगे?
> जलता हो सारा देश, किन्तु होकर अधीर
> तुम दौड़-दौड़ कर क्यों यह आग बुझाओगे?

इन पंक्तियों में कवि ने ग्रामीण जीवन के अभावों का और पूँजीपतियों का उनके प्रति उपेक्षा भाव का अत्यन्त सजीव एवं मार्मिक चित्रण किया है। इन पंक्तियों में वर्णित भावों के ममझने में और प्रभाव को ग्रहण करने में किसी प्रकार की बाधा नहीं होती। अन्त में कहा जा सकता है कि 'दिनकर' का भाव पक्ष जितना समृद्ध है कला पक्ष भी उसकी समृद्धि का उद्घाटन करने में उतना ही सफल है। यही कारण है, आधुनिक कवियों में दिनकर का मूर्धन्य स्थान है।

श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन'

प्रगतिवादी काव्य में श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' का नाम उन कवियों में लिया जाता है जिन्होंने इस काव्यधारा को जीवन और गति प्रदान की है। अब तक इनके छः कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं— हिल्लोल, जीवन के गान, प्रलय-सृजन, विश्वास बढ़ता ही गया, पर आँखें नहीं भरीं और विन्ध्य हिमालय। इन संग्रहों की कविताओं को पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि की भावधारा का विकास एक सुनिश्चित दिशा में होता रहा है।

हिल्लोल

'हिल्लोल' कवि के मन के उन आवेगों को अभिव्यक्त करता है जो प्रायः असफल प्रेमी के जीवन में आया करते हैं। प्रेम की असफलता व्यक्ति को निराशा के उस धरातल पर ले जाता है जहाँ जीवन के प्रति उसकी आस्था का विघटन हो जाता है और वह नियतिवादी तथा जीवन की क्षणभंगुरता पर विश्वास करने वाला बन जाता है। जीवन की क्षणभंगुरता का भय उसके मन में इतना अधिक समा जाता है कि वह शीघ्रातिशीघ्र प्रेमानन्द को पाने के लिए उन्मीलित हो उठता है। ऐसा ही उद्वेलन सुमन की इन पंक्तियों में है—

> 'हम तुम दोनों में यौवन है, दोनों में आकर्षण
> दोनों कल मुरझा जाएँगे, कर क्षण भर मधु वर्षण।

असफल प्रेम भावों में इतना अधिक आवेग भर देता है कि वे कविता के रूप में स्वतः फूट पड़ते हैं। वस्तुतः वह कविता नहीं वरन् व्यथित मन का वह आश्रय-स्थल है जहाँ वह अपनी व्यथा कह कर अथवा अपने को भुलावा देकर कुछ क्षणों के लिए सुख पा लेता है। 'सुमन' ने अपनी कविता को ऐसा ही क्या माना है—

> 'मेरे उर में जो निहित व्यथा, कविता तो उसकी एक कथा,
> छन्दों में रो गाकर ही मैं, क्षण भर को कुछ सुख पा जाता।'

व्यथित व्यक्ति की व्यथा का एक कारण यह भी होता है कि वह केवल स्वय को ही दुखी समझता है और सारे ससार को सुखी। यदि वह इस प्रकार न सोचे तो उसकी व्यथा की मात्रा कम हो जायेगी, इसलिए ऐसा सोचना स्वाभाविक है। ऐसा ही भाव 'सुमन' को व्यथित मन मे भी उदित होता है—

'है सारा ससार सुखी क्या, केवल मैं ही एक दुखी क्या,
यही समझ धीरज धर लेता, यह निष्फल सा जीवन मेरा।'

मन का औदात्य केवल अपनी ही व्यथा मे निमग्न हो जाना नही है वरन् अपनी व्यथा के माध्यम से अन्य जनो की व्यथा को भी समझना है और उसे दूर करने का सकल्प करना है। प्रस्तुत सग्रह की 'सघर्ष प्रणय' कविता मे कवि ने मन का ऐसा ही औदात्य व्यक्त हुआ है—

'विस्तृत पथ है मेरे आगे उस पर ही मुझको चलना है।
चिर शोषित असहायों के सग, अत्याचारों को दलना है।'

वस्तुत यही से कवि के प्रगतिशील विचारो का जन्म होता है जो आगे चलकर पूर्णरूप स पल्लवित और पुष्पित हुए हैं।

जीवन के गान

'हिल्लोल' की कतिपय कविताएँ इस बात का स्पष्ट सकेत देती हैं कि कवि के मन म प्रगतिशीलता के बीज पड गये थे और वह समझने लगा था कि मानव सघर्ष की सफलता का मूल श्रमिक वर्ग के सामूहिक सघर्ष मे है। कवि की यही विचारधारा प्रस्तुत सकलन की कविताओं में इतनी अधिक स्पष्ट हुई है कि इस विचारधारा को कवि की धारणा का मुख्य अग माना जा सकता है। हिल्लोल' म कवि के मन म बार बार जो विरह मिलन की आकुलतामयी भावनाएँ उमडती थी वे 'जीवन के गान' मे बिल्कुल परिलक्षित नही होती। यहाँ कवि की भावना सामाजिक धरातल पर उतर कर प्रगतिशील समाज की रचना को आतुर दिखाई देती है। यही कारण है कि सामाजिक विषमता म समाज के विघटन को देखकर कवि का मन पूँजीवाद के विरुद्ध आक्रोश से भर जाता है और वह कह उठता है—

'हाय यहाँ मानव मानव में समता का व्यवहार नहीं है।
हाहाकारों की दुनिया में सपनों का ससार नहीं है।
इसीलिए अपने स्वप्नों को मुट्ठी में मलता जाता हूँ।

कवि इस विषमता को ध्वस कर देना चाहता है, चाहे इसके लिए कितने ही परिवर्तन अपेक्षित हो। इसीलिए वह किसान मजदूरों को क्राति के लिए

उद्घाटित करता है—

> 'अत्याचारों की छाती पर तुम बढ़े घनो
> तुम बढ़े घना।'

कवि का यह दृढ़ विश्वास है कि किसान-मजदूरों का ज्वार में क्रांति जो पनप रही है वह एक दिन सफल होकर ही रहेगा। इसीलिए वह पूँजीपतियों का मजाक करता हुआ कहता है—

> 'बच नहीं सकते दबाकर
> कान में उँगली लगाकर
> यह विषम ज्वाला जगाकर
> ध्वंस होगा तख्त यू टूटेगा तुम्हारा ताज
> सुन रहे हो क्रांति की आवाज ?
> घूस कर जिसका निचोड़ा
> रक्त भी जिसका न छोड़ा
> वह लिए हँसिया हथौड़ा
> कर चुका है नोच फन की कोनी होली आज,
> सुन रहे हो क्रांति की आवाज ?'

वस्तुतः इस संकलन में कवि का प्रगतिवादी भावना अपने चरमोत्कर्ष पर दिखाई देता है।

प्रलय-सृजन

इस संकलन में भी कवि की वे कविताएँ संकलित हैं जो उसके प्रगतिशील विचारों का प्रतिनिधित्व करती हैं। यह सच है कि इन कविताओं में ऐसा आवेग तथा आक्रोश नहीं है जैसा जीवन के गान संकलन की कविताओं में मिलता है, किन्तु इसमें विदेशी दासता से देश को मुक्त करने की और बलिदान देने की भावना अपेक्षाकृत अधिक दृढ़ता से व्यक्त हुई है। इन कविताओं में कवि ने बंगाल के अकाल और इसकी लाल सेना की प्रशस्तियाँ भी प्रस्तुत की हैं। इस प्रकार इस संकलन की कविताओं में कवि का प्रगतिवादी रूप पर्याप्त सतर्क हो गया है।

विश्वास बढ़ता ही गया

इस संकलन की कविताओं में स्पष्ट है कि कवि का जन-संघर्ष और जन शक्ति के प्रसार, साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के विनाश तथा एक नए समाज और नए विश्व की स्थापना के लिए विश्वास दृढ़तर हो गया है। इसी विश्वास के कारण इस संकलन की कविताओं में निराशा आदि अभावात्मक भाव नहीं

मिलते, वरन् स्थान-स्थान पर कवि की आस्था, विश्वास और दृढता का समन्वित स्वर मुखरित है। कवि का दृष्टिकोण इतना व्यापक हो गया है कि वह देश को सीमाओ को छोडकर समूची विश्व की जनता की स्वतन्त्रता के लिए सघर्षशील होने की कामना करता है और मुक्त-कठ से उसका अभिनन्दन करता है। 'आज देश की मिटटी बोल उठी है' नामक कविता मे कवि ने अपनी ये विचारधाराए अत्यत प्रभावपूर्ण रीति से व्यक्त की हैं।

पर आँखें नहीं भरी

देश की स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त भारतीय समाज म अनेक आभ्यन्तर और बाह्य परिवर्तन आते हैं। इन परिवर्तनो के साथ ही 'सुमन' की विचार धारा भी परिवर्तित होती है इनकी कविताआ मे नया मोड स्पष्ट हो जाता है। इनकी वाणी में अब वह तीव्रता तथा प्रखरता नही रही जो स्वतत्रता से पूर्व थी। *ऐसा प्रतीत होता है कि कवि की वाणी अपना लक्ष्य पाकर पर्याप्त* शिथिल हो गई है और कवि के लिए केवल यही कामना करनी शेष रह गयी है—

'मानवता का यह अतिम विजय समर हो।
पद दलितों का पावन सकल्प अमर हो।'

इस सकलन की कविताआ से ऐसा प्रतीत होता है जैसे कवि कहने के लिए और कुछ शेष न पाकर अपने प्रणय तथा प्रकृति के चिर परिचित क्षेत्र की ओर बढ़ गया है। अन्तर केवल इतना है कि कवि की प्रणय सम्बन्धी कविताओ में पहले जो कुठा जन्य आवेश था वह इस काल के प्रणय गीतों मे नही मिलता। इसके स्थान पर एक प्रकार की सयम-साधित तरलता ही दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिए 'शरद सी तुम कर रही होगी कहीं शृगार' कविता म कवि की विचारधारा का यह परिवर्तन देखा जा सकता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि कवि की विचारधारा का विकास एक निश्चित दशा म होता रहा है।

जहा तक भाषा का सम्बन्ध है, इनकी भाषा सरल और प्रभावपूर्ण है। तुकान्त और अतुकान्त छदो के द्वारा कवि ने समान प्रभाव की सृष्टि करके अपनी कुशलता का परिचय दिया है। इनकी भाषा मे यदि छायावादी भाषा का सौष्ठव दिखाई देता है—

'जीवन के कुसुमित उपवन में
गुजित मधुमय कण कण होगा

नाव के कुछ सपने हों
मदमाता-सा यौवन होगा
यौवन की उद्दलता में।
पथ भूल न जाना पथिक कहीं।'

तो प्रगतिवादी भाषा का अनगल्पना भी मिलता है—

'निमम कुम्हार की थापों से
कितने रूपों में कुटी पिटी
हर बार बिखेरी गई किन्तु
मिट्टी फिर भी तो नहीं मिटी
आशा में निश्छल पल जाये, छलना में पड़कर छल जाये
सूरज दमके तो तप जाये, रजनी ठुमके तो ढल जाये
यों तो बच्चों की गुड़िया-सी भोली मिट्टी की हस्ती क्या
आंधी आये तो उड़ जाये पानी बरसे तो गल जाये
फसलें उगती, फसलें कटती लेकिन धरती चिर उर्वर है
सौ बार बने सौ बार मिटे लेकिन मिट्टी अविनश्वर है,
मिट्टी गल जाती पर उसका विश्वास अमर हो जाता है।

अतः कहा जा सकता है कि सुमनजी की भाषा समृद्ध और सब प्रकार के भावों को व्यक्त करने की क्षमता रखती है।

श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' आधुनिक युग के प्रमुखतम कवि और प्रयोगवाद के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनकी काव्य-साधना का विवेचन करने के लिए विवेच्य विषय को स्थूल रूप से तीन वर्गों में विभाजित करना उपयुक्त है—

१ रस-योजना
२ अनुभूति पक्ष
३ अभिव्यक्ति पक्ष

रस-योजना

आधुनिक कवियों में 'रस' शब्द के प्रति एक प्रकार की वितृष्णा-सी परिलक्षित होती है। सम्भवतः इनकी यह वितृष्णा रस सिद्धान्त के प्रति नहीं वरन् रस सिद्धान्त की प्राचीनता अथवा रूढ़िवादिता के कारण है। वस कोई भी काव्य रस विहीन नहीं हो सकता और प्रकारान्तर से आधुनिक कवियों ने

भी रस की सत्ता और काव्य म उसके महत्व को स्वीकार किया है। केदार नाथसिंह ने स्पष्ट श≈दो मे कहा है—'रस की सत्ता से इकार करना काय का सत्ता से ही इकार करने के समान है।'' अनय की रस सम्बन्धी धारणाए भी स्पष्ट हैं, यद्यपि रस सिद्धात की महत्ता का इन्होंने आधुनिक शब्दावली मे व्यक्त किया है—प्रेषणीयता अब भी बुनियादी साहित्यिक मूल्य है और सम्प्रेषण साहित्यकार का बुनियादी काम, किन्तु बदलती हुई परिस्थितियो मे प्रेषय वस्तु और प्रेषण के साघन दानों बदल गये हैं। यह लेखक का जानना है पाठक का समझना है और आलोचक को मानना है। वाक्सिद्ध कवि भी बडा है लेकिन और भी बडा कवि रससिद्ध है।' यदि अनेय' की समस्त रस विपयक मान्यताओं का विवेचन किया जाय तो इनकी एतद्विषयक धारणाएँ भारतीय काव्यशास्त्र के पर्याप्त अनुरूप दिखाई देती हैं।

विभिन्न रसो का प्रयाम अनेय' के काव्य मे सहज ही मिल जाता है। यथा—

मजरी की गध भारी हो गई है
अलस है गुजार भौंरे की
अलस और उदास
बलान्त पिक रह रह तडप कर कूकता है
जा रहा मधुमास
मुसकराते रूप
तुम कदाचित न भी जानो
यह विदा है।'

इन पक्तियो मे रति स्थायी भाव है। मधुमास रति स्थायी भाव का आलम्बन और उदास प्रकृति आश्रय है। मधुमास का जाना विभाव है। मजरी की गध का भारी हाना, भौंरें की गुजार का अलस और उदास होना पिक का रह रहकर तडपना अनुभाव है। निर्वेदादि सचारा भाव हैं। इस प्रकार यहा सभी अपेक्षित रसागो के द्वारा विप्रलम्भ शृङ्गार का प्रभावशालिनी अभिव्यक्ति हुई है। और—

'दो बन पारावत बठे हैं।
मधु आगमन से उनमें जागी कोई दुर्निवार झंकार—
क्योंकि प्रकृति लय से हैं मिले हुए उनके प्राणों के तार।
कुछ माँग रही इठला-इठला

निज उच्छल गरिमा मे विवस।
चचल कपोत की मद कला।
मधुम्य की मधुला क्रीड़ा।
हर घुटी कपोती की व्रीडा।

इन पक्तियो म सयोग शृगार इसकी अभिव्यक्ति है जो पारावत क जोडे रति स्थायी भाव म मधु-आगमन उद्दीपन विभाव म चचल कपोत की नाचना आदि अनुभवो म और उन्माद लज्जा चचलता आदि सचारी भावो से निष्पन्न हुई है।

कहने का भाव यह है कि यद्यपि प्राचीन कवियो की भाति रस योजना का दुराग्रह अज्ञेय के काव्य म नही है तथापि सद्धान्तिक दृष्टि स उन्होंने रस सिद्धान्त के महत्व को स्वीकार किया है और व्यावहारिक दृष्टि स इसका सफल प्रयोग भी किया है। 'अज्ञेय' सवत्र नवीनता के विधाता हैं इसलिए रस प्रयोग म भी इनकी नवीनता सहज ही परिलक्षित हो जाती है। यथा— नवीन आलम्बनों की सृष्टि एक भाव की अभिव्यक्ति के लिए एकाधिक आलम्बनो का प्रयोग केवल सचारी भावो स ही रसाभिव्यजना की सिद्धि आदि।

अनुभूति पक्ष

अज्ञेय के अनुभूति पक्ष का क्षेत्र अत्यत विस्तृत है। इसका कारण यह है कि इन्होने मुक्तक गीतो की ही रचना की है और एक गीत में इन्होने जीवन और जगत् के एकाधिक पक्षों का उद्घाटन किया है। अत इनके अनुभूति पक्ष पर विचार करने के लिए इनकी काव्य कृतियो पर प्रकाश डालना उपयुक्त प्रतीत होता है। इनके प्रमुख काव्य सग्रह हैं भग्नदूत, चिन्ता इत्यलम् हरी घास पर क्षण भर, बावरा अहेरी, इन्द्रधनु रौंदे हुए ये अरी ओ करुणा प्रभामय, आगन के पार द्वार और कितनी नावो म कितनी बार।

'भग्नदूत' कवि की प्रारम्भिक कविताओं का सग्रह है जिसम कवि के मानस पर व्याप्त प्रणय भावो का सजीव चित्रण है। एक आलोचक के शब्दो म— 'भग्नदूत शीर्षक तरुणवय के उस सुखद आत्मपीडन की सूचना देता है जिसम ग्रस्त होकर युवक बहुधा यह कल्पना करता है कि वह एक बहुत बडे उद्देश्य के लिए अवतरित हुआ था किन्तु निष्फल प्रणय के मानसिक आघात ने उसे जर्जर और निष्प्राण कर दिया।' वस्तुत इस सकलन की कविताएँ असफल प्रेम के द्वारा उत्पन्न विद्रोह की काव्यात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं। इस प्रकार इस सकलन का मुख्य प्रतिपाद्य प्रणय भावना है। इस भावना की सफल

सथा सजीव अभिव्यक्ति करने म कवि सवत्र सफलता मिली है। यथा—

'तू जाने किस किस जीवन के विच्छेदों की पीड़ा,
नभ के कोने-कोने में आ धींज व्यथा का बोजा।
विफले! विश्व क्षेत्र में खो जा!'

इन पक्तिया म कवि की समग्र व्यथामयी विफलता साकार हो उठी है।

चिंता' म कवि ने मानव-प्रणय की भूमिका पर स्त्री और पुरुष के सम्बन्धों का का्यात्मक विश्लेषण किया है। स्वय कवि के शब्दों म— पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध पति और पत्नी का नही, चिरतन पुरुष और चिरतन स्त्री का सम्बन्ध अनिवायत एक गतिशील (Dynamic) सम्बन्ध है। पुरुष और स्त्री की परस्पर अव स्थिति एक कषण की अवस्था है। वह शक्ति आकषण का रूप ले अथवा विकषण का × × × नाटकीय भाषा म हम इस पुरुष और स्त्री का चिरतन सघष कह सकते हैं।' यही मूल सघष 'चिन्ता का विषय है। यह सकलन दो खण्डो म विभाजित है—विश्व प्रिया और एकायन। विश्वप्रिया मे पुरुष की प्रणय-अनुभूति का स्वरूप वर्णित है और एकायन मे स्त्री की प्रणयानुभूति का। पुरुष नारी के प्रति आकृष्ट तो होता है, किन्तु उसम स्वाभिमान की भावना को देखकर उसको ललकारता है—

'तोड दूंगा मैं तुम्हारा आज यह अभिमान
तुम हँसी कह दो कि अब उत्मग वजित है
छोड दूं कैसे भला मैं जो अभीप्सित है
कौपयत सिमटी रहे यह चाहती नारी
खोल लेने, लूट लेने का पुरुष अधिकारी'

इस ललकार का प्रत्युत्तर देती हुई नारी कहती है—"पुरुष! जो मैं दीखती हू वह मैं नही हूँ किन्तु जो मैं हू उसे मत ललकरो! तुम क्या सचमुच ही मानते हो कि मैं केवल मोम की पुत्तलिका हू कोमल चिक्ना। मुझमें भी उत्ताप है, मुझम भी दीप्ति है मैं भी एक प्रखर ज्वाला हूँ।'

'इत्यलम काव्य-सकलन में कवि की अनुभूति और भी समद्ध दिखाई देती है। इस सकलन की कविताओं को बन्दी-स्वप्न हिया हारिल, वचना के दुग और मिट्टी की ईहा इन चार भागो म विभक्त किया गया। बन्दी स्वप्न की अधिकाश कविताएँ स्वय कवि के बन्दी-जीवन से सम्बद्ध हैं इसलिय इनमे कवि का विद्रोह और राष्ट्र प्रेम ही प्रमुख रूप से प्रकट हुआ है। यथा—

'तुम्हारा यह उद्धत विद्रोही
घिरा हुआ है जग से, पर है सदा अलग निर्मोही

जीवन सागर हहर हहर कर
उसे लीलने आता ऊपर
पर यह बढ़ता ही जाएगा लहरों पर आरोही ।

इन पंक्तियों में कवि का विद्रोही रूप स्पष्ट है। इसी भाग में अन्य अनेक ऐसी कविताएँ हैं जिनमें भारत माँ के प्रति कवि का भावपूर्ण समर्पण है। हारिल पक्षी का प्रयोग कवि ने प्रतीकात्मक रूप में किया है। अतः यह कवि के जीवन का उसकी सजग चेष्टा का और उसकी गतिशील जीवनानुभूति का प्रतीक है। 'इत्यलम्' में अधिकांश कविताएँ प्रतीकात्मक और रहस्यात्मक हैं किन्तु इनका रहस्य व्यक्तिवादी सीमा में आबद्ध है। वस्तुतः बात यह है कि 'इत्यलम्' का प्रारम्भ राष्ट्रीय चेतना से प्रारम्भ होकर रहस्य चेतना में पर्यवसित होता है।

'हरी घास पर क्षण भर' काव्य संकलन कवि के प्रौढ़ काव्यत्व का परिचायक है। इस संकलन की अधिकांश कविताएँ रहस्यात्मक तथा आत्म बोध सूचक हैं। यथा—

द्वीप हैं हम
यह नहीं है शाप
यह अपनी नियति है
× × ×
यदि ऐसा कभी हो
यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा कीर्तिनाशा घोर
काल प्रवाहिनी बन जाए
तो हमें स्वीकार है वह भी उसी में रेत होकर
फिर छनेंगे हम, जमेंगे हम, कहीं फिर पैर टेकेंगे।
कहीं फिर भी खड़ा होगा नए व्यक्तित्व का आकार।

इस कविता में कवि ने नद शब्दावली तथा धारा में भारतीय अन्तर्नाद का प्रतिपादन किया है।

'बावरा अहेरी' की अधिकांश कविताएँ आत्म तत्त्व प्रधान हैं। इस संकलन में अनुभूति पक्ष के साथ प्रतीकों की नई योजना इनकी अभिव्यक्ति पक्ष की प्रौढ़ता तथा क्षमता का सूचक है—

'भोर का बावरा अहेरी
पहले बिछाता है आलोक की
लाल-लाल कनियाँ

पर जब खीचता है जाल को
बाध लेता है सभी को साथ ।"

इन पक्तियो मे अहेरी को सूय का प्रतीक माना गया है जो अत्यत सशक्त तथा भावपूर्ण है।

'इन्द्रधनु रौंद हुए ये' की अधिकाश कविताएँ चितन प्रधान हैं। इस सकलन मे वर्णित प्रकृति भी सत्या वेषण का माध्यम बनी हुई है। इसीलिए इन कविताओ म कवि का गम्भीर चिन्तक रूप परिव्याप्त है।

अरी आ करुणा प्रभामय' सकलन की कविताएँ चार खण्डो म विभक्त हैं। इन कविताओ म माना मछली, द्वार हीन द्वार, हिरोशिमा टेर रहा सागर, आदि कविताएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हिरोशिमा म कवि यदि एटमबम की विनष्ट मानवता के प्रति अपनी अमित व्यथा को व्यक्त करता है तो टेर रहा सागर म प्रतीका के माध्यम स व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा का महत्व देता है—

अय हमारा
जितना है सागर में नहीं
हमारी मछली में हैं
सभी दिशा में सागर जिसको घेर रहा है।'

आँगन के पार द्वार' म कवि की काव्य-साधना का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप प्रकट होता है साथ ही रहस्यवाद की चरम परिणति भी इस सकलन म देखी जा सकती है। इस सकलन की कविताएँ अन्त सलिला, चक्रान्त शिला और असाध्य वीणा इन तीन शीर्षकों मे विभक्त हैं। इस सकलन में वस्तुत कवि रहस्यान्वेषी बन गया है।

कितनी नावा म कितनी बार' की कविताएँ कवि की अन्तमु खी भाव मयता को ही विशेष रूप से व्यजित करती हैं जिसके कारण सभी कविताएँ प्राय गम्भीरता से आवृत्त हैं।

इन काव्य सग्रहा के सिहावलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि का अनुभूति पक्ष अत्यत व्यापक है आन्तरिक और बाह्य जीवन के विभिन्न पक्षा स सम्बद्ध यह व्यापकता कवि की व्यापक काव्य प्रतिभा और लोक ज्ञान की परिचायिका है। कवि का अनुभूति पक्ष प्राय सुविचारित है भावा के सहज उच्छलन की मधुरिमा कम ही दृष्टिगोचर होती है।

अभिव्यक्ति पक्ष

अज्ञेय के अभिव्यक्ति पक्ष का विवेचन करने के लिए हम निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है—भाषा का स्वरूप, उपमान विधान, प्रतीक विधान, बिम्ब विधान और छन्द विधान।

१ भाषा का स्वरूप—भाषा भावाभिव्यक्ति का एक मात्र साधन है। भाव चाहे जितने उदात्त हों किन्तु यदि उन्हें व्यक्त करने वाली भाषा में तदनुकूल औदात्य और अपेक्षित सारल्य नहीं होता तो काव्य की सम्प्रेषणीयता में बाधा आ जाती है। 'अज्ञेय' जी का भी मन्तव्य है कि काव्य की भाषा यथासम्भव सरल होनी चाहिए। यह भी सत्य है कि 'अज्ञेय' स्वयं अपने इस मन्तव्य का पालन करने में पूर्णतया सफल नहीं हो सके हैं, किन्तु जहाँ तक सम्भव हो सका है इन्होंने अपनी भाषा को सरल रूप देने का ही प्रयास किया है।

शब्द-योजना की दृष्टि से अज्ञेय की भाषा के तीन रूप हैं—तत्सम प्रधान भाषा, सामान्य बोलचाल की भाषा और मिश्रित भाषा। तत्सम प्रधान भाषा में कवि ने संस्कृत शब्दावली का ही मुख्य रूप से प्रयोग किया है। जिसके कारण केवल शब्दार्थ ही नहीं वरन् समास शैली के कारण भाव भी कुछ-कुछ दुर्बोध से बन गए हैं। यथा—

कौन ऋतु है ? रात्रि क्या है ? कौनसा नक्षत्र गत शाका द्विपाहत
अभ्र लख भ्रू चाप सा नीचे प्रतीक्षा में स्तंभित निःशब्द ।

बोलचाल की भाषा अत्यन्त सरल है। इस भाषा की शब्दावली में कवि ने सरलतम शब्दों के साथ कहीं-कहीं आवश्यकतानुसार नए शब्दों की भी सृष्टि कर ली है। यथा—

सवेरे सवेरे
नहीं आती बुलबुल
x x x
जगे ही जागा
कहीं पर अभागा
अड्डाता है कागा
काँय ! काँय ! काँय !

इन पंक्तियों में प्रचलिततम शब्दों का प्रयोग है किन्तु अड्डाता और काँय शब्द कवि की अपनी सृष्टि है।

मिश्रित भाषा म कवि की भाषा म विभिन्न भाषाओ के शब्दो के प्रयोग हैं जो वक्तव्य को व्यक्त करने म पर्याप्त सहायक हैं। यथा—

'लट की मली झालर के पीछे से
बोलेगी
दया कीजिए ज टिलमन
और लगेगा झूठा जिसके स्वर का दद।

कहने का तात्पय यह ह कि 'अज्ञेय' की शब्द-योजना मे अन्य भाषाओ के शब्दो का प्रयोग यद्यपि पर्याप्त हुआ है तथापि वे प्रयोग कवि के वक्तव्य को व्यक्त करने मे सफल ही सिद्ध हुए हैं, उनस कवि की भाषा म कही भी अस्तव्यस्तता परिलक्षित नहीं हाती।

२ उपमान विधान—'अज्ञेय' के उपमान विधान म यद्यपि परम्परागत उपमानों के प्रयाग भी मिलते हैं किन्तु ऐसे प्रयोग विरल हैं। नवीन उपमानो के प्रति इनका आग्रह ही नही दुराग्रह सा बन गया है क्योकि इनकी मान्यता है कि परम्परागत उपमानो का अत्यधिक प्रचलन हाने के कारण उनम भाव-प्रवणता नही रह गई है। जिस प्रकार बतन को अत्यधिक रगडने से उसका मुलम्मा छूट जाता है उसी प्रकार प्राचीन उपमानो मे निहित अथ भी समाप्त हो गए हैं—

'ये उपमान मले हो गए हैं।
देवता इन प्रतीकों के कर गए हैं कूच,
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।'

'अज्ञय के उपमान विधान को दो वर्गों के अन्तगत रखा जा सकता है— मूत्त उपमान तथा अमूत्त उपमान। मूत्त उपमान विधान मे कवि ने अपने उपमानो का सचयन प्राय प्रकृति-क्षेत्र से किया है। यथा—

'तुम पवत हो अभ्र भेदी शिला-खण्डों के गरिष्ठ पुज
चापे इस निझर को रहो, रहो
तुम्हारे रन्ध्र रन्ध्र से
तुम्हीं को रस देता हुआ
फूट कर मैं बहूँगा।'

इन पक्तियों में पवत और निझर का प्रयाग उपमान रूप मे हुआ है। यद्यपि ये उपमान अत्यन्त प्राचीन हैं तथापि कवि ने जिस प्रकार से इनका प्रयाग यहा पर किया है उससे इनमें अथ की दृष्टि स कुछ नवीनता ही आ

गई है—

'न जाने मछलियाँ हैं या नहीं
आँखें तुम्हारी
किन्तु मेरी दीप्त जीवन चेतना निश्चय नहीं है
हर लहर की ओर जिसका
उन्हीं की गति काँपती सी
जी रही है
पिरोती सी रश्मियाँ
हर बूँद में।

यहाँ पर मछलियाँ नदी लहर आदि का प्रयोग उपमान रूप में नवीन अर्थों का वाचक है। निम्नलिखित पंक्तियों में तो द्वीप शब्द की उपमान रूप में संयोजना एकदम नवीन है—

'हम नदी के द्वीप हैं
हम नहीं कहते कि हमको छोड़कर स्रोतस्विनी बह जाए।
वह हमें आकार देती है।'

यद्यपि 'अज्ञेय' ने मूर्त उपमानों का ही अधिक प्रयोग किया है किन्तु अमूर्त उपमानों का भी पर्याप्त प्रयोग इनके काव्य में मिलता है। इन उपमानों में गुण तथा धर्म साम्य ही अधिक है। यथा—

'भर
नदी के कूल के चल नरसल
भर नदी का उमड़ा हुआ जल
ज्यों क्वाँरपने की कंचुल में
यौवन की गति उद्दाम प्रबल।

इन पंक्तियों में क्वाँर यौवन की गति को उपमान रूप में ग्रहण करके नदी की गति से उपमित किया गया है। दोनों ही अमूर्त हैं। इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्तियों में वर्षाकालीन पृथ्वी को वासना के पंक से उपमित किया गया है—

'वासना के पंक सी फैली हुई थी
धारयित्री सत्य सी निर्लज्ज नंगी
औ समर्पित।

कहने का अभिप्राय यह ह कि अज्ञेय' का उपमान विधान, नवीन होते हुए भी भावो की सबल अभिव्यक्ति म पूणरूपण सफल हैं।

३ प्रतीक विधान—'अज्ञेय' का प्रतीक विधान भी अत्यन्त विस्तृत एव समद्ध है। अध्ययन की सुविधा के लिए अज्ञेय द्वारा प्रयुक्त प्रतीको को इन वर्गों म विभाजित किया जा सकता है—सामान्य प्रतीक नवीन प्रतीक, वयक्तिक प्रतीक और यौन प्रतीक।

सामान्य प्रतीकों को रूढ़ प्रतीक कहा जा सकता है। इन प्रतीको मे परम्परागत रूढ अथ निहित हैं। परम्परा के प्रबल विरोधी होते हुए भी अज्ञेय न ऐसे प्रतीको का प्रयोग किया है। यथा—

मेरे हृदय रक्त की लाली इसक तन में छाई है।
किन्तु मुझे तज दीप शिखा ने पर से प्रीत लगाई है।
इस पर मरते देख पतगे नहीं चैन मैं पाती हूँ—
अपना भी परकीय हुआ यह देख जली मैं जाती हूँ।'

इन पक्तियो म दीपशिखा और पतगा परम्परागत प्रतीक है और परम्परागत अथ मे प्रयुक्त हुए हैं।

नवीन प्रतीको से तात्पय उन प्रतीकों म है जिनका परम्परागत अथ बदल गया है। ऐसे प्रतीको का प्रयोग 'अज्ञेय के काव्य म प्रचुरता से मिलता है। यथा—

'हम निहारते रूप
काँच के पीछे हाँप रही है मछली
रूप तृषा भी
(और काँच के पीछे) है जिजीविषा।

इन पक्तियो म मछली का प्रतीकाथ वह जीवन है जो रगीन स्वप्नो तथा विस्मयो से परिपूर्ण है। और—

'अभी अभी जो
उजली मछली
भेद गयी है
सेतु पर खडे मेरी छाया'

यहाँ पर मछली का अथ सत्यानुभूति है जो अहकार आदि पूर्वाग्रहो से

मुक्त है। और—

> 'सागर में ऊभ-डूब करती खाली बोतल
> जाने किनारे कब क (और कहाँ पर)
> यही दो घड़ी सुख की साथी
> और यह सागर जिसे नहीं है
> देश-काल का ओर-छोर
> नहीं है इपाकार।'

इन पंक्तियों म खाली बोतल नगर-नारी का और सागर' मधपपूर्ण समाज का प्रतीक है। य प्रतीक ता परम्परागत हैं किन्तु इनमें निहित प्रतीकार्थ कवि द्वारा आविभूत है।

जिन प्रतीकों का सृजन स्वयं अज्ञेय' ने किया है उन्हें वयक्तिक प्रतीक वर्ग के अन्तर्गत रखा गया है। इन प्रतीकों का प्रयोग अभी तक प्राय अज्ञेय काव्य तक ही सीमित है। इसमें सन्देह नहीं कि य प्रतीक भी कवि की भावानुभूति की अभिव्यक्ति करने म पूर्णत सफल हैं। यथा—

> हम बालू के तट पर—
> (किसका तट, जो अनहान फैला ही फला
> दीठ जहाँ तक भी जाती है)
> बैठे हम अवसन्न भाव से पूँछ रहे
> कहाँ गया वह ज्वार,
> हमारा जीवन वह हिल्लोलित सागर कब
> कहाँ गया ?

न पंक्तियों म बालू तट हिल्लोलित सागर अज्ञेय द्वारा प्रणीत प्रतीक हैं। जो क्रमश वृद्धावस्था और उत्साह भावों की अभिव्यक्ति करते हैं।

यद्यपि अज्ञेय क वयक्तिक प्रतीक प्राय गम्य हैं किन्तु कुछ ऐसे प्रतीकों का भी कवि ने प्रयोग कर दिया है जिनका प्रतीकार्थ समझ लेना सहज नहीं है। इन प्रतीकों के द्वारा कवि ने भक्तिकालीन रहस्यवादी साहित्य का स्मरण करा दिया है।

यौन भावना आज के मानव का एक प्राकृतिक प्रवृत्ति-सी बन गई है। आज का मानव यौन-परिकल्पनाओं म लगा हुआ है जिसके कारण वह दमित और कुण्ठित है। स्वाभाविक उनकी कविता म यौन प्रतीकों का प्रयोग प्रचुरता म होना स्वाभाविक ही है। अज्ञेय की अनेक कविताओं म यथा सावन मेघ' हरी घास पर क्षण भर' जब पपीहे ने पुकारा सागर के किनारे आदि

कविताओ मे यौन प्रतीको का पर्याप्त प्रयाग है। उदाहरण के लिए सावन मेघ कविता की य पक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

> 'घिर गया नभ उमड आए मेघ काले
> भूमि में कपित उरोजों पर भुका सा
> विशद, श्वासाहत, चिरातुर
> छा गया इन्द्र का नील वक्ष—
> वज्र सा, यदि तडित सा भुलसा हुआ-सा।'

इन पक्तियों म प्रकृति का माध्यम लेकर कवि ने यौन भावना की अभि-व्यक्ति की है।

इस विवेचना से यह निष्कप निकालना कठिन नही है कि अज्ञेय' की प्रतीक योजना हिन्दी-साहित्य के लिए अत्यन्त महत्त्वपूण है। इन प्रतीकों की नवीनता प्राय सम्बद्ध अर्थों म बाधक नही होती किन्तु कहीं कही अत्यधिक वैयक्तिकता या बौद्धिकता के कारण दुरूहता परिलक्षित हाती है किन्तु ऐसे स्थल अधिक नही हैं।

४ बिम्ब विधान—अज्ञेय का य म बिम्ब विधान अत्यन्त विशद है। स्थूल रूप से इस चार वर्गों म विभाजित किया जा सकता है—दृश्य बिम्ब, मानम बिम्ब अलकृत बिम्ब और यौन बिम्ब।

दश्य बिम्ब मे कवि साधारण भाषा के द्वारा वण्य वस्तु का ऐसा चित्रण प्रस्तुत करता ह कि वह चित्र पाठका की आँखो के सामने भूमने लगता है। 'अज्ञेय' ने इस प्रकार के अनेक बिम्ब विधान प्रस्तत किए हैं। यथा—

> 'रात भर घेर घेर
> आते, आते रहे बादर
> मेरे सोते
> बरसती रही बरसात
> भरते रहे पात
> बनाते से चादर-गलीचा
> प्रात तक नीचे दब
> खो गया सोता

इन पक्तिया म प्रकृति के यथातथ्य चित्रण के माध्यम से अनेक दृश्य बिम्ब की योजना भावानुभूति की अभिव्यक्ति म सहायक हैं।

मानस बिम्बो म विशेष रूप स सम्वेदना अस्पष्ट और उलझी हुई होती है। ये बिम्ब अपनी गठनात्मकता के कारण धुंधले होते हुए भी अनुभूति

प्रधान होते हैं। यथा—

> 'पार्वगिरि का नम्र चाटों में
> ऊपर चढ़ती उमगों सी
> बिछी परों में नदी ज्यों दद की रेखा।
> विहग शिशु मौन-नीड़ों में
> मैंने आँख भर देखा।

इन पंक्तियों में 'अज्ञेय' ने जिन अप्रस्तुतों की योजना की है उनकी अमूर्तता ने मानस बिम्ब का रूप धारण करके अनुभूति को अधिक मार्मिक बना दिया है।

'अज्ञेय' के काव्य में अलंकृत बिम्बों की भी कमी नहीं है। इन बिम्बों में कवि ने अलंकारों के द्वारा अपनी भावाभिव्यक्ति को अलंकृत करके संवेदनीय बनाया है। यथा—

> 'पति सेवा रत साँझ
> उचकता देख पराया चाँद
> लजा कर ओट हो गयी।'

इन पंक्तियों में रूपकातिशयोक्ति के द्वारा जो बिम्ब 'अज्ञेय' ने प्रस्तुत किया है वह अत्यन्त सजीव है। जिस प्रकार कोई कुलीन पत्नी पति की सेवा में लीन होते हुए भी यदि किसी अन्य पुरुष को देख लेती है तो वह लजाकर छिप जाती है इसी प्रकार सन्ध्या रूपी नारी पति की सेवा में संलग्न थी कि चाँद रूपी पर पुरुष के आगमन के कारण लजाकर छिप गई।

'अज्ञेय' के काव्य में यौन बिम्ब विधान अपेक्षाकृत अधिक व्यापक हैं। इनके द्वारा प्रस्तुत यौन बिम्ब अत्यंत सजीव और मादक भी हैं। यथा—

> 'सो रहा झोंप अँधियाला
> नदी की जाँघ पर
> डाह से सिहरा हुई यह चाँदना
> चोर पैरों से उझक कर
> झाँक जाती है।

इन पंक्तियों में अँधियाला नायक का, नदी नायिका की और चाँदनी उपनायिका का प्रतीक है। नदी की जाँघ पर अँधकार के द्वारा सिर रख कर सोना यौन बिम्ब है।

'अज्ञेय' के यौन बिम्बों को देखकर यह निष्कर्ष निकालना दुर्गम नहीं है कि इन्होंने शृंगारिक रस की अभिव्यंजना अत्यंत सशक्त एवं प्रभावशाली ढंग

मे की ह। इनकी यौन बिम्ब योजना को आधार यनाकर यदि यह कहा जाए कि प्रयोगवादी कवियो पर जो वासना के उ मुक्त चित्रण का आरोप हैं वह सीमा प्रयोगवाद की नही वरन वणन करने वाले स्वय कवि की है तो अनुचित न होगा।

अत में कहा जा मक्ता है कि अज्ञेय ने जिन बिम्बो का विधान अपने का य म किया ह वे नवान होते हुए भी भावाभिव्यजना मे पूणतया सक्षम और कवि की विलक्षण का्य प्रतिमा के परिचायक हैं। डॉ० केदार शर्मा ने अज्ञेय के बिम्ब विधान का मूल्याकन करते हुए लिखा है— अज्ञेय ने अपनी कविताओ म जो बिम्ब दिए हैं वे स्पष्ट अनुभूतिगम्य और सजीव व चित्राकन पद्धति का सही और असली रूप प्रस्तुत करते हैं।"

५ छ द विधान—'अज्ञेय के छ द विधान का विवेचन करने के लिए इसे इन वर्गों म विभाजित किया जा सकता है—विशुद्ध परम्परागत् प्राचीन छ द, किंचित् परिवर्तित परम्परागत छ द, परम्परागत् छ दों के योग से बनाए गए मिश्रित छ द और नए छ द। परम्परागत् प्राचीन छ दों का प्रयोग अज्ञेय' के काव्य मे इतना अधिक मिलता हैं कि इस आधिक्य को देखकर इस क्षेत्र मे इन्हें भी परम्परावादी मानने में सकोच नहीं होता। प्राचीन छ दों मे दाकहर समान सवाई सरसी ताटक, रूपमाला, चन्द्र, बरवै छ द का प्रयाग कवि ने विशेष रूप से किया है जो प्राचीन नियमों के अनुसार ह। यथा—

> 'साझ हुई सब ओर निशा ने फलाया निज चीर,
> नभ से अजन बरस रहा है नहीं दीखता तीर।
> कि तु सुनो मुग्धा बधुओं के चरणों का गम्भीर,
> किंकिण नूपुर शब्द लिये आता है म द समीर।'

इस पद्य मे सोलह ग्यारह पर यति और अत म गुरु लघु होने के कारण सरसी छन्द है। और—

> 'क्षण आते हैं जाते हैं जीवन गति चलती जाती है
> ओठ अनमने रहें काल की मदिरा ढलती जाती है।
> घूम घुमडता है फिर भी तमपट फटता ही जाता है,
> स्नेह बिना भी इस प्रदीप की बाती जलती जाती है।

इस पद्य म ताटक छद ह क्योकि इसमें १६ १४ पर यति और अन्त में तीना गुरु वण हैं।

परिवर्तित किए गए परम्परागत छ दों में 'अज्ञेय' ने या तो यति स्थान का परिवतन किया है या अ त गुरु लघु योजना में परिवतन किया ह या

छन्द को इस ढग से लिखा है कि वह परम्परागत होता हुआ भी मुक्त छन्द सा जान पडता है। यथा—

> 'अच्छी कु ठा रहित इकाई
> साँचे ढले समाज से,
> अच्छा अपना ठाठ फकीरी
> मँगनी के सुख साज से।

इन पक्तियों को यदि दो पक्तियों में लिखा जाए तो इनमें अत्यल्प परिवर्तन के साथ मराठा माधवी स्पष्ट हो जाता है।

मिश्रित छन्दो मे एक या एकाधिक छन्दों का सयोग किया गया है। यथा—

> 'रक्षा हा ! इस बन्धन से ही रक्षित मैं रह पाता
> भूले जीवन की अनमूली स्मृतियों को न जगाता
> बिछुड गए जो बन्धु न उनके दर्शन की सुध करता
> दूर हुआ जो दग न उसकी याद कभी मन धरता।

यहाँ प्रथम दो पक्तियो मे सार तथा अतिम दो पक्तियों मे हरीगीतिका छन्द है।

'अज्ञेय' ने उपयुक्त छन्द प्रयोगो की अपेक्षा मुक्त छन्द का ही अधिक प्रयोग किया है। मुक्त छन्द मे लय की प्रधानता होती है। अज्ञेय ने आज की काव्य भाषा के लिए लयात्मकता को उसका अभिन्न अग माना है। अज्ञेय की लय सयोजना सर्वत्र भावानुसारिणी है।

अत कहा जा सकता है कि 'अज्ञेय' का अनुभूति पक्ष जितना भावमय है अभिव्यक्ति पक्ष उसको व्यक्त करने मे उतना ही समर्थ तथा सबल है। इन दोनों पक्षो का मणिकांचन सयोग सिद्धहस्त कवियो के काव्य मे ही मिलता है। निस्सन्देह, 'अज्ञेय' इस पद के अधिकारी हैं।

श्री भवानी प्रसाद मिश्र

श्री भवानी प्रसाद मिश्र आज के नये कवियों द्वारा समर्थित किसी वाद विशेष के हामी न बनकर अपने काव्य पथ पर केवल भावनाओं का सबल लेकर अकेले ही बढ़े चले जा रहे हैं। भावना प्रवण कवि की सबसे बड़ी विशेषता यही तो होती है कि वह किसी वाद की परिधि मे बँधकर अपनी भावधारा को कुण्ठित

नहीं बना देता। उसकी दृष्टि मे सारी धरती ही उर्वर होती है—

> 'मैं किसी वाद का हामी हूँ,
> औ' किसी वाद का विद्रोही,
> ना – नहीं,
> यह खूबी है मेरे बीजों की कौन कहे
> मैं सारी ही धरती को उवर पाता हूँ।'

यही कारण है कि ये किसी भी कवि-खेमे मे सम्मिलित न होकर अपना एक माग स्वय चुनकर उस पर बडी ईमानदारी और सफलता से नित आगे ही आगे बढे चले जा रहे हैं। इनके का य की प्रमुखतम विशेषताएँ हैं—

१ व्यापक सामाजिक चेतना
२ प्रकृति प्रेम
३ अकृतिम अभिव्यक्ति

व्यापक सामाजिक चेतना

प्रत्येक नये कवि मे सामाजिक चेतना मिलती है, क्योकि वह समाज से कटकर नही वरन् उसका एक अभिन्न अग बनकर उसमे रहता है, उसकी विभिन्न परिस्थितियो को भोगता है और उन्हें आत्मसात् करके अपनी वाणी के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, किन्तु जितनी व्यापक सामाजिक चेतना मिश्र जी म मिलती है उतनी अन्य कवियों मे दिखाई नही देती। अपनी व्यापक सामाजिक चेतना के कारण ही कवि इतना सकरुण है कि वह किसी भी व्यक्ति के दुख को नही देख पाता। वह चाहता है कि इस ससार के दुख को दूर करने के लिए सुखी व्यक्ति यथाशक्ति अपने सुख को न्यौछावर कर दे, अपने निष्कपट मदुल हास से दुखियो के हृदयों को शीतल बना दे—

> 'इस दुखी ससार में जितना बने हम सुख लुटा दें
> बन सके तो निष्कपट मदु हास के दो कन जुटा दें।'

कवि का विश्वास है कि सामाजिक दुख का मूल कारण मनुष्यों के हृदय का अन्तर है। प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे की उपेक्षा करता है स्वय सुखी बनने के लिए दूसरों के सुख भाग को छीन लेता है अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए वह प्रत्येक के साथ बदी करता है उसे धोखा देता है उसके साथ विश्वासघात करता है। दुख और विषमता क इस मूल कारण को नष्ट करने क लिए पारस्परिक घृणा और फूट को दूर करना अत्यन्त आवश्यक है। इसी भाव को कवि इन शब्दों मे व्यक्त करता है—

> 'हर बदी में नेकी का हिस्सा है, मेरे नेक! समझो,
> मौत के इस उजेले में आदमी को एक समझो।'

छन्द को इस ढंग से लिया है कि वह परम्परागत होता हुआ भी मुक्त छन्द सा जान पड़ता है। यथा—

> 'अच्छी कुंठा रहित इकाई
> साँचे ढले समाज से,
> अच्छा अपना ठाठ फकीरी
> मँगनी के सुख-साज से।

इन पंक्तियों को यदि गद्य पंक्तियों में लिखा जाए तो इनमें अत्यन्त परिवर्तन के साथ मराठी मोघवा स्पष्ट हो जाता है।

मिश्रित छन्दों में एक या एकाधिक छन्दों का संयोग किया गया है। यथा—

> 'रक्षा हो! इस बंधन से ही रंजित मैं रह पाता
> भूले जीवन की अनभूली स्मृतियों को न जगाता
> बिछुड़ गए जो बन्धु न उनके दर्शन की सुध करता
> दूर हुआ जो देश न उसकी याद कभी मन धरता।'

यहाँ प्रथम दो पंक्तियों में सार तथा अंतिम दो पंक्तियों में हरिगीतिका छन्द है।

'अज्ञेय' ने उपर्युक्त छन्द प्रयोगों की अपेक्षा मुक्त छन्द का ही अधिक प्रयोग किया है। मुक्त छन्द में लय की प्रधानता होती है। अज्ञेय ने आज का काव्य भाषा के लिए लयात्मकता को उसका अभिन्न अंग माना है। अज्ञेय की लय संयोजना सर्वत्र भावानुसारिणी है।

अतः कहा जा सकता है कि 'अज्ञेय' का अनुभूति पक्ष जितना भावमय है अभिव्यक्ति पक्ष उसको व्यक्त करने में उतना ही समर्थ तथा सबल है। इन दोनों पक्षों का मणिकांचन-संयोग सिद्धहस्त कवियों के काव्य में ही मिलता है। निस्सन्देह 'अज्ञेय' इस पद के अधिकारी हैं।

श्री भवानी प्रसाद मिश्र

श्री भवानी प्रसाद मिश्र आज के नये कवियों द्वारा समर्थित किसी वाद विशेष के हामी न बनकर अपने काव्य-पथ पर केवल भावनाओं का सबल लेकर अकेले ही बढ़े चले जा रहे हैं। भावना प्रवण कवि की सबसे बड़ी विशेषता यही तो होती है कि वह किसी वाद की परिधि में बँधकर अपनी भावधारा को बन्दिनी

नहीं बना देता। उसकी दृष्टि में सारी धरती ही उर्वर होती है—

'मैं किसी वाद का हामी हूँ,
औ' किसी वाद का विद्रोही
ना—नहीं,
वह सूखी है मेरे बीजों को कौन कहे
मैं सारी ही धरती को उवर पाता हूँ।'

यही कारण है कि ये किसी भी कवि-गेमे में सम्मिलित न होकर अपना एक मार्ग स्वय चुनकर उस पर बड़ी ईमानदारी और सफलता से नित आगे ही आगे बढ़े चले जा रहे हैं। इनके काव्य की प्रमुखतम विशेषताएँ हैं—

१ व्यापक सामाजिक चेतना
२ प्रकृति प्रेम
३ अकृतिम अभिव्यक्ति

व्यापक सामाजिक चेतना

प्रत्यक नय कवि मे सामाजिक चेतना मिलती है, क्योंकि वह समाज से कटकर नहीं, वरन् उसका एक अभिन्न अंग बनकर उसमें रहता है, उसकी विभिन्न परिस्थितियों को भोगता है और उन्हें आत्मसात् करके अपनी वाणी के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, किन्तु जितनी व्यापक सामाजिक चेतना मिश्र जी मे मिलती है उतनी अन्य कवियों मे दिखाई नहीं देती। अपनी व्यापक सामाजिक चेतना के कारण ही कवि इतना सकरुण है कि वह किसी भी व्यक्ति के दुख को नहीं देख पाता। वह चाहता है कि इस ससार के दुख को दूर करने के लिए सुखी व्यक्ति यथाशक्ति अपने सुख को न्यौछावर कर दे, अपने निष्कपट मृदुल हास से दुखियो के हृदयों को शीतल बना दे—

'इस दुखी ससार में जितना बने हम सुख लुटा दें,
बन सके तो निष्कपट मृदु हास के दो कन जुटा दें।'

कवि का विश्वास है कि सामाजिक दुख का मूल कारण मनुष्यों के हृदयो का अन्तर है। प्रत्यक मनुष्य एक दूसरे की उपक्षा करता है स्वय सुखी बनने के लिए दूसरों के सुख भाग को छीन लेता है, अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए वह प्रत्येक के साथ बदी करता है उसे धोखा देता है उसके साथ विश्वासघात करता है। दुख और विषमता के इस मूल कारण को नष्ट करने के लिए पारस्परिक घृणा और फूट को दूर करना अत्यन्त आवश्यक है। इसी भाव को कवि इन शब्दों में व्यक्त करता है—

'हर बदी में नेक का हिस्सा है, मेरे नेक! समझो,
मौत के इस उजेले में आदमी को एक समझो।'

कवि का उल्लास अन्य जनों के उल्लास में निहित है। वह सभी को तो प्रसन्न चित्त देखना चाहता है। वह अपने उल्लास को वितरित करके भोगना चाहता है इसीलिए जब आषाढ़ के मेघ आकाश पर छा जाते हैं तो प्रफुल्लित कवि धरती पुत्र किसान के हृदय की उमंगों को उभारता है—

'अगर आषाढ़ के पहले दिवस के इस प्रथम क्षण में
यहाँ हलधर अधिक भाता है कालिदास के मन में
तो मुझको क्षमा कर देना

कहीं-कहीं तो कवि की सामाजिक चेतना इतनी प्रबल हो जाती है कि वह अपना स्वाभाविक कवि रूप छोड़कर उपदेशक का रूप ग्रहण कर लेता है। कवि के इस रूप को यद्यपि काव्य की दृष्टि से दुर्बल पक्ष कहा जा सकता है किन्तु मानवता की दृष्टि से यह पक्ष वरेण्य है क्योंकि इसमें कवि की अतिशय मानवतावादिता ही निहित है। 'स्नेह पथ', 'निष्ठाओं के पार', 'नये घोड़ों' आदि कविताएँ ऐसी ही हैं।

मिश्र जी की दृष्टि समाज के उस यथार्थ धरातल पर भी निरन्तर जाती है जहाँ सामाजिक विषमता के कारण हर वर्ग की स्थिति बिगड़ी हुई है यहाँ तक कि कवि-वर्ग को भी अपने जीवन निर्वाह के लिए अपने सिद्धान्तों तथा आदर्शों को छोड़कर ऐसे गीत लिखने पड़ रहे हैं जो समाज को पसन्द हों और जिनसे कवि को कुछ मिल सके। अपनी 'गीत फरोश' कविता में कवि ने आधुनिक कवियों की सिद्धान्तहीनता का सजीव वर्णन किया है। यथा—

'जी हाँ हुजूर मैं गीत बेचता हूँ
मैं तरह-तरह के गीत बेचता हूँ
मैं सभी किसिम के गीत बेचता हूँ

'गीतों को बेचने' की ध्वनि में कवियों की दशा का कितना मर्मान्तक चित्रण है इसे कोई भी सहृदय सहज ही समझ सकता है।

प्रकृति प्रेम

प्रकृति और काव्य का अनादिकाल से ही अविच्छिन्न सम्बन्ध रहा है। कवि ने प्रकृति के विविध रूपों में अपनी भावनाओं को पाला पोसा है और अनेक रूपों में अपने काव्य में उनका चित्रण किया है। निम्नलिखित पंक्तियों में प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण है किन्तु यह चित्रण परम्परागत चित्रण से कुछ भिन्न है—

'पी के फूटे आज प्यार के पानी बरसा री
हरियाली छा गई हमारे सावन सरसा री।

रुनझुन बिछिया, आज हिला डुल मेरी बेनीरी
ऊँचे ऊँचे पग, हिंडोला सरग नसैनी री।'

कहीं-कहीं कवि न भावों की पृष्ठभूमि के रूप में भी प्रकृति का सजीव तथा प्रभावशाली चित्रण किया है। यथा —

'सतपुड़ा के घने जंगल, ऊँघते अनमने जंगल
झाड़ ऊँचे और नीचे, चुप खड़े हैं आँख मीचे
घास चुप है कास चुप है, मूक शाल पलाश चुप है'

इसी प्रकार के और भी अनेक उदाहरण मिश्र जी की कविताओं म अनायास ही मिल जाते हैं। इन उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकालना दुष्कर नहीं कि मिश्र जी ने प्रकृति के प्रति अपने अपार प्रेम को व्यक्त करने के साथ साथ प्रकृति का भावानुकूल प्रयोग भी किया है। इनके काव्य म प्रकृति केवल अपनी वैविध्यपूर्ण छटा को दिखाने के लिए नहीं आती वरन् कवि के भावों को अधिक सुन्दर और अधिक सम्प्रेषणीय भी बनाती है।

अकृत्रिम अभिव्यक्ति

यद्यपि मिश्र जी, आधुनिक कवियों मे, अपने ढंग के अकेले ही कवि हैं किन्तु अभिव्यक्ति अथवा कलापक्ष के क्षेत्र मे इनकी यह विलक्षणता और भी अधिक उजागर है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आज का कवि नवीनता के मोह में पड़कर इतना दुराग्रही बन गया है कि वह अपने काव्य के अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों पक्षों को दुरूह बनाने म भी संकोच नहीं करता। यही कारण है नयी कविता दुरूह है, साधारण पाठक तो इसे किसी प्रकार भी नहीं समझ पाते। यही कारण है कि नयी कविता एक सीमित दायरे म बन्दिनी होकर ही रह गई है इसके विशेष पाठकों के अतिरिक्त न तो अन्यत्र इसका समादार है और न इसके प्रति अभिरुचि ही। मिश्र जी भी यद्यपि नवीनता के हामी हैं। किन्तु ये नवीनता के नाम पर दुर्बोधता को स्वीकार करने के लिए तयार नहीं हैं। नये सन्दर्भ की चिनगारी नामक कविता म इन्होंने अपने इस मन्तव्य को इन शब्दों म व्यक्त किया है—

'सन्दर्भ पुराने हो सकते हैं
नये हो सकते हैं
यह संयोग है
कि मन मेरा
आज
एक नया सन्दर्भ

मगर दिखना तो चाहिए
पुराने शब्दों से
नये इस सन्दर्भ की चिनगारी'

इससे स्पष्ट है कि मिश्र जी ऐसी नवीनता का तिरस्कार करते हैं जो सहज बोधगम्य नहीं होती। ऐसी नवीनता ही तो काव्य को दुर्बोध और असम्प्रेषणीय बनाती है, ऐसी नवीनता ही तो कवि को उस स्थिति में डाल देती है जिसमें वह अपने भावों के क्षेत्र से बहुत दूर चला जाता है, अपने वक्तव्य भावों को ठीक प्रकार से पकड़ नहीं पाता। मिश्र जी के अनुसार कोई भी काव्य तभी सफल तथा सम्प्रेषणीय बन सकता है जब वह उसी भाव से सम्पृक्त हो जो कवि की पकड़ में आ गया है। अपने विषय में इन्होंने लिखा है— मैंने अपनी कविता में प्रायः वही लिखा है जो मेरी ठीक पकड़ में आ गया है, दूर की कौड़ी लाने की महत्त्वाकांक्षा भी मैंने नहीं की। बहुत मामूली रोजमर्रा के सुख दुख मैंने इनमें कहे हैं जिनका एक शब्द भी किसी को ममझाना नहीं पड़ता।' यदि मिश्र जी के काव्य के परिवेश में इस कथन पर विचार किया जाय तो इसकी सत्यता को चुनौती नहीं दी जा सकती। इन्होंने जो कुछ भी कहा है वह नवीनता लिए हुए भी सहज बोधगम्य है। नये उपमानों का यह प्रयोग कितना अधिक भावोत्कर्षक है—

'कमर जैसे कलाई टूट जाये
हिम्मत जैसे घड़ी फूट जाये
तबीयत
कुछ नये ढंग से खराब हुई है
सोचने की इच्छा लगभग शराब हुई है

इन पंक्तियों में नये उपमानों का प्रयोग है किन्तु इन प्रयोगों से वक्तव्य में किसी प्रकार की दुर्बोधता नहीं आई है वरन् भावों में अधिक उत्कर्षकता आ गई है। इसी प्रकार—

'सूखी डाली जैसे किसी हरे पेड़ की
पेड़ से कटकर ही हो सकती है काम की
मेरे उदास खयाल लगभग उसी तरह
ताये जा सकते हैं दूर वहाँ
हँसी खुशी की महफिल में

इन पंक्तियों में प्रयुक्त उपमान भी नवीन हैं, किन्तु प्रकृति के उस वातावरण से लिया गया है जिससे सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी परिचित होता है। कौन नहीं जानता कि पेड़ से कटकर ही लकड़ी मनुष्य के उद्देश्यों की पूर्ति

करती है। इस साधारण सी घटना को लेकर कवि ने अपनी मन स्थिति का जो उद्‌घाटन किया है वह अत्यन्त सजीव हो उठा है और कवि की सूक्ष्म दृष्टि का प्रमाणित करता है।

गम्भीर से गम्भीर बात को भी सीधे और प्रभावशाली ढग से कहने की मिश्र जी म पूण क्षमता है। यथा—

'शरीर और फसलें
कविता और फूल
सब एक हैं
सबको बोना बखरना गोडना
पडता है
सत्य हो शिव हो सुन्दर हो
आखिरकार इन सबको
किसी न किसी पल
तोडना पडता है'

इन पक्तियो म कवि ने काव्य के विषय मे एक अत्यन्त गम्भीर सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है किन्तु अत्यधिक सरल शब्दा म और शली म। इसी प्रकार—

'मेरा आज का मन
एक नया सन्दभ है
मगर ऐसा नया भी नहीं
कि लगाव न हो उसका
किसी पुराने के साथ
लगाव के बिना
कुछ भी नहीं रह सकता
विच्छिन्न कुछ भी रह सकता
तो दिखती कई चीजें विच्छिन्न
क्योंकि मन तो होता है
कई बार बिल्कुल विच्छिन्न
जी सकने का
या मर सकने का विच्छिन्न

अत कहा जा सकता है कि नये कवियो म सबसे पथक रहकर मिश्र जी अपने लिए जो माग प्रशस्त कर रहे हैं और व जिस पर स्वय चल भी रहे हैं वह नयी कविता का एक अत्यन्त स्वस्थ विकास कहा जा सकता है।

श्री गजानन माधव 'मुक्तिवोध'

आधुनिक काव्य जगत् म श्री गजानन माधव मुक्तिवोध' एक ऐसे कवि हैं जो अपने व्यक्तित्व मे हा नही अपन जीवन दशन और काव्य दशन म भी सबसे प्रथक और विलक्षण है। इहोने जीवन को जिस प्रकार से भोगा, आनन्द पक्ष की अपेक्षा उसके तिक्त पक्ष का ही अधिक अनुभव किया, यह जीवन इनके दशन और काव्य म पूणरूपेण परिव्याप्त है। काव्य म कवि का व्यक्तित्व पूणतया अभिव्यक्त होता है यह सिद्धान्त इनके काव्य के सदभ म शत प्रतिशत शुद्ध तथा सटीक है।

'मुक्तिबोध' का अभी तक केवल एक ही काव्य-सकलन प्रकाशित हुआ है—'चाँद का मुँह टेढ़ा है' यह सकलन भी इनकी मृत्यु के पश्चात श्रीकांत वर्मा ने किया है। इस सकलन के विषय म इहोने लिखा है— मुक्तिबोध अगर स्वस्थ होते तो पता नही अपनी कविताओ के सकलन किस प्रकार करते। शायद उन्होंने अपनी कविताए अधिक विवेक और परख के साथ चुनीं होती क्योंकि इन तमाम आत्मपरक कविताओं के कवि मुक्तिबोध न केवल दूसरों के प्रति बल्कि खुद अपने प्रति एक सही और तटस्थ दृष्टि रखते थे और दूसरा से या अपनों से उन्हें जो भी मोह रहा हो अपने-से मोह उन्हें कभी नही रहा।' इस सकलन म कवि की व कविताएँ सकलित हैं जो अधिकांशतया सन १९५४ से सन् १९६४ के बीच लिखी गई हैं। ये कविताएँ पर्याप्त लम्बी हैं। इसी सकलन म कवि की बहु चर्चित कविता अधरे में भी हैं। इसके विषय म शमशेर बहादुर का यह मन्तव्य उल्लेखनीय है— अधेरे' म मुक्तिबोध की एक ऐसी कविता है जिसमें उनकी काव्यात्मक शक्ति के अनेक तत्व घुल मिलकर एक महान् रचना की सृष्टि करते हैं जो रोमानी होते हुए भी अत्यधिक यथार्थवादी और एकदम आधुनिक है और किसी भी कसौटी पर उसको जाचा जाय मैं कहूगा कि यह आधुनिक युग की कविताओं म सर्वोपरि ठहरती है।' इसके अतिरिक्त भविष्यधारा गुहान्धकार का ओराग उटाग, लकड़ी का बना रावण चाँद का मुँह टेढ़ा है' मुझे पुकारती हुई कन पुकार' कल जो हमने चर्चा की थी आत्मा का यातमक फणिधर अन करण का आयतन' 'चम्बल का घाटी', आदि भी सशक्त कविताएँ हैं।

मुक्तिबोध' उन कवियों म से नही हैं जो अपने व्यक्तित्व को या भोगे हुए जीवन को अपने काव्य से विलग रखकर काव्य सृजन करते हैं। ऐसा काव्य कृत्रिम ही नही होता, वरन् अपरिमित प्रभाव से भी शून्य होता है। 'मुक्तिबोध के काव्य म इनका जीवन स्पष्ट स्वरों में मुखरित है। इनके जीवन परिचय म

यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि इन्होने जो जीवन जिया है, वह विषमताओं तथा अभावो का प्रबल पुंज है। इसीलिए इनके काव्य मे सरलता चाहे वह भावो की हो या शिल्प की, कम ही दिखाई देती है। जिस प्रकार इनका जीवन विभिन्न प्रभावो के गहन आवरणों से आच्छन्न है, उसी प्रकार इनका काव्य भी भावो की अनेक प्रकार की पर्तों से आवृत्त होता है। अपने काव्य की इस प्रवृत्ति का संकेत स्वयं कवि ने इन शब्दों में दिया है—

'स्वप्न के भीतर एक स्वप्न
विचारधारा के भीतर और
एक अन्य
सघन विचारधारा प्रच्छन्न !
कथ्य के भीतर एक अनुरोधी
विरुद्ध विपरीत
नेपथ्य संगीत !
मस्तिष्क के भीतर एक मस्तिष्क
उसके भी अन्दर एक और कक्ष
कक्ष के भीतर
एक गुप्त प्रकोष्ठ और
कोठे के सांवले गुहांधकार में
मजबूत संदूक
दृढ़, भारी भरकम
और उस संदूक के भीतर कोई बन्द है
यक्ष
या कि ओरांगउटांग हाय
अरे, डर है
न ओरांग उटांग कहीं छूट जाय
कहीं प्रत्यक्ष न यक्ष हो।'

ऐसी ही पर्तों मे 'मुक्तिबोध' के काव्य का वह भाव छिपा हुआ है जिसे अनेक प्रकार के हलके भीषण द्वन्द्व घेरे हुए हैं। इन द्वन्द्वों की दुवह सीमा को लाँघकर ही इनकी काव्य-चेतना ने जीवन के स्थूल और सूक्ष्म पक्षो में विचरण किया है। यही कारण है कि इनके काव्य मे जीवन—आन्तरिक और बाह्य—और समाज के विविध रूप तो अनायास ही मिल जाते हैं, किन्तु किसी एक दर्शन की सम्पूर्णता नही मिलती। इसका कारण स्वयं कवि ने इन शब्दों म व्यक्त किया है—'मेरे बाल मन की पहली भूख सौन्दय और दूसरी विश्व मानव

श्री गजानन माधव 'मुक्तिबोध'

आधुनिक काव्य जगत् में श्री गजानन माधव 'मुक्तिबोध' एक ऐसे कवि हैं जो अपने व्यक्तित्व में ही नहीं अपने जीवन दर्शन और काव्य दर्शन में भी सबसे पृथक और विलक्षण हैं। इन्होंने जीवन को जिस प्रकार से भोगा, आनन्द पक्ष की अपेक्षा उसके तिक्त पक्षों का ही अधिक अनुभव किया, वह जीवन इनके दर्शन और काव्य में पूर्णरूपेण परिव्याप्त है। काव्य में कवि का व्यक्तित्व पूर्णतया अभिव्यक्त होता है, यह सिद्धांत इनके काव्य के सम्बन्ध में शत प्रतिशत शुद्ध तथा सटीक है।

'मुक्तिबोध' का अभी तक केवल एक ही काव्य-संकलन प्रकाशित हुआ है—'चाँद का मुँह टेढ़ा है'। यह संकलन भी इनकी मृत्यु के पश्चात् श्रीकान्त वर्मा ने किया है। इस संकलन के विषय में इन्होंने लिखा है—'मुक्तिबोध अगर स्वस्थ होते तो पता नहीं अपनी कविताओं के संकलन किस प्रकार करते। शायद उन्होंने अपनी कविताएँ अधिक विवेक और परख के साथ चुनीं होतीं क्योंकि इन तमाम आत्मपरक कविताओं के कवि मुक्तिबोध न केवल दूसरों के प्रति बल्कि खुद अपने प्रति एक सही और तटस्थ दृष्टि रखते थे और दूसरों से या अपनों से उन्हें जो भी मोह रहा हो अपने से मोह उन्हें कभी नहीं रहा।' इस संकलन में कवि की वे कविताएँ संकलित हैं जो अधिकांशतया सन् १९५४ से सन् १९६४ के बीच लिखी गई हैं। ये कविताएँ पर्याप्त लम्बी हैं। इसी संकलन में कवि की बहुचर्चित कविता 'अंधेरे में' भी है। इसके विषय में शमशेर बहादुर का यह मन्तव्य उल्लेखनीय है—'अंधेरे में मुक्तिबोध की एक ऐसी कविता है जिसमें उनकी काव्यात्मक शक्ति के अनेक तत्व घुल मिलकर एक महान् रचना की सृष्टि करते हैं जो रोमानी होते हुए भी अत्यधिक यथार्थवादी और एकदम आधुनिक है और किसी भी कसौटी पर उसको जाँचा जाय मैं कहूँगा कि यह आधुनिक युग की कविताओं में सर्वोपरि ठहरती है।' इसके अतिरिक्त 'दिमागी गुहान्धकार का ओरांग उटांग', 'लकड़ी का बना रावण', 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', 'मुझे पुकारती हुई पुकार', 'भूल जो हमने चला की थी', 'एक स्वप्न कथा', 'मेरे...', 'अन्तःकरण का आयतन', 'चम्बल की घाटी', आदि भी सशक्त कविताएँ हैं।

'मुक्तिबोध' उन कवियों में से नहीं हैं जो अपने व्यक्तित्व को या भोगे हुए जीवन को अपने काव्य से विलग रखकर काव्य सर्जना करते हैं। ऐसा काव्य कृत्रिम ही नहीं होता, वरन् अपेक्षित प्रभाव से भी शून्य होता है। 'मुक्तिबोध' के काव्य में इनका जीवन स्पष्ट स्वरों में मुखरित है। इनके जीवन परिचय से

यह सहज ही ज्ञान हो जाता है कि इन्होने जो जीवन जिया है, वह विषमताओं तथा अभावो का प्रबल पुज है। इसीलिए इनके काव्य मे सरलता, चाहे वह भावो की हो या शिल्प की, कम ही दिखाई देती है। जिस प्रकार इनका जीवन विभिन्न प्रभावो के गहन आवरणों से आच्छन्न है उसी प्रकार इनका काव्य भी भावो की अनेक प्रकार की पर्तों से आवृत्त होता है। अपने काव्य की इस प्रवृत्ति का सकेत स्वय कवि ने इन शब्दों मे दिया है—

'स्वप्न के भीतर एक स्वप्न
विचारधारा के भीतर और
एक अन्य
सघन विचारधारा प्रच्छन्न!
कथ्य के भीतर एक अनुरोधी
विरुद्ध विपरीत
नेपथ्य सगीत!
मस्तिष्क के भीतर एक मस्तिष्क
उसके भी अन्दर एक और कक्ष
कक्ष के भीतर
एक गुप्त प्रकोष्ठ और
कोठे के सांवले गुहांधकार में
मजबूत सन्दूक
दृढ़, भारी भरकम
और उस सन्दूक के भीतर कोई बन्द है
यक्ष
या कि ओरांगउटांग हाय
अरे, डर है
न ओराग उटांग कहीं छूट जाय
कहीं प्रत्यक्ष न यक्ष हो।'

ऐसी ही पर्तों में 'मुक्तिबोध' के काव्य का वह भाव छिपा हुआ है जिसे अनेक प्रकार के हल्के भीषण द्वन्द्व घेरे हुए हैं। इन द्वन्द्वो की दुवह सीमा को लांघकर ही इनकी काव्य-चेतना ने जीवन के स्थूल और सूक्ष्म पक्षो म विचरण किया है। यही कारण है कि इनके काव्य मे जीवन—आन्तरिक और बाह्य—और समाज के विविध रूप तो अनायास ही मिल जाते हैं, किन्तु किसी एक दर्शन की सम्पूर्णता नहीं मिलती। इसका कारण स्वय कवि ने इन शब्दो म व्यक्त किया है—मेरे बाल मन की पहली भूख सौन्दर्य और दूसरी विश्व मानव

का मुक्तद्वन्द्व इन दोनों का संघर्ष मेरे साहित्यिक जीवन की पहली उलझन थी। इसका स्पष्ट वैज्ञानिक समाधान मुझे किसी से न मिला। परिणाम था कि इन आंतरिक द्वन्द्वों के कारण एक ही काव्य विषय नहीं रह सका। जीवन के एक ही बाज को लेकर मैं कोई सर्वांगपूर्ण दर्शन की मीनार खड़ी न कर सका।' फिर भी इनके काव्य में जीवन के अनेक पक्षों का उद्घाटन हुआ है। इनकी काव्य चेतना के प्रमुख पक्ष हैं—

१ सामाजिक चेतना
२ संग्राम की बहुलता
३ विद्रोहात्मकता
४ कलात्मक सौन्दर्य

सामाजिक चेतना

मुक्तिबोध' अत्यन्त भावुक और उदार थे। यही कारण था कि मानव जीवन का सुख यदि इन्हें सहज ही उल्लसित कर देता था तो दुख अपार वेदना से भर देता था। मानव दुख का विशेष कारण इन्हें सामाजिक विषमता में परिलक्षित हुआ, फलतः मार्क्सवादी दर्शन की ओर इनका झुकाव प्रारम्भिक जीवन में ही हो गया जो निरन्तर बढ़ता रहा। अतः प्रयोगवादी काव्य में जो मार्क्सवादी दर्शन का प्रभाव है उसका सर्वाधिक श्रेय इन्हीं को है। जिस प्रकार प्रगतिवादी कवि के काव्य में पूँजीवाद के प्रति गम्भीर आक्रोश है, वैसा ही आक्रोश इनके काव्य में भी देखा जाता है—

'तेरे हाथ में भी रोग-कृमि हैं उग्र
तेरा नाश तुझ पर क्रुद्ध, तुझ पर व्यग्र
मेरी ज्वाल जन की ज्वाल होकर एक
अपनी उष्णता से धो चलें अविवेक
तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ
तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ।'

पूँजीवाद के प्रति इनके मन में इतनी गम्भीर घृणा व्याप्त है कि ये उन प्रतीकों से भी घृणा करते हैं जो पूँजीवाद के द्योतक हैं। यही कारण है कि कामायनी की प्रतीक-योजना के कारण इन्होंने इस काव्य को बूर्जुआ मनोवृत्ति का काव्य तथा पूँजीवादी साहित्य का अन्तिम ध्वंस बताया है। ऐसी ही सामाजिक चेतना के कारण, इनके काव्य में जो तीक्ष्ण व्यंग्य मिलते हैं, वे समाज के रूप का ही चित्रण करते, समाज के प्रति कवि की प्रवृत्ति के भी सूचक हैं। आज का समाज कितना कृत्रिम बना हुआ है, इसके व्यवहार कितने प्रदर्शनपूर्ण

हैं, इनका सकेत कवि की इन निम्नलिखित पक्तियो से चलता है जो प्रखर व्यग्य से युक्त हैं—

'गाँधी की मूर्ति पर
बठे हुए घुग्घू ने
गाना शुरू किया,
हिचकी की ताल पर
टेलीफून खम्भों पर थमे हुए तारों ने
सटटे के ट्रक काल सुरों में
थर्राना और झनझनाना शुरू किया।
रात्रि का काला-स्याह
कनटोप पहने हुए
आसमान-बाबा ने हनुमान चालीसा
डूबी हुई बानी में गाना शुरू किया।'

समाज की कृत्रिमता को देखकर कवि का हृदय कितना क्षोभ और आक्रोश से भरा हुआ है, यह इन पक्तियों से स्पष्ट है। और—

'मानव मस्तक में से निकले
कछ ब्रह्मराक्षसों ने पहनी
गाँधी जी की टूटी चप्पल।'

यह आज की निकृष्ट स्वार्थों से भरी हुई राजनीति पर तीक्ष्ण व्यग्य है। इस व्यग्य से स्पष्ट है कि गाँधीजी के नाम पर आज के नेता किस प्रकार अपने स्वार्थों की पूर्ति कर रहे हैं। वे ऊपर से तो महान दिखाई देने का आडम्बर बनाये हुए हैं किन्तु उनका मन क्षुद्र प्रवृत्तियों से पूणतया भरा हुआ है। प्रखर सामाजिक चेतना के कारण कवि का चिन्तन यथार्थों से आबद्ध है, किन्तु कवि ने जीवन में जो कुछ भोगा है जगत् म जो-कुछ देखा है, उनके आधार पर कवि को यथाथ की भयानकता का इतना बोध हुआ है कि वह उसे स्याह पहाड कहने से भी नहीं हिचकिचाता—

'आज के अभाव के
व कल के उपवास के,
व परसों की मत्यु के,
दैन्य के, महा अपमान के, व क्षोभपूण
भयकर चिन्ता के उस पागल यथाथ का
दीखता पहाड—
स्याह।

स्पष्ट है कि 'मुक्तिबोध की सामाजिक चेतना प्रखर और बहुमुखी है। श्री शमशेर बहादुर ने लिखा है—'मुक्तिबोध ने छायावाद की सीमाएँ लाँघकर प्रगतिवाद से, मार्क्सी दर्शन से, प्रयोगवाद के अधिकांश हथियार सँभाल और उसकी स्वतन्त्रता मन्सूस कर, स्वतन्त्र कवि रूप में सब वादों और पार्टियों से ऊपर उठकर 'निराला' की मुखरी और खुला मानवतावादी परम्परा को बहुत आगे बढ़ाया।'

संत्रास की बहुलता

डॉ॰ रामविलास शर्मा ने 'मुक्तिबोध' के काव्य को असुरक्षित जीवन का काव्य बताया है। इस मान्यता का आधार यह है कि इनके काव्य में जीवन के आसमूलक भावों का चित्रण बहुलता से पाया जाता है। यथा—

'घनी रात, बादल रिमझिम है, दिशा मूक, निस्तब्ध वनान्तर।
व्यापक अंधकार में सिकुड़ी सोयी नर की बस्ती भयकर।
है निस्तब्ध गगन, रोती-सी सरिता धार चली गहराती।
जीवन-लीला को समाप्त कर मरण सेज पर है कोई नर।
बहुत संकुचित छोटा घर है, दीपालोकित फिर भी धुँधला
घनी रात बादल रिमझिम है दिशा मूक कवि का मन गीला।

इन पंक्तियों में प्रकृति के जिन उपकरणों का प्रयोग हुआ है, वे मन को किसी स्वस्थ भावना का व्यक्त नहीं करते वरन् एक ऐसा वातावरण प्रस्तुत करते हैं जिससे मन में भय और असुरक्षा के भावों का संचार होता है। ऐसे ही भाव मन में संत्रास उत्पन्न करने वाले होते हैं। समाज और समाज में पनपी हुई रूढ़ियाँ सामाजिक नियमों संघर्षों, वर्जनाओं आदि भाव संत्रास को उत्पन्न और उत्तेजित करने वाले होते हैं। कवि का स्वयं का जीवन आद्योपान्त विभिन्न संघर्षों से भरा हुआ रहा है इसलिए इसके काव्य में संत्रास की बहुलता होना स्वाभाविक ही है। अपने आन्तरिक संत्रास का संकेत देता हुआ कवि कहता है—

विवाद में हिस्सा लेता हुआ मैं
सुनता हूँ ध्यान से
अपने ही शब्दों का नाद, प्रवाह और
पाता हूँ अकस्मात्
स्वयं के स्वर में
ओरांगउटांग की बौखलाती हुँकृति ध्वनियाँ
एकाएक भयभीत

पाता हूँ पसीने से सिंचित
अपना यह नग्न मन।'

बाह्य परिस्थितियों से उद्भूत सन्त्रास भी कवि के काव्य में प्रचुरता से मिलता है। भौतिक अभाव की त्रासदी, वैज्ञानिक विकास और मनुष्य की चेतना, अतिशय विरोध और यान्त्रिक प्रभुत्व आदि ऐसे ही कारण हैं जो कवि की सन्त्रास-भावना को उत्तेजित करते हैं—

'रवि का प्रकाश
शशि का विकास —
पुंसत्वहीन नर का विकास।
ये सूर्य चन्द्र
नभ वक्ष लुब्ध
वे भ्रमित वासना के शिकार।
वे गगन दीन
वे रसिक क्षीण
पुंसत्वहीन वेश्या विहार।
इनका प्रकाश
जग के विशाल
शव का सफेद परिधान साफ।
है त्यक्त गेह
आत्मा अदेह
उड़ चली गटर से बनी भाफ।

इस प्रकार 'मुक्तिबोध' का काव्य सन्त्रास की बहुलता से पूर्ण है।

विद्रोहात्मकता

चूंकि कवि का जीवन संघर्षों से परिपूर्ण रहा है, इसलिए उसके विचारों में और स्वरों में विद्रोह की भावना का आ जाना स्वाभाविक ही है। कवि का विद्रोह भाव जितना समाज के प्रति है, उतना ही अपने प्रति भी है। कवि का हृदय नित्य प्रति ऐसे भावों से भरा रहता है जिनमें निरंतर संघर्ष होता रहता है जिसके कारण कवि घोर अवसाद और निराशा आदि भावों से आक्रान्त रहता है। निम्नलिखित पंक्तियाँ कवि के मन की ऐसी ही दशा को सूचित करती हैं—

'इसलिए मैं हर गली में
और हर सड़क पर
झांक-झांककर देखता हूँ हर एक चेहरा

प्रत्येक गति विधि
प्रत्येक चरित्र
व हर एक आत्मा का इतिहास
हर एक देश व राजनैतिक परिस्थिति
प्रत्येक मानवीय स्वानुभूत आदर्श
विवेक प्रक्रिया, क्रियागत परिणति।
खोजता हूँ पठार पहाड़ समुन्दर।
जहाँ मिल सके मुझे
मेरी वह खोयी हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्म।

आज का युग अर्थ-युग है। वह अन्य मान्यताओं को चाहे वे कितनी ही मूल्यवान क्यों न हों अर्थ को ही अधिक महत्त्व देता है। यही कारण है कि आज समस्त मानवीय विशेषताएँ सद्भावनाएँ अर्थ का कगार तथा भारी शिला के नीचे दबकर कराह रही हैं। युग की इस अनुचित प्रवृत्ति के प्रति मुक्तिबोध के मन में तीव्र आक्रोशात्मक विद्रोह है। अतः इसी विद्रोह के स्वर को वह दृष्टान्तस्वरूप की स्थिति के माध्यम से इन शब्दों में व्यक्त करता है—

'वे भाव-संगत तर्क संगत
कार्य-सामंजस्य योजित
समीकरणों के गणित की सीढ़ियाँ
हम छोड़ दें उनके लिए।
उस भाव-तर्क व कार्य-सामंजस्य योजन —
शोध में
सब पंडितों सब चिन्तकों के पास
वह गुरु प्राप्त करने के लिए
भटका !!
किन्तु—युग बदला व आया कीर्ति-व्यवसायी—
लाभकारी कार्य में से धन,
व धन में से हृदय मन,
और, धन अभिभूत अन्तःकरण में से
सत्य की झाईं
निरन्तर चिलचिलाती थी।
आत्म चेतस किन्तु इस

व्यक्तित्व मे भी प्राणमय अनवन
विश्व-चेतस बे बनाव ।'

'मुक्तिबोध' ने जब यह देखा कि जिन वीरो ने स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए अपना सर्वस्व स्वाहा कर दिया और उन्हें समाज ने यथोचित आदर तथा सम्मान नही दिया तो इनका हृदय विद्रोह स भभक उठा। 'एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्म-कथन' नामक कविता मे यह विद्रोह फूट पडा है। इस विद्रोह की चरम परिणति इन पक्तिया म मुखर है—

'किसी अन्य गम्भीर उदात्त
आवाज़ ने
चिल्लाकर घोषित किया—
'प्राथमिक शाला के
बच्चों के लिए एक
खुला खुला, धूप धूप भरा साफ
खेल-कूद मदान-सपाट अपार—
यों बनाया जायगा कि
पता भी न चलेगा कि
कभी महल था यहाँ भगवान इन्द्र का,
हम यहा ज़मीन के नीचे दबे हुए हैं।'

कहने का तात्पय यह है कि मुक्तिबोध काव्य म विद्रोह का स्वर अत्यन्त सशक्त है।

कलात्मक सौन्दर्य

'मुक्तिबोध उन कवियो मे से नही हैं जो कलापक्ष को केवल स्वाभाविक साधन मानकर काव्य रचना म प्रवत्त होते हैं या इसे सँवारने सुधारने की ओर कोई ध्यान नही देते। इन्होंने अपने कलात्मक सौन्दय की प्रतिष्ठा के लिए जितना परिश्रम किया है नये काव्य म कही भी ऐसा परिश्रम परिलक्षित नही होता। अँगरेजी-कवि टी० एस० इलियट के विषय मे कहा जाता है कि उनका काव्य उस कक्ष की भाँति है जिसम अनेक दपण विभिन्न पंक्तिया मे सजाकर रख दिये गये हैं। यही मन्तव्य 'मुक्तिबोध' के काव्य पर भी पूणरूप से चरितार्थ होता है। अपने विलक्षण बिम्ब विधानों और प्रतीक विधानों के द्वारा इन्होंने अपने काव्य को वास्तव मे विशिष्ट और विलक्षण ही बना दिया है।

इनके बिम्ब विधानो को देखकर यह अनायास ही बोध हो जाता है कि व इस विषय में काफी सजग तथा सतर्क हैं। सम्भवत इनकी यही सजगता

और सतर्कता इनके बिम्ब-विधान के लिए अभिशाप भी सिद्ध हुई है, क्योंकि बिम्बों में संश्लिष्टता आने के कारण अधिकतया ये दुरूह बन गए हैं। जिससे भावों की सम्प्रेषणीयता कुण्ठित हो गई है। स्थूल रूप से, बिम्बों के दो भेद किये जा सकते हैं—रूपात्मक बिम्ब और भावात्मक बिम्ब। इनके काव्य में ये दोनों भेद मिलते हैं यथा—

'शहर के उस ओर खंडहर की तरफ
परित्यक्त सूनी बावड़ी
के भीतरी
ठण्डे अंधेरे में
बसी गहराइयाँ जल की
सीढ़ियाँ डूबीं अनेकों
उस पुराने घिरे पानी में
समझ में आ न सकता हो
कि जैसे बात का आधार
लेकिन बात गहरी हो।'

इन पंक्तियों में रूपात्मक बिम्ब योजना है। यह योजना इतनी सफल है कि वक्तव्य का बिम्ब ग्रहण करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। साथ ही, इसमें ध्वनित वातावरण की शून्यता और भयंकरता भी मुखरित हो जाती है। निम्नलिखित पंक्तियों में भी ऐसी ही सरल तथा प्रभावशाली रूपात्मक बिम्ब योजना है—

'बावड़ी को घेर
डालें खूब उलझी हैं,
खड़े हैं मौन औदुम्बर
व शाखों पर
लटकते घुग्घुओं के घोंसले
परित्यक्त, भूरे, गोल।

इसी प्रकार, चलती हुई सेना का यह रूपात्मक बिम्ब भी सरल और प्रभावपूर्ण है—

उनके पीछे चल रहा
संगीन नोकों का चमकता जंगल,
चल रही पद-चाप, तालबद्ध दीघं पाँत,
टैंक दल, मोर्टार, आर्टिलरी, सन्नद्ध,

धीरे धीरे बढ़ रहा जुलूस भयावना
सैनिकों के पथराए चेहरे
चिढ़े हुए, झुलसे हुए, बिगडे हुए गहरे।'

किन्तु इनके भावात्मक बिम्ब इतने सरल नहीं हैं। उनकी बिम्बात्मकता को ग्रहण करने के लिये पर्याप्त श्रम अपेक्षित है और यह श्रम ही भावों की सम्प्रेषणीयता मे बाधक हो जाता है। यथा—

'रवि निकलता
लाल चिन्ता की रुधिर सरिता
प्रवाहित कर दीवारों पर,
उदित होता चन्द्र
व्रण पर बांध देता
श्वेत धौली पट्टियाँ
उद्विग्न भालों पर
सितारे आसमानी छोर पर फैले हुए
अनगिन दशमलव से,
दशमलव बिन्दुओं के सर्वत
पसरे हुए उलझे गणित मदान में
मारा गया, वह काम आया,
और वह पसरा पडा है
वक्ष-बाँहें खुली फैलीं
एक शोधक की।'

नयी कविता मे नवीन प्रतीकों का बहुलता से प्रयोग हुआ है। मुक्तिबोध' की प्रतीक योजना नवीन भी है और समृद्ध भी। इसका मुख्य कारण यह है कि ये फटेसी' मे प्रतीकों के माध्यम खोजते और ग्रहण करते हैं। फटेसी इनके काव्य का एक विलक्षण तथा प्रभावक तत्त्व है जिसका विश्लेषण डॉ० जगदीश गुप्त ने इन शब्दों म किया है—'सप्तक परम्परा मे शमशेर बहादुरसिंह, धर्मवीर भारती और उसके बाहर के कवियो में लक्ष्मीकान्त वर्मा ही इस प्रसग मे उनके सबसे निकट दिखाई देते हैं पर उन्होंने भी फटेसी रचने की उतनी पिपासा नहीं है जितनी 'चाँद का मुँह टेढा है' के कवि म आद्यन्त अनुभव होती है।' इनके काव्य में पौराणिक और शास्त्रीय दोनों प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। लकडी का बना रावण' में रावण उस भाव का प्रतीक है जो हमारे पारस्परिक मरे हुए दहनासुर सामूहिक व्यक्तित्व की प्रतिमा मात्र रह गया है। दशेन्द्रियाँ उसके दश सिर हैं जो आज के मानव का

निश्चेष्टा को सूचित करता है। इसी प्रकार 'ब्रह्मराक्षस' नामक कविता में ब्रह्मराक्षस आज के अचेतन मन का प्रतीक है 'ओरांग उटांग' कविता में मनुष्य की अविकसित तथा पाशवी वृत्तियों की सशक्त प्रतीकात्मक अभिव्यंजना हुई है। चाँद का टेढ़ा मुँह प्राचीन सौन्दर्याभिरुचि के विघटन का सूचक है। 'शून्य' परम्परागत प्राचीन अर्थ में भिन्न बर्बर आदिम प्रवृत्ति का प्रतीक है—

> 'भीतर जो शून्य है
> उसका एक जबड़ा है,
> जबड़े में माँस काट खाने के दाँत हैं,
> उनको खा जाएँगे,
> तुमको खा जाएँगे।'

'हिडिम्बा' प्रतीक का प्रयोग कवि ने असम्भावित आकार तथा दुर्बोधता की भयानकता के लिए किया है—

> 'इसलिए, मेरी ये कविताएँ
> भयानक हिडिम्बा हैं,
> वास्तव की विस्फारित प्रतिमाएँ
> विकृताकृति बिम्बा हैं।

मुक्तिबोध ने शास्त्रीय प्रतीकों का प्रयोग भी प्रचुरता और भावात्मकता से किया है। यथा—

> 'मेरी आँखों में धूमकेतु नाचे
>
> ×   ×
>
> 'मैं एकलव्य हूँ
> जिसने ज्ञान के बन्द दरवाजे से ही
> प्राणान्तक प्रकाश देखा है
>
> ×   ×
>
> 'उल्काओं की पंक्तियाँ काव्य बन गईं'

इन पंक्तियों में प्रयुक्त धूमकेतु, एकलव्य, उल्का क्रमशः अनिष्ट, एकान्तिक साधना और आस्था तथा उसका ध्वंस के प्रतीक हैं।

मुक्तिबोध' की मान्यता है कि भाव-स्तर के अनुसार भाषा का स्तर भी परिवर्तित हो जाता है। कवि के भाव सामान्य व्यक्ति के भावों से भिन्न होते हैं इसलिए कवि की भाषा का सामान्य जन की भाषा से भिन्न होना स्वाभाविक ही है और जब कवि के मन-स्तर में विविध द्वन्द्वों का सम्मिलन हो, तब

सो भाषा भी ऐसी ही अस्पष्ट तथा दुर्बोध सी बन जाती है। यही कारण है, इनकी भाषा में वक्रिम्य पाया जाता है। यथा—

'हे रहस्यमय, ध्वस महाप्रभु, ओ जीवन के तेज सनातन,
तेरे अग्निकणों से जीवन, तीक्ष्ण बाण से नूतन सजन।
हम घुटने पर, नाश देवता! बैठ तुझे करते हैं बन्दन,
मेरे सिर पर एक पर रख, नाप तीन जग तू असीम बन।

× × ×

'अँधियाली गलियों में घूमता है
तड़के ही रोज
कोई मौत का पठान
माँगता है जिन्दगी जीने का ब्याज
अनजाना कर्ज
माँगता है चुकारे में, प्राणों का माँस।'

इस विवेचन से स्पष्ट है कि 'मुक्तिबोध की काव्य-साधना कवि प्रतिभा और श्रम-साध्यता का विलक्षण समन्वय है, किन्तु इसमें अपेक्षित सम्प्रेषणीयता का अभाव है। डॉ० रामदरश मिश्र ने इनके काव्य का मूल्यांकन करते हुए इसी तथ्य की पुष्टि की है—' किन्तु मुझे लगता है कि ये कविताएँ कुल मिलाकर वह प्रभाव नहीं छोड़ती जिसके लिए इनकी सारी तयारी होती है, अर्थात् इनका जितना दबाव हमारी बोध-चेतना पर होता है उतना महसूस करने वाली चेतना पर नहीं।'

श्री गिरिजाकुमार माथुर

हिन्दी के आधुनिक कवियों में श्री गिरिजाकुमार माथुर का मूर्धन्य स्थान है। इनके आविर्भाव से पूर्व हिन्दी साहित्य पर दो प्रमुख प्रवृत्तियों का गम्भीर प्रभाव था—छायावादी प्रभाव और प्रगतिवादी प्रभाव। इस समय तक यद्यपि छायावाद की अतीन्द्रिय और वायवी प्रवृत्ति का विरोध प्रारम्भ हो गया था, किन्तु उसकी रोमांटिक प्रवृत्ति किंचित परिवर्तन के साथ व्यक्तिपरक काव्य में और भी अधिक मुखर हो रही थी। छायावाद के विरुद्ध जो आन्दोलन चला था सूक्ष्म के विरुद्ध स्थूल की जो प्रतिक्रिया हुई थी उसने प्रगतिवाद को जन्म दिया था। अतीन्द्रिय और वायवी लोकों में विचरती हुई कल्पनाशील कविता यथार्थ के धरातल पर उतर आई थी। माथुर के कवि पर इन दोनों ही प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ा जो इनके काव्य में स्पष्टतया मुखरित है। इनके अब तक छः काव्य सङ्कलन प्रकाशित हो चुके हैं—मंजीर नाश और निर्माण धूप के धान

निसार्पंग चमकान, जो बँध नहीं गया और पृथ्वी करने के कुछ अंग । इस संकलन में कवि पर पूर्ववर्ती काव्यधाराओं का प्रभाव भी स्पष्ट देखा जा सकता है और कवि की अपनी मौलिकता भी । इनके काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं—

१ शृंगार भावना
२ रूप और भाषा का समन्वय
३ सामाजिक चेतना
४ व्यंग्यात्मकता
५ अनुमानित शिल्प विधान

शृंगार भावना

बताया जा चुका है कि माथुर पर छायावादी शृंगार भावना का पर्याप्त प्रभाव है किन्तु इस प्रभाव को इन्होंने कुछ परिवर्तन के साथ ग्रहण किया है जिस प्रकार व्यक्तिवादी काव्यधारा 'बच्चन' आदि के काव्य में मिलता है । यही कारण है कि इनके काव्य में छायावादी अतीन्द्रियता और वायवीयता तो नहीं मिलती पर शृंगार की अत्यन्त समृद्ध उक्तियाँ मिलती हैं जिनमें पर्याप्त उल्लास विलास के भाव अभिव्यक्त हुए हैं । कवि का 'मंजीर' संकलन ऐसी ही कविताओं से संग्रथित है । प्रेम और सौन्दर्य इन कविताओं के प्रमुख विषय हैं जिन पर यत्र-तत्र स्थूल रोमांस और छाया रोमांस की छापें भी गहराई से अंकित हैं । इन कतिपय दोषों के रहते हुए भी इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इनकी शृंगार भावना जीवन की मधुर भावना को अत्यन्त गम्भीरता से चित्रित करती है क्योंकि उसका आधार मांसल है, छायावादी कवियों की भाँति लोकातीत नहीं । अपनी यथार्थता के कारण इनकी शृंगारिक कविताओं में प्रभावित करने की शक्ति भी विद्यमान है । यथा—

'आज अचानक सूनी सी सन्ध्या में
जब मैं यों ही मैले कपड़े देख रहा था
किसी काम में जी बहलाने
एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट में लिपटा,
गिरा रेशमी चूड़ी का
छोटा-सा टुकड़ा,
उन गोरी कलाइयों में जो तुम पहने थीं,
रंग भरी उस मिलन रात में ।
मैं वैसा का वैसा ही
रह गया सोचता

पिछली बातें।
पूज कोर से उस टुकड़े पर
तिरने लगीं तुम्हारी सब सज्जित तस्वीरें,
सेज सुनहली,
कसे हुए बन्धन में घड़ी का झर जाना,
निकल गई सपने जसी वे मीठी रातें,
याद दिलाने रहा
यही छोटा सा टुकड़ा।'

इस कविता की प्रेरणा भूमि जीवन की एक सामान्य सी घटना है जो न तो अतीन्द्रिय है और न वायवी वरन् एकदम मांसल है। यह कविता वस्तुत अनुभूति के क्षणो का साक्षात् चित्रण है जिसमे कवि ने अपनी शृङ्गारिक भावना को ध्वन्यात्मक बनाकर अत्यन्त प्रभावशाली बना दिया है। अपनी कल्पना-कुशलता से कवि ने रग भरी उस मिलन रात का अत्यधिक शिष्टता स केवल सकेत दे र पाठको की शृङ्गारानुभूति को सजग करने मे सफलता प्राप्त की है जिसके वणन म रीतिकालीन कवियो ने स्थूल से स्थूल शृङ्गारिक वणन करके भी एसी सफलता प्राप्त नही की। अत कहा जा सकता है कि माथुर की शृ गारिक भावना सयमित और शिष्ट है। 'प्यार की तीन व्यजनाएँ' नामक कविता भी कवि ने अपनी शृ गारानुभूति का ऐसा ही वणन किया है। निम्न लिखित पक्तियों मे विरह और आक्रोश का कितना सजीव वणन है—

'दो खत भेज चुका हूँ
पर उत्तर नहीं आया
तुम्हारा
हमेशा यही करती हो
सोचती ही नहीं
कि इधर भी डाकखाना है
और डाकिया रोज यहाँ भी आता है
आज मैंने माना
कि ससार की सारी आँखें
एक ही सी होती हैं
उन सभी बातों में
जो मरदों से सम्बद्ध है
दोषों के उस पुतले से
जिसके औगुन का परखने का

मान्योहशोय
सिर औरत के पास है ।

इन पंक्तियों में आत्मा के अतिरिक्त नारी मन का जो स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है वह वक्तव्य को अधिक प्रभावशाली बनाने में सहायक सिद्ध होता है ।

रूप और आभा का समन्वय

छायावाद में केवल आभा का ही चित्रण हुआ था रूप का नहीं । छायावाद के पतन के अनेक कारणों में से यह कारण भी प्रमुख है । छायावाद की इसी दुर्बलता से खिन्न होकर पंत ने छायावाद को छोड़कर रूप और आभा से समन्वित काव्य की महत्ता को स्वीकारा था जिसका प्रमाण इनके द्वारा सम्पादित रूपाभ पत्रिका है । माथुर की कविताओं में रूप और आभा से समन्वित रूप की कमी नहीं है । यदि इन्हें हिन्दी के साहित्य में रूप और आभा का पहला कवि मान लिया जाए तो अनुचित न होगा । ये दोनों तत्त्व इनकी कविताओं में सहज रूप ही मिल जाते हैं । यथा—

'कौन थकान हरे जीवन की ?
बीत गया संगीत प्यार का
रूठ गई कविता भी मन की
वंशी में अब नींद भरी है,
स्वर पर पीत सांझ उतरी है,
बुझती जाती गूंज आखिरी
इस उदास बन-पथ के ऊपर—
पतझर की छाया गहरी है
अब सपनों में शेष रह गई
सुधियां उस चन्दन के वन की ।
रात हुई पंछी घर आए
पथ के सारे स्वर सकुचाये,
म्लान दिया बत्ती की बेला,
थके प्रवासी की आंखों में—
आंसू आ आकर कुम्हलाये,
कहीं बहुत ही दूर उनींदी
झांझ बज रही है पूजन की
कौन थकान हरे जीवन की ?'

इस गीत में मन की कविता का रूठना', 'वंशी में नींद का भर जाना', 'स्वर पर पीली सांझ का उतरना', आदि प्रयोग रोमानी आभा से मण्डित हैं,

किन्तु रात म पछियो का लौटना, प्रिया वक्ती की वेना का म्लान होना थके प्रवासी की आशा म आँसुओ का आ आकर कुम्हला जाना आदि प्रयाग रूपालक हैं। इस प्रकार इस कविता म आभा रूप का समुचित गठबधन है। इन दोनों तत्वों का ऐसा समन्वय नये कवियो की कविता मे कम ही दिखाई देता है।

सामाजिक चेतना

सभी आधुनिक कवियो म किसी न किसी रूप म सामाजिक चेतना विद्यमान है। इनकी कविता म भी इस चेतना का सम्पूर्ण रूप मिलता है, किन्तु कवि की सयमशील प्रवृत्ति यहाँ भी विद्यमान है। अन्य कवियो की भाँति इन्होंने भी सामाजिक धरातल पर उतरकर समाज की विषमता से उत्पन्न पीडा को देखा है उसका अनुभव किया है। अपने इसी अनुभव को कवि ने जिस प्रकार काव्यबद्ध किया है उससे सामाजिक चेतना का रूप स्पष्ट हो जाता है। अन्य कवियो की भाँति इन्होंने भी अपनी सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति के लिये मध्यम वर्ग को ही अपनाया है किन्तु इनकी अभिव्यक्ति मे प्रखरता की अपेक्षा व्यग्य अधिक है। यथा—

लोग अच्छे तर्क से नहीं
निर्णीत तथ्य से सन्तुष्ट होते हैं
लोग विवेक से नहीं
अन्धी श्रद्धा स नत होते हैं
लोग न्याय से नहीं
शक्ति से प्रसन्न होते हैं
आतक से प्रीत करते हैं
वे आदमी नहीं
हीरो माँगते हैं
वे सत्य को नहा समझते
परिणति को समझते हैं
और फिर उसे
स्वयसिद्धि मानकर
स्वीकारते सराहते हैं

इन पक्तियो मे कवि ने समाज की मन स्थिति का अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन किया है। आज के समाज की मन स्थिति इन पक्तियो म साकार हो उठी है। ऐसा वर्णन वही कवि कर सकता है जिसने समाज का सूक्ष्म दृष्टि से देखा हो और गम्भीरता से अनुभव किया हो।

व्यंग्यात्मकता

आधुनिक कवियों में व्यंग्यात्मकता की प्रधानता है। इसका कारण यह है कि आज का कवि यथार्थ जीवन जीता है और यथार्थ धरातल पर रहकर समाज तथा जीवन का अनुभव करता है, समाज में उसे अनेक ऐसी विकृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं जिनसे उसका मन क्षोभ और आक्रोश से भर जाता है। उस समय उसे अपने क्षोभ तथा आक्रोश को व्यक्त करने के लिए व्यंग्य शैली का आश्रय लेना पड़ता है। माथुर में यह व्यंग्यात्मकता अपेक्षाकृत अधिक मिलती है उदाहरण के लिए 'बौनों की दुनिया' नामक कविता को लिया जा सकता है। इस कविता में कवि ने बताया है कि व्यक्ति अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए किस प्रकार दूसरों को मूर्ख बनाते हैं किस प्रकार समाज का विशिष्ट वर्ग साधारण वर्ग को अपनी स्वार्थ सिद्धि का उपकरण बनाए रहता है—

'वक्ता को श्रोता
नेता को विद्वत्गण
बुद्धिजनों को पाठक
आंदोलनों को भीड़
धर्मों को भक्त
सम्प्रदायों को मतिमंद
राज्यों को जनता
कारखानों को मजदूर
तोपों को भोजन
पार्टी बॉसों को यस मैन
राजाओं को गुलाम
डिक्टेटरों को प्रप

इन पंक्तियों में व्यक्त सामाजिक मनःस्थिति नितान्त यथार्थ है। व्यंग्यात्मकता के द्वारा कवि ने इसे अधिक सम्प्रेषणीय बना दिया है।

अनुशासित शिल्प विधान

माथुर ने जितनी कुशलता भाषा के सर्जन में प्रदर्शित की है उतनी ही कुशलता से अपने शिल्प विधान का गठन किया है। इन्होंने अपनी भाषा को बहुत-कुछ अपने अनुकूल गढ़ लिया है जिससे इनकी भाषा इनके भावों को व्यक्त करने में सहज समर्थ पाई जाती है। छन्दों का विधान भी इन्होंने अपने अनुसार परिवर्तित किया है। हिन्दी में मुक्त छन्द के विकास का मूल आधार प्रायः घनाक्षरी ही रहा है किन्तु इन्होंने सवैया के नये विधान का भी उपयोग किया है और अनेक मात्रिक छन्दों के बन्धों का भी। इनका छन्द विधान स्वर

और लय के सगीत से सम्पवत होकर अधिक प्रभावशील बन गया है। इसी प्रकार इनका बिम्ब विधान और प्रतीक विधान भी नवीनता से ओत प्रोत है। यथा—

> 'यह झकाझक रात
> चाँदनी उजली कि सुई में पिरोली ताग
> चाँदनी को दिन समझकर बोलते हैं काग
> हो रही ताजी सफेदी नये चूने से
> पुत रहे घर-द्वार
> चाँद पूरा साफ
> ब्लाट पेपर ज्यों कटा हो गोल

अत कहा जा सकता है कि माथुर का काव्य हिन्दी-साहित्य के गौरव और समृद्धि का कारण है। डॉ० नगेन्द्र ने इनके काव्य का मूल्यांकन करते हुए लिखा है— गिरिजाकुमार नये कवियों म अग्रणीय हैं। इसका प्रतिवाद नहीं किया जा सकता। नई कविता म जो स्थाई काव्य तत्त्व हैं उसका भी प्रतिनिधित्व करते हैं, इसमे भी सन्देह नहीं किया जा सकता। कालान्तर म, प्रचार का कोलाहल शान्त होने पर नई कविता' का इतिहास जब वस्तुपरक दृष्टि से लिखा जायगा तो उसके निर्माताओ मे गिरिजाकुमार का स्थान अ न तम रहेगा।'

मान्त्रीरकोष
सिर्फ औरत के पास है।

इन पक्तियों में आत्राण के अतिरिक्त नारी मन का जो स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है वह वक्तव्य को अधिक प्रभावशाली बनाने में सहायक सिद्ध होता है।

रूप और आभा का समन्वय

छायावाद में केवल आभा का ही चित्रण हुआ था रूप का नहीं इसलिए छायावाद के पतन के अनेक कारणों में से यह कारण भी प्रमुख है। छायावाद की इसी दुर्बलता से खिन्न होकर पंत ने छायावाद को छोड़कर रूप और आभा से समन्वित काव्य की महत्ता को स्वीकारा था जिसका प्रमाण इनके द्वारा सम्पादित 'रूपाभ' पत्रिका है। माथुर की कविताओं में रूप और आभा से समन्वित रूप की कमी नहीं है। यदि इन्हें हिन्दी के साहित्य में रूप और आभा का पहला कवि मान लिया जाए तो अनुचित न होगा। ये दोनों तत्व इनकी कविताओं में सहज रूप से ही मिल जाते हैं। यथा—

'कौन थकान हरे जीवन की ?
बीत गया संगीत प्यार का
रूठ गई कविता भी मन की
वंशी में अब नींद भरी है,
स्वर पर पीत साँझ उतरी है
बुझती जाती गूँज आखिरी
इस उदास बन-पथ के ऊपर—
पतझर की छाया गहरी है
अब सपनों में शेष रह गई
सुधियाँ उस चन्दन के बन की।
रात हुई पंछी घर आए
पथ के सारे स्वर सकुचाये
म्लान दिया बत्ती की बेला,
थके प्रवासी की आँखों में—
आँसू आ आकर कुम्हलाये,
कहीं बहुत ही दूर उनींदी
झाँझ बज रही है पूजन की
कौन थकान हरे जीवन की ?'

इस गीत में मन की कविता का रूठना', 'वंशी में नींद का भर जाना', 'स्वर पर पीली साँझ का उतरना', आदि प्रयोग रोमानी आभा से मण्डित हैं

किन्तु रात मे पछियो का लौटना त्रिया वत्ती की वेला का म्लान होना थके प्रवासी की आँखो म आँसुओं का आ आकर कुम्हला जाना आदि प्रयाग रूपात्मक हैं। इस प्रकार इस कविता म आभा रूप का समुचित गठबधन है। इन दोनों तत्वो का ऐसा समन्वय नये कवियो की कविता म कम ही दिखाई देता है।

सामाजिक चेतना

सभी आधुनिक कवियो म किसी न किसी रूप मे सामाजिक चेतना विद्यमान है। इनकी कविता म भी इस चेतना का सम्पूर्ण रूप मिलता है किन्तु कवि की सयमशील प्रवृति यहाँ भी विद्यमान है। अन्य कवियो की भाति इन्होने भी सामाजिक धरातल पर उतरकर समाज की विषमता से उत्पन्न पीडा को देखा है उसका अनुभव किया है। अपने इसी अनुभव को कवि ने जिस प्रकार काव्यबद्ध किया है उसमे सामाजिक चेतना का रूप स्पष्ट हो जाता है। अन्य कवियो की भाँति इन्होंने भी अपनी सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति के लिये मध्यम वग को ही अपनाया है किन्तु इनकी अभिव्यक्ति म प्रखरता की अपेक्षा व्यग्य अधिक है। यथा—

लोग अच्छे तक से नहीं
निर्णीत तथ्य से स तुष्ट होते हैं
लोग विवेक से नहीं
अन्धी श्रद्धा से नत होते हैं
लोग न्याय से नहीं
शक्ति से प्रसन्न होते हैं
आतक से प्रीत करते ह
वे आदमी नहीं
हीरो मांगते ह
वे सत्य को नहीं समझते
परिणति को समझते हैं
और फिर उसे
स्वयसिद्धि मानकर
स्वीकारते सराहते हैं

इन पक्तियो म कवि ने समाज की मन स्थिति का अत्यन्त स्वाभाविक वणन किया है। आज के समाज की मन स्थिति इन पक्तियो म साकार हो उठी है। ऐसा वणन वही कवि कर सकता है जिसने समाज को सूक्ष्म दृष्टि से देखा हो और गम्भीरता से अनुभव किया हो।

(क) सौन्दर्यानुभूति

एक सुभान के आनन पै कुरबान जहां लगि रूप जहाँ को
× × ×
जान मिलै तो जहान मिलै नहि जान मिलै तो जहान कहाँ को।

(ख) प्रेम-पथ की विकरालता

अति खीन मनाल के तारहु तें, तेहि ऊपर पाँव द आवनो है।
सुई-बेह क द्वार सकै न तहाँ परतीति को टाँडो लदावनो है॥
कवि बोधा अनी घनी नेजहु तें चढ़ि ता प न चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवारि की धार प धावनो है॥

(ग) विरहानुभूतियों की व्यञ्जना

'कबहूँ मिलबो, कबहूँ मिलिबो, यह धीरज ही में धरबो कर।
उर ते कढ़ि आवै, गरे तें फिरै, मन की मन ही मे सिरबो करै॥
कवि बोधा न चाँड सरी कबहूँ नितही हरवा सो हिरैबो करै।
सहते ही बनै, कहते न बनै, मन ही मन पीर पिरैबो करै॥

वस्तुत भाव-पक्ष की गम्भीरता एव मार्मिकता की दृष्टि से बोधा पूर्णत घनानन्द के लघु संस्करण प्रतीत होते है किन्तु इनकी अभिव्यञ्जना शैली में उनकी सी स्वच्छता परिष्कृति एव प्राञ्जलता परिलक्षित नहीं होती। इन्होंने विरह-वारीश नाम की एक रोमानिक कथा भी लिखी थी जिसकी चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है। इनके मुक्तक-संग्रहो में विरही सुभान-दम्पति विलास स्नेहलीला बारह मासा आदि का नाम उल्लेखनीय है।

ठाकुर—इस नाम के हिन्दी में अनेक कवि हुए हैं किन्तु प्रस्तुत कवि का जन्म ओरछा में १७६६ ई० मे हुआ था। इनकी कविताओं का एक संग्रह लाला भगवानदीन ने 'ठाकुर-ठसक' नाम से प्रकाशित करवाया था। यद्यपि इस परम्परा के अन्य कवियों की भांति ठाकुर के व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में स्वच्छन्द प्रेम की कोई गाथा प्रचलित नहीं है, फिर भी वे अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण इस परम्परा में आते हैं। उन्होंने अपने युग के शास्त्रबद्ध मुक्तककारों पर व्यंग करते हुए लिखा है—

सीखि लीन्हो मीन मृग खजन कमल नैन,
सीखि लीन्हों जस औ प्रताप को कहानो है।
सीखि लीन्हों कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामनि,
सीखि लीन्हो मेरु औ कुबेर गिरि आनो है।
× × ×
ढेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है॥

यहाँ उन्होंने जिस स्वच्छन्द एव सहज काव्य रचना की जिस प्रवृत्ति का समर्थन अप्रत्यक्ष रूप में किया है वही इनके काव्य में भी प्रत्यक्ष होती है। प्रणयानुभूतियों की

> वा निरमोहिनि रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वै है।
> बारहि बार बिलोकि घरी घरी सूरति तौ पहिचानति ह्वै है।
> ठाकुर या मन को परतीति है जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
> आवत हैं नित मेरे लिए इतनो तो विसेष कै जानति ह्वै है।

वस्तुत ठाकुर ने प्रेम के सामान्य भावों को भी पूर्ण सच्चाई एवं सरलता के साथ प्रस्तुत कर दिया है यह दूसरी बात है। कि वैविध्य तथा अनुभूतियों के अभाव के कारण इनकी कविता में वह गम्भीरता नहीं आ पाई जो इस परम्परा में अन्यत्र मिलता है।

द्विजदेव—इस परम्परा के अन्तिम कवि अयोध्या के महाराज मानसिंह माने जाते हैं जो द्विजदेव उपनाम से कविता करते थे। इनमें भी ठाकुर की भाँति प्रायः भावनाओं की अभिव्यक्ति सरल स्वाभाविक रूप में हुई है। यहाँ कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

> तू जो कही, सखि! लोनो सरूप
> सो मो अँखियान को लोनी गई लगि।
>
> × × ×
>
> एहो ब्रजराज! मेरो प्रेमधन लूटिबे को
> बीरा खाय आए कित आपके अनोखे नैन।
>
> × × ×
>
> हाय इन कुंजन तें पलटि पधारे स्याम,
> देखन न पाई वह मूरति सुधामई।
> आवन समै मे दुखदाइनि भई री लाज,
> चलन समै में चल पलन दगा दई॥

इनके दो मुक्तक-संग्रह — शृंगार-बत्तीसी और शृंगार-लतिका — प्रकाशित हैं। यद्यपि घनानन्द बोधा की उच्चता एवं गम्भीरता इनमें नहीं मिलती फिर भी इनके काव्य में सरसता अवश्य है। विशेषतः ऋतु-वर्णन के क्षेत्र में इन्होंने अपनी परम्परा के अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक रुचि दिखाई है। जिसकी प्रशंसा में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है— ऋतु वर्णन में इनके हृदय का उल्लास उमड़ पड़ता है। बहुत से कवियों के ऋतु-वर्णन हृदय की सच्ची उमंग का पता नहीं देते रस्म सी अदा करते जान पड़ते हैं। पर इनके चकोरों की चहक के भीतर इनके मन की चहक भी साफ झलकती है। एक ऋतु के उपरान्त दूसरी ऋतु के आगमन पर इनका हृदय अगवानी के लिए मानो आपसे आप आगे बढ़ता था, इस कथन की यथार्थता निम्नांकित उद्धरणों में देखी जा सकती है

> मिलि माधवी आदिक फूल के ब्याज विनोद लवा बरसायो करै।
> रचि नाच लता गन तान बितान सबै विधि चित्त चुरायो करै।
> द्विजदेव जू देखि अनोखी प्रभा अलि चारन कीरति गायो करै।

घहरि घहरि घन सघन चहूँधा घेरि,
छहरि छहरि विष-बूंद बरसाव ना।
द्विजदेव की सौं अब चूक मत दाव,
ए रे पातकी पपीहा ! तू पिया की धुनि गाव ना॥

× × ×

हौं तौ बिन प्रान, प्रान चहत तजाई अब,
कत नभ चंद तू अकास चढ़ि धाव ना॥

उपर्युक्त छंदों में प्रकृति के वैभव, विभिन्न ऋतुओं के उन्मादक प्रभाव एवं उनकी विशिष्ट अनुभूतियों की व्यञ्जना भावानुरूप शैली में की गई है, जो कवि के प्रकृति-प्रेम की परिचायक है।

द्विजदेव को इस परम्परा का अन्तिम कवि माना जाता है, यद्यपि इसका प्रभाव परवर्ती कवियों पर भी पाया जाता है। विशेषतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कवित्त सवैयों में इस परम्परा के स्वच्छन्द प्रेम की प्रतिध्वनि स्पष्ट रूप में सुनाई पड़ती है, किन्तु काल-सीमा की दृष्टि से वे आधुनिक काल में आते हैं, अतः यहाँ इस परम्परा के कवियों की चर्चा समाप्त की जाती है।

प्रमुख विशेषताएँ

प्रस्तुत काव्य-परम्परा के विशिष्ट कवियों एवं उनके काव्य के अध्ययन के आधार पर उनकी प्रमुख विशेषताओं का निर्देश यहाँ संक्षेप में किया जाता है :

(१) प्रेरणा-स्रोत एवं काव्य प्रयोजन—प्रस्तुत परम्परा के कवियों ने सामान्यतः स्वानुभूतियों की अभिव्यक्ति की प्रेरणा से काव्य रचना की है। इस क्षेत्र में उन्होंने किसी बाह्य निर्देश को स्वीकार नहीं किया है। घनानन्द ने इसी तथ्य पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

'लोग हैं लागि कवित्त बनावत,
मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत।'

अर्थात् लोग लगकर या प्रयास करके कविता बनाते हैं, जब कि मुझे तो मेरी कविता (या कवित्त) बनाती है। कवि के कथन का आशय यह है कि वह कविता बनाने का प्रयास नहीं करता, अपितु अनुभूतियों की प्रेरणा से वह स्वतः ही कविता बनाने को विवश हो जाता है। यह परिस्थिति इस युग के शास्त्रीय मुक्तक रचयिताओं की स्थिति के प्रतिकूल पड़ती है। जहाँ वे केशवदास के शब्दों में कल्पना एवं चिन्तन के बल पर काव्य रचना करते थे ('चरन धरत चिन्ता करत') वहाँ वे सहजानुभूति की प्रेरणा से अनायास ही भावाभिव्यक्ति में प्रवृत्त हो जाते थे। वस्तुतः इस परम्परा के कवि सहजानुभूति से प्रेरित काव्य को ही सच्चा काव्य मानते थे, चेष्टापूर्वक रचित काव्य का तो उन्होंने उपहास किया है, यथा—

सीखि लीनो मीन मृग, खंजन, कमल नैन,
सीखि लीनो जस और प्रताप को कहानो है।

× × ×

ढेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबो खेलि करि जानो है।।

—ठाकुर

इससे स्पष्ट है कि इन कवियों ने सच्ची कविता के मर्म को समझकर सहजानुभूति एवं सच्ची प्रेरणा के महत्त्व को स्वीकार किया था तथा यही कारण है कि हम इनके काव्य में काव्येतर तत्त्वों के स्थान पर अनुभूति की प्रधानता पाते हैं।

(२) **स्वच्छन्द प्रेम या रोमांसिकता**—जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया गया है इन कवियों के जीवन एवं काव्य में स्वच्छन्द प्रेम या रोमांसिकता की प्रधानता है। स्वच्छन्द प्रेम का अर्थ यह है कि इन्होंने विशुद्ध सौन्दर्यानुभूति की प्रेरणा से जाति, समाज एवं धर्म के बंधनों की अवहेलना करते हुए ऐसी नायिकाओं से प्रणय-सम्बन्ध स्थापित किया था जो अन्य जाति एवं धर्म से सम्बन्धित थीं। उदाहरण के लिए आलम, घनानन्द एवं बोधा मूलतः हिंदू थे किन्तु उनकी प्रेयसियाँ—शेख, [illegible] सुजान, सुभान मुस्लिम थीं। ऐसी स्थिति में इन्हें प्रेम के क्षेत्र में पर्याप्त साहस, संघर्ष एवं त्याग का परिचय देना पड़ा। मित्रों के उपहास, समाज के बहिष्कार, आश्रयदाताओं के विरोध को सहन करते हुए इन्होंने प्रेम के क्षेत्र में [illegible] गम्भीरता एवं [illegible] का परिचय दिया। बोधा के शब्दों में वे अपनी प्रेयसी के लिए संसार के समस्त वैभव को ठुकराने के लिए सहर्ष प्रस्तुत थे—

'एक सुभान के आनन पै, कुरबान जहाँ लगि रूप जहाँ को।
जानि मिले तो जहान मिलै, नहीं जान मिलै तो जहान कहाँ को।'

प्रेम की इसी अनन्यता के कारण इनके शृंगार-वर्णन में [illegible] की [illegible] [illegible] रसिकता एवं बाह्य [illegible] के स्थान पर प्रणय के स्वच्छ, गम्भीर एवं [illegible] प्रधान रूप की व्यंजना मिलती है।

(३) **नारी-सौंदर्य के प्रति आस्था**—इन कवियों ने नारी के व्यक्तित्व एवं सौन्दर्य को आस्था की दृष्टि से देखते हुए उसका चित्रण अत्यन्त स्वच्छ, सूक्ष्म एवं उदात्त रूप में किया है। [illegible] परम्परा के अनुसार नखशिख की स्थूल परिपाटी का निर्वाह करने के स्थान पर उन्होंने सौन्दर्य के प्रभाव की व्यंजना अनुभूतिपूर्ण शब्दों में की है यथा—

अंग अंग तरंग उठै, दुति की परि है मनो रूप अबै धर च्वै।

'र्वि को सदन गोरो बदन रुचिर भाल
रस निचुरत मधु माधुरी मुसक्यानि में।'

—घनानन्द

था किन्तु अन्य कतिपय कवियों पर यह बात लागू नहीं होती। यही कारण है कि उनके काव्य में विरह-वेदना की अभिव्यक्ति अत्यंत गम्भीर एवं मार्मिक रूप में हुई है।

(५) वैयक्तिकता—हिन्दी काव्य में कदाचित ये पहले कवि हैं जिन्होंने लौकिक प्रेम की वैयक्तिक अनुभूतियों को निःसंकोच रूप में व्यक्त किया है। इन्होंने अपनी प्रेम-कहानी सुनाने के लिए न तो राधा-कृष्ण की भक्ति का आवरण उधार लिया और न ही किसी रत्नसेन या पद्मावती का आश्रय ग्रहण किया। दूसरे यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं कि इन्होंने अपनी प्रेयसियों—सुजान या सुभान को अपनी रचनाओं में प्रत्यक्ष रूप में सम्बोधित करने का साहस किया। वस्तुतः इन कवियों की सी वैयक्तिकता आगे चलकर छायावादी एवं छायावादोत्तर कविताओं में ही मिलती है, हिन्दी काव्य में अन्यत्र इसका प्रायः अभाव है।

(६) शैली—इन कवियों ने अपने काव्य में प्रायः मुक्तक शैली में कवित्त-सवैयों का प्रयोग किया है। इनकी भाषा प्रौढ़ ब्रज है जिसे इन्होंने नयी शक्ति और नया सौन्दर्य प्रदान किया है। घनानन्द जैसे कवियों ने अपने लाक्षणिक प्रयोगों एवं विरोधाभास, विशेषण-विपर्यय, मानवीकरण, रूपक, रूपकातिशयोक्ति, प्रतीक जैसे तत्वों के प्रयोग द्वारा उसकी अर्थ-शक्ति में पर्याप्त अभिवृद्धि की। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इन्होंने कला-पक्ष की साज-सँवार के लिए विशेष प्रयास किया अपितु यह समझना चाहिए कि भावों की सच्ची प्रेरणा एवं भाषा पर पूर्ण अधिकार के कारण ही उनकी शैली में वक्रता एवं लाक्षणिकता सम्बन्धी विभिन्न तत्त्वों का प्रादुर्भाव सहज ही हो गया।

अस्तु, इस परम्परा का काव्य भावों की गम्भीरता एवं शैली की प्रौढ़ता का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। अवश्य ही इन्होंने जीवन के लिए कोई महान सन्देश प्रदान नहीं किया इसमें कोई सन्देह नहीं कि जहाँ तक साहित्य—विशुद्ध काव्य-सौन्दर्य—की बात है, ये कवि किसी के पीछे नहीं हैं। इन्होंने कला की साधना विशुद्ध कलात्मक प्रयोजनों से की थी तथा इस दृष्टि से इनकी उपलब्धियों का महत्त्व स्वीकार किया जा सकता है। बौद्धिक तत्त्वों, शास्त्रीय ज्ञान एवं नैतिक आदर्शों में न इनकी रुचि थी और न ही इसकी इनसे आशा की जा सकती है। वस्तुतः इनके शब्द प्रेम विवश हृदय के सच्चे उद्गार हैं जिन्हें इसी रूप में ग्रहण करना उचित एवं संगत होगा।

○

१२ | हिन्दी महाकाव्य स्वरूप और विकास

१ आदि महाकाव्य।
२ महाकाव्य का स्वरूप—(क) भारतीय दृष्टिकोण, (ख) पाश्चात्य दृष्टिकोण (ग) आधुनिक दृष्टिकोण।
३ संस्कृत के महाकाव्य।
४ प्राकृत और अपभ्रंश के महाकाव्य।
५ हिन्दी में महाकाव्य का विकास—(क) पृथ्वीराज रासो (ख) पद्मावत (ग) रामचरित मानस, (घ) रामचंद्रिका, (ङ) साकेत (च) कामायनी, (छ) कुरुक्षेत्र, (ज) उर्वशी तथा अन्य।
६ उपसंहार।

थी महाकाव्य रचने की मेरे मन मे।
तव कंकण किंकिणि से सहसा टकराकर,
फट पडी कल्पना शत सहस्र गायन मे।
उस दुर्घटना से महाकाव्य कण कण हो
चरणो के आगे बिखर पडा है क्षण मे।
थी महाकाव्य रचने की मेरे मन मे।
हा! कहाँ गई यह युद्ध कथा सपने-सी।

—रवीन्द्र ठाकुर (अनूदित)

साहित्य के विभिन्न रूपो मे महाकाव्य का कितना महत्व है यह विश्व-कवि रवीन्द्र की उपर्युक्त पंक्तियों से—जिनमे उन्होने अपनी महाकाव्य रचने की आकांक्षा पूर्ण न होने पर गहरा क्षोभ व्यक्त किया है—अनुमित किया जा सकता है। महाकाव्य शब्द ही 'महत' और 'काव्य' इन दो शब्दो के समास से व्युत्पन्न है। भारतीय साहित्य मे काव्य के साथ महत विशेषण का प्रयोग सर्वप्रथम वाल्मीकिकृत रामायण के उत्तरकाण्ड मे मिलता है जहाँ राम ने लव-कुश से प्रश्न किया था—

किंप्रमाणमिदं काव्यं का प्रतिष्ठा महात्मन।
कर्त्ता काव्यस्य महत कव चासौ मुनिपुंगव॥

अर्थात यह काव्य कितना बडा है और किस महात्मा की प्रतिष्ठा है? इस महत्

है—(१) महाकाव्य आकार प्रकार में बड़ा होता है। (२) उसमें किसी महात्मा या महापुरुष की प्रतिष्ठा का चित्रण किया जाता है। और (३) उसका रचयिता कोई श्रेष्ठ मुनि या उच्चकोटि का भावुक कवि होता है।

भारतीय दृष्टिकोण

संस्कृत आचार्यों में महाकाव्य के स्वरूप का सर्वप्रथम विस्तृत व्याख्या करने का श्रेय आचार्य भामह को है जिन्होंने अपने 'काव्यालंकार' में बंध की दृष्टि से काव्य के पांच भेद किए हैं—१ सर्गबद्ध २ नाटक ३ आख्यायिका ४ कथा और ५ अनिबद्ध (मुक्तक) काव्य। सर्गबद्ध काव्य का ही दूसरा नाम महाकाव्य है। उनके मतानुसार इसमें किसी महान विषय का निरूपण होना चाहिए। उसमें ग्राम्य शब्दों का परिहार, अर्थ का सौष्ठव, अलंकारों का प्रयोग और सच्ची या उच्चकोटि की कहानी का वर्णन होना आवश्यक है। उसमें राजदरबार, दूत, आक्रमण, युद्ध आदि का चित्रण होता है तथा अन्त में नायक का अभ्युदय दिखाया जाता है। नाटक की पांचों संधियों का आयोजन भी उसमें किया जाता है। साथ ही उसका कथानक उत्कर्षपूर्ण होते हुए भी अधिक व्याख्या की अपेक्षा नहीं करता। उसमें काव्यगत सौन्दर्य के साथ चारों वर्गों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—का निरूपण होता है फिर भी प्रधानता अर्थ को दी जाती है। उसके वर्णन में 'लोक-स्वभाव' या स्वाभाविकता का गुण विद्यमान रहता है तथा उसमें सभी रसों का पृथक्-पृथक् निरूपण होता है। प्रारम्भ में नायक का कुल, शक्ति, प्रतिभा या विद्वत्ता के आधार पर उत्कर्ष दिखाकर अन्त में किसी अन्य पात्र की सफलता के निमित्त उसका वध दिखाना अनुचित है। यदि नायक को सर्वाधिक प्रभावशाली या अन्त में उसे सफल सिद्ध नहीं किया गया तो उसके प्रारम्भिक अभ्युदय का कोई महत्व नहीं है अतः महाकाव्य के अन्त में नायक को विजयी दिखाना आवश्यक है। (काव्यालंकार—१।१८-२३)।

भामह के परवर्ती आचार्यों में से अनेक ने महाकाव्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला है किन्तु उसमें अधिक मौलिकता नहीं मिलती। प्रायः सभी ने भामह के ही लक्षणों का पिष्टपेषण किया है। दंडी ने अपने 'काव्यादर्श' में महाकाव्य के आरम्भ में आशीर्वाद, नमस्क्रिया और वस्तुनिर्देश की ओर संकेत करने की नई बात कही है। आगे चलकर 'साहित्य-दर्पणकार' विश्वनाथ ने अवश्य भामह की व्याख्या को आगे बढ़ाते हुए स्वकृत लक्षणों की लम्बी सूची प्रस्तुत की है— जिसमें सर्गों का निबंधन हो वह महाकाव्य कहलाता है। इसमें एक देवता या सद्वंश क्षत्रिय—जिसमें धीरोदात्तादि गुण हों—नायक होता है। कहीं एक वंश के सत्कुलीन अनेक भूप भी नायक होते हैं। शृंगार, वीर और शान्त में से कोई एक रस अंगी होता है। अन्य रस गौण होते हैं। सब नाटक-संधियां रहती हैं। इसकी कथा ऐतिहासिक या किसी लोक प्रसिद्ध सज्जन से सम्बन्ध रखनेवाली होती है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इनमें से कोई एक उसका फल होता है। आरम्भ में आशीर्वाद, नमस्कार या वर्ण्य वस्तु का निर्देश होता है। कहीं खलों की निन्दा और सज्जनों के गुणों का वर्णन होता है। कहीं-कहीं सर्गों में अनेक छन्द मिलते हैं। सर्ग के अन्त में अगली कथा की सूचना होनी चाहिए।

इसमे सध्या सूय चद्रमा रात्रि प्रदोष अन्धकार दिन प्रातकाल मध्याह्न मगया पवत षड्ऋतु वन समुद्र सयोग वियोग, मुनि स्वग नगर यज्ञ सग्राम यात्रा विवाह मत्र पुत्र और अभ्युदय आदि का यथासम्भव सागोपाग वणन होना चाहिए। इसका नाम करण कवि क नाम या चरित्र के नाम अथवा चरित्र-नायक के नाम क आधार पर होना चाहिए। कहा इनके अतिरिक्त भी नामकरण होता है जसा भट्टि। सग की वणनीय कथा के आधार पर सग का नाम रक्खा जाता है। सधियो के अग यहा यथासम्भव रख जाने चाहिए। यदि एक या दो भिन्न वृत्त हो तो भी कोई हज नहीं है। जलक्रीडा मधुपानादि सागोपाग होने चाहिए। महाकाव्य के उदाहरण जस रघुवशादि। (साहित्य-दपण अध्याय ६।३१५—३२४) भामह और विश्वनाथ क महाकाव्य सम्बधी लक्षणो की तुलना से स्पष्ट होगा कि परवर्ती आचाय ने केवल सख्या विस्तार कर दिया है महाकाव्य की मूल प्रकृति के सम्बध म दोनो क दृष्टिकोणो म विशेष अन्तर नहा मिलता। अस्तु दोनो की व्याख्याओ का निष्कष सक्षप म इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) महाकाव्य की कथावस्तु का आधार व्यापक होना है जिससे उसम जीवन जगत् और प्रकृति के विभिन्न अगो का विस्तृत रूप म चित्रण सम्भव हो सके।

(२) उसका नायक एक ऐसा आदश और महान व्यक्ति होना है जिससे वह पाठको की श्रद्धा प्राप्त कर सके तथा उन्हे कोई सन्देश द सके।

(३) उसम मानव-हृदय की सभी प्रमुख चित्त-वृत्तियो भावनाओ वा रसो का चित्रण होना चाहिए।

(४) सारा कथानक सर्गो म विभाजित तथा सधियो से युक्त हो जिससे उसम प्रबधत्व का गुण आ सके।

(५) उसकी शली म काव्य-सौष्ठव व काव्य के सभी प्रमुख गुणो का विकास होना चाहिए।

पाश्चात्य दृष्टिकोण

पाश्चात्य विद्वानो न भी महाकाव्य (Epic) को गौरवपूण स्थान देते हुए उसके स्वरूप की विभिन्न प्रकार स व्याख्या की है। प्रसिद्ध यूनानी आचाय अरस्तू (Aristotle) न अपन काव्य-शास्त्र (Poetics) म लिखा है कि महाकाव्य ऐसे उदात्त व्यापारका काव्यमय अनुकरण है जो स्वत गम्भीर एव पूण हो वणनात्मक हो सुन्दर शली म रचा गया हो जिसम आद्यन्त एक छन्द हो जिसम एक ही काय हो जो पूण हो जिसम प्रारम्भ मध्य और अन्त हो जिसके आदि और अन्त एक दृष्टि म समा सक जिसके चरित्र श्रेष्ठ हो कथा सम्भावनीय हो और जीवन के किसी एक सावभौम सत्य का प्रतिपादन करता हो।" (काव्य रूपो के मूल स्रोत और उनका विकास—डा० शकुन्तला दुबे पृष्ठ ८०)

यद्यपि स्थूल दृष्टि म भारतीय तथा यूरोपीय महाकाव्य क लक्षणो म बहुत साम्य दृष्टिगोचर होता है किन्तु मूल प्रकृति की दृष्टि म दोनो म स्पष्ट अन्तर भी है। भारतीय महाकवियो न जहा जीवन को समष्टि रूप म प्रस्तुत करने पर तथा मनोमयी भावनाओ का

प्राधान्य दर्शाते हुए महाकाव्य का अन्त सत्य शिव तथा सुन्दरम में किया है वहां पाश्चात्य काव्य रचयिताओं ने अपने दृष्टिकोण को इहलोक की विभूति तक ही सीमित रखते हुए उसमें अनिवार्य रूप से उपस्थित होनेवाली दैवी कल्पना में ही जीवन का पटाक्षेप किया है। भारतीय जीवन में आध्यात्मिकता, आदर्शवादिता एवं समन्वयात्मकता की प्रधानता रही है जबकि पाश्चात्य जीवन में भौतिकता, यथार्थवादिता एवं विश्लेषणात्मकता को प्रमुखता प्राप्त है अतः इसी के अनुरूप उनके महाकाव्यों में अन्तर मिलना स्वाभाविक है। भारतीय महाकाव्यों में सत् का असत् पर विजय पवित्र भावनाओं का विकास व नायक के उत्कर्ष तथा कथा की सुखमय परिणति पर बल दिया गया है जबकि पाश्चात्य महाकाव्यों में इनमें विरोधी तत्वों का चित्रण मिलता है। पाश्चात्य महाकाव्यों में नायक के व्यक्तित्व की अपेक्षा जातीयता पर अधिक बल दिया गया है। पश्चिम में दैव को क्रूर माना गया है, जो मानव के उत्पीड़न में प्रसन्न होते हैं भारतीय महाकाव्यों में उत्पीड़न केवल चरित्र की परीक्षा के लिए होता है, अकारण नहीं। अस्तु यूरोपीय महाकाव्य की प्रकृति का पता महाकवि होमर के दिए हुए इस सन्देश से भली भाँति चल जाता है—"निर्बल मनुष्य के लिए देवताओं ने भाग्य का यही पट बुना है उनकी इच्छा है कि मनुष्य सदा कष्ट में जियें और वे स्वयं (देवता) सदा आनन्द में रहें।

आधुनिक दृष्टिकोण

आधुनिक युग में महाकाव्य के स्वरूप एवं लक्षणों के सम्बन्ध में हमारे आलोचकों एवं कवियों के दृष्टिकोण में पर्याप्त विकास हुआ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पूर्ववर्ती संस्कृत-आचार्यों के निर्धारित लक्षणों की उपेक्षा करते हुए उसके केवल चार तत्त्वों को महत्त्व दिया है—(१) इतिवृत्त (२) वस्तु-व्यापार वर्णन (३) भावव्यञ्जना और (४) संवाद। शुक्लजी के विचारानुसार महाकाव्य का इतिवृत्त व्यापक होने के साथ-साथ सुसंगठित भी होना चाहिए। उसमें ऐसी वस्तुओं और व्यापारों का वर्णन होना चाहिए जो हमारी भावनाओं को तरंगित कर सकें। कवि की भाव-व्यंजना में हृदय को आन्दोलित कर सकने की क्षमता होनी चाहिए। महाकाव्य के संवादों में रोचकता नाटकीयता और औचित्य का गुण होना अनिवार्य है। इनके अतिरिक्त सन्देश की महानता और शैली की प्रौढ़ता भी महाकाव्य के दो आवश्यक तत्त्व हैं—यद्यपि शुक्लजी ने इनका स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया है किन्तु उनके द्वारा की गई विभिन्न महाकाव्यों की समीक्षा से यह तथ्य प्रमाणित हो जाता है।

"शुक्लजी का महाकाव्य-सम्बन्धी मानदण्ड मुख्यतः तुलसीकृत 'रामचरित मानस' पर आधारित है जो किसी युगीन रचनाओं पर भी लागू हो जाता है किन्तु परवर्ती युग के महाकाव्यों के लिए उनका मानदण्ड उपयुक्त नहीं रहता। छायावादी युग की रचनाओं में कामायनी आदि ग्रन्थ ऐसे हैं जिन्हें हम महाकाव्य के नवीनतम स्वरूप के प्रतिनिधि रूप में ग्रहण कर सकते हैं। इन ग्रन्थों में इतिवृत्त निश्चय ही संक्षिप्त और सूक्ष्म है स्थूल घटनाओं का प्राय: अभाव-सा है पात्रों के सूक्ष्म मनोविश्लेषण एवं उनकी हृदयगत भावनाओं की अभिव्यञ्जना की प्रमुखता है बाह्य-संघर्ष के स्थान पर मानसिक संघर्ष का चित्रण

है तथा प्राचीन कथानकों के आधार पर वर्तमान युग की समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए महान संदेश दिया गया है। अत इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्थूल विशेषताओं एवं शास्त्रीय लक्षणों की दृष्टि से महाकाव्य का नवीनतम रूप अपने मूल रूप से बहुत कुछ परिवर्तित हो गया है। इसी को ध्यान में रख डा० नगेन्द्र ने महाकाव्य के देशकाल निरपेक्ष पांच लक्षण प्रस्तुत किए हैं जो महाकाव्य में होने चाहिए—(१) उदात्त कथानक (२) उदात्त कार्य (३) उदात्त भाव (४) उदात्त चरित्र और ( ) उदात्त शैली। किंतु उसकी प्रकृति का मूल गुण—महाकवि द्वारा महान सत्य या संदेश को प्रस्फुटित करनेवाली महान् काव्य रचना—अब भी उसमें सुरक्षित है।

संस्कृत के महाकाव्य

भारतीय महाकाव्य-परम्परा का आरम्भ रामायण और महाभारत से होता है यद्यपि इनसे भी पूर्व कुछ महाकाव्य लिखे गए थे जो अब अनुपलब्ध हैं। रामायण और महाभारत में पूर्ववर्ती कौन है इसके सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है किंतु हम प्राचीन धारणा को स्वीकार करते हुए रामायण को ही पूर्ववर्ती मानते हैं। रामायण आदिकवि वाल्मीकि की सुन्दर कृति है जिसमें राम के चरित्र का गुण गान सात सर्गों में किया गया है। इसमें प्रबंधत्व का निर्वाह सम्यक् रूप से हुआ है तथा इसकी शैली सरल किन्तु प्रौढ़ है। विद्वानों ने इसे करुण रस प्रधान बताया है किंतु हमारे विचार से ऐसा मानना उचित नहीं। यह ठीक है कि इसके नायक राम के जीवन में अनेक दुःखद परिस्थितियों एवं घटनाओं का संयोग होता है किंतु राम उनके समक्ष पराजित दुःखी या निराश दिखाई नहीं पड़ते। उनमें सर्वत्र अपने प्राचीन आदर्शों की रक्षा का, मर्यादाओं के पालन का तथा विपक्षियों के संहार का उत्साह दिखाई देता है। राम पाठक की दया के आलम्बन नहीं अपितु उनकी श्रद्धा के पात्र बनते हैं। उन्हें पढ़कर हमें कर्तव्य-पालन की प्रेरणा मिलती है—परिस्थितियों के आगे नत मस्तक होकर भाग्य के क्रूर विधान को स्वीकार कर लेने की नहीं अतः इस काव्य का प्रधान रस वीर है करुण नहीं। वैसे अन्य रसों की आयोजना भी इसमें अंग रूप में हुई है।

महाभारत आकार प्रकार की दृष्टि से रामायण की अपेक्षा बहुत विस्तृत है तथा यह अठारह पर्वों में विभक्त है। इसकी मुख्य कथा में कौरव और पाण्डवों के संघर्ष का चित्रण है किंतु प्रासंगिक रूप में कृष्ण के भी जीवन चरित्र का वर्णन हुआ है। इसका प्रारम्भ वीर रस के साथ हुआ है किंतु अन्त शान्त में होता है। इसके विभिन्न पर्वों में अनेक उपाख्यानों का समावेश किया गया है जिनमें 'नल-दमयन्ती' शकुन्तला-दुष्यन्त आदि के उपाख्यान शृंगार रस से ओत प्रोत हैं। रामायण की सी सुसम्बद्धता इसमें नहीं मिलती। यद्यपि काल की दृष्टि से रामायण और महाभारत प्रारम्भिक काव्य रहे हैं किंतु परवर्ती साहित्य को इन्होंने जिस मात्रा में प्रभावित किया उतना किसी अन्य रचना ने नहीं किया।

इसके पश्चात् संस्कृत में और महाकाव्य लिखे गए जिनमें अश्वघोष का बुद्ध चरित, कालिदास के 'कुमारसम्भव' और 'रघुवंश', भारवि का किरातार्जुनीय, माघ का शिशुपाल वध और श्री हर्ष का नैषधीय चरित उल्लेखनीय हैं। इन महाकाव्यों में

वे प्राय सभी विशेषताएँ मिलती है जिनके आधार पर विभिन्न आचार्यों ने महाकाव्य के लक्षण निर्धारित किए हैं। अश्वघोष और कालिदास के महाकाव्यों में रस-सृष्टि के निमित्त भाव व्यंजना की प्रमुखता प्राप्त है जब कि परवर्तीयुगीन रचनाओं में आलंकारिकता और ज्ञान प्रदर्शन की प्रवृत्ति मिलती है। कथानक की जैसी रोचकता सुसम्बद्धता एवं प्रबंध का जैसा निर्वाह वाल्मीकिकृत रामायण में मिलता है, उसका इन महाकाव्यों में अभाव है। कालिदास से लेकर श्री हर्ष तक संस्कृत के सभी महाकवियों को कथावस्तु की कोई चिंता नहीं है उसे अपने भाग्य पर छोड़कर ये धीरे धीरे आगे बढ़ते हैं। जहाँ अश्वघोष और कालिदास प्रत्येक चरण पर सूक्ष्म भावानुभूतियों की व्यंजना में तल्लीन हो जाते हैं वहाँ भारवि माघ और श्री हर्ष प्रत्येक पंक्ति में अलंकारों की झड़ी लगा देते हैं। वस्तुतः संस्कृत के परवर्ती महाकवियों का ध्यान विषय वस्तु की अपेक्षा शैली के चमत्कार की ओर अधिक है और यही कारण है कि उनमें यथार्थ जीवन की परिस्थितियों पात्रों के सहज-स्वाभाविक रूप और वास्तविक घटनाओं का चित्रण नहीं मिलता।

प्राकृत और अपभ्रंश के महाकाव्य

प्राकृत और अपभ्रंश में महाकाव्य-परम्परा और आगे बढ़ी। प्राकृत के महाकाव्यों में रावण वहो (रावण वध), लीलावइ (लीलावती) सिरिचिन्हकव्व (श्री चिन्ह काव्य) उसाणिरुद्ध (उषानिरुद्ध) कंस वहो (कंस वध) आदि उल्लेखनीय हैं। अपभ्रंश में जैन कवियों द्वारा भी उच्च कोटि के महाकाव्य लिखे गए जिनमें कुछ ये हैं— (स्वयंभू ९वीं शती ई०) के पउमचरित और रिट्ठणेमिचरिउ में क्रमश रामायण और महाभारत से कथानक ग्रहण किया गया है। पुष्पदंत (१०वीं शती ई०) ने 'महापुराण' 'नागकुमार चरित' 'यशोधरा चरित' में अनेक जैनधर्मानुयायी महापुरुषों के चरित का गान किया है। आगे चलकर पद्मकीर्ति धनपाल, वीर, नयनन्दि कनकामर मुनि आदि ने भी पुष्पदंत का अनुकरण करते हुए अनेक चरित-काव्य लिखे जिनमें से कुछ में महाकाव्य की संज्ञा से भूषित होने की क्षमता है। प्राकृत और अपभ्रंश के महाकाव्य मुख्यतः धार्मिक उद्देश्यों से प्रेरित हैं। उनका लक्ष्य जन-साधारण की श्रद्धा को अपने तीर्थङ्करों व पौराणिक पात्रों की ओर उन्मुख करना है। अतः उनमें कथानक की रोचकता पात्रों की आत्मीय साम्प्रदायिक शिक्षाओं का प्रचार और शैली की सरलता मिलती है। ये महाकाव्य माघ और श्री हर्ष के महाकाव्यों की भांति कोरे विद्वानों के मनन की ही वस्तु नहीं हैं साधारण शिक्षित व्यक्ति भी उनका रसास्वादन कर सकता है।

हिंदी के महाकाव्य

प्राकृत और अपभ्रंश की महाकाव्य-परम्परा हिन्दी में और भी अधिक पल्लवित पुष्पित और विकसित हुई। हमारे कुछ विद्वानों की मान्यता है—हिन्दी में यद्यपि लम्बे आकार के अनेक सम्बद्ध काव्य ग्रंथों की रचना हुई किन्तु उनमें से केवल कुछ को ही महाकाव्य कहा जा सकता है और सच्चे अर्थ में तो महाकाव्य का प्राय अभाव ही समझना चाहिए। वास्तव में हिन्दी भाषा के सम्पूर्ण विकास-काल में महाकाव्य की रचना के लिए

उपयुक्त वातावरण का अभाव रहा है। वस्तुत यह धारणा कुछ निजी भ्रान्तियों पर आधारित है अन्यथा जिस काल में महाराणा प्रताप शिवाजी छत्रसाल गोविन्दसिंह बालगंगाधर तिलक, महात्मा गांधी सुभाषचन्द्र बोस और जवाहरलाल नेहरू जैसे महापुरुषों का आविर्भाव हुआ उसे महाकाव्य की रचना के अनुपयुक्त बताना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। यदि कुछ निराशावादी दृष्टिकोण को छोड़कर न चला जाय तो हिन्दी में हम अनेक महाकाव्य—पद्मावत रामचरित मानस कामायनी कुरुक्षेत्र आदि दृष्टिगोचर होंगे जिन पर किसी भी भाषा का साहित्य गर्व कर सकता है।

हिन्दी के प्रारम्भिक काल आदिकाल या वीरगाथा काल का तो अस्तित्व ही संदिग्ध है। इस युग में रचित मानी जानेवाली रचनाओं में अधिकांश अप्रामाणिक या परवर्ती हैं। इसी कोटि की रचनाओं में पृथ्वीराज रासो भी एक है जो महाकाव्य की सी महत्ता से सम्पन्न है। इस ग्रन्थ का यह दुर्भाग्य था कि अभी वह साहित्य-गगन में पूर्णत उद्भासित भी न हो पाया था कि कुछ इतिहासकारों की क्रूर दृष्टि इस पर पड़ गई फलत यह ऐतिहासिकता प्रामाणिकता व स्वाभाविकता आदि ग्रहों की काली छाया से आवृत होकर आभा शून्य हो गई। यदि विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से देखें तो किसी भी रचना का महत्त्व इस बात में नहीं है कि वह किस युग में किस कवि के द्वारा रची गई अपितु उसकी भावनाओं को तरंगित करने की शक्ति उसमें निहित काव्य-गुणों की व्यापकता तथा उसकी शैली की प्रौढ़ता में है। यदि रामचरित मानस का रचयिता तुलसी के स्थान पर और कोई सिद्ध हो जाय और उसके रचना-काल में दो-तीन शताब्दियों आगे-पीछे होने का प्रमाण मिल जाय तो क्या इससे उसका महत्त्व न्यून हो जायगा? मानस का महत्त्व तुलसी के कारण नहीं अपितु तुलसी का महत्व मानस के कारण है। अत रासो का रचयिता भी चन्द हो या कोई अन्य वह बारहवीं शती में रचित हो या सत्रहवीं में—महाकाव्य की दृष्टि से उसके महत्व में विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

पृथ्वीराज रासो के विभिन्न आकारों के अनेक संस्करण मिलते हैं जिनमें सबसे बड़ा संस्करण ६९ सर्गों में विभाजित तथा लगभग अढ़ाई हजार पृष्ठों का है। परम्परा के अनुसार इसके रचयिता चन्दबरदाई माने जाते हैं जो चरित-नायक पृथ्वीराज राठौर के मन्त्री और सेनापति भी थे। महाकाव्य के प्राचीन लक्षणों के अनुसार इसमें नायक के गौरव को अक्षुण्ण रखने के लिए ऐतिहासिक इतिवृत्त में पर्याप्त परिवर्तन एवं परिवर्द्धन किया गया है। जीवन के व्यापक स्वरूप एवं प्रकृति और जगत के विस्तृत क्षेत्र को प्रस्तुत करने के उद्देश्य से इसके रचयिता ने अनेक मौलिक घटनाओं की कल्पना की है जिससे यह मध्यकालीन जीवन का एक वृहत चित्रपट बन गया है। यही कारण है कि इसमें तत्कालीन जीवन की सामन्ती वैभव सामाजिक आचार-व्यवहार धार्मिक विधि विधान एवं उस युग के विभिन्न पर्व त्योहार और उत्सवादि के उल्लेख स्पष्ट सजीव रूप में चित्रित हैं। मन मदन रानीतिक घटनाओं व युद्ध आदि में सम्भव क्रमबद्ध इतिहास की खोज रुगाएँ इसमें नहीं मिलता किन्तु अपने युग के सामाजिक जीवन का सूक्ष्म रूप रंग इसमें पूर्णत विद्यमान है। वस्तुत मध्यकालीन संस्कृति के जिज्ञासुओं के लिए जितनी सामग्री इस ग्रन्थ में उपलब्ध होती है उतनी किसी अन्य साधन से दुष्प्राप्य है।

रासोत्व की दृष्टि से भी रासो का महत्व न्यून नहीं है। वस्तुतः इसमें प्राय सभी रसों का चित्रण यत्र-तत्र हुआ है किन्तु वीर, रौद्र और शृंगार की व्यंजना में तो कवि ने अद्भुत सफलता प्राप्त की है। युद्ध-सम्बन्धी दृश्यों के चित्रण में तो कवि की निजी अनुभूतियों का योग दृष्टिगोचर होता है—

> बज्जिय घोर निसान रांन चौहान चहौं दिस।
> सकल सूर सामंत समरि बल जंत्र मंत्र तिस॥
> उठ्ठि राज पथ्थिराज बाग लग्गा मनौं वीर नट।
> कढत तेग मनावेग लग्गत मनौं बीज झट्ट घट्ट॥
>
> × × ×
>
> मच्च कूह कूह बहै सार सार, चमक्क चमक्क करार सुधार।
> भभक्क भभक्क बहै रत्त धार, सनक्क सनक्क बहै बान भार॥

यहाँ अक्षरों के द्वित्व, शब्दों की आवृत्ति और वाक्य विन्यास की विलक्षणता के द्वारा ओज गुण की सृष्टि कर दी गई है जिससे रणभूमि का वातावरण सजीव रूप में प्रस्तुत हो जाता है। इसी प्रकार शृंगार की अभिव्यक्ति में कवि ने विषय के अनुरूप कोमल एवं मधुर शब्दावली का प्रयोग किया है—

> "वेई आवास जग्गनि पुरह वेई सहचरि मंडलिय।
> संजोग पयपति कंत बिन, महि न कछू लग्गत रलिय।"

अर्थात सब कुछ—घर योगिनीपुर सहचरियों के समूह आदि—वही हैं किन्तु प्रिय पति के संयोग के बिना मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

वस्तुतः युग चित्रण की व्यापकता, भावों की सफल अभिव्यक्ति एवं शैली की प्रौढ़ता की दृष्टि से पृथ्वीराज रासो एक उच्चकोटि का काव्य है जिसमें महाकाव्य के प्राय प्राय सभी लक्षण मिल जाते हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि इसमें ऐसा कोई व्यापक संदेश—राष्ट्रीय एकता जैसा—नहीं मिलता अतः इसे महाकाव्य की कोटि में रखना उचित नहीं किन्तु हम उनसे सहमत नहीं हो सकते। सामंती युग में जैसा सन्देश एक कवि दे सकता है वैसा इसमें भी दिया गया है—अपनी मान-मर्यादा की रक्षा करते हुए प्राणों का उत्सर्ग कर देना ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। सारा काव्य इसी सन्देश की ध्वनि से गुंजित है। किन्तु जो लोग एक मध्ययुगीन कवि से आधुनिक युग की सी राष्ट्रीय एकता का सन्देश पाने की आशा करते हैं उन्हें अवश्य इसमें निराश होना पड़ता है।

हिन्दी के पूर्व मध्य युग (भक्तिकाल) के महाकाव्यों में मलिक मुहम्मद जायसी कृत पद्मावत का भी बहुत ऊँचा स्थान है, जो प्रेमाख्यान-परम्परा का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है। इस काव्य-परम्परा के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियों का प्रचार हो रहा है जैसे यह परम्परा फारसी मसनवियों से प्रभावित है, इसके कवियों का उद्देश्य सूफी धर्म का प्रचार करना था तथा इनमें आध्यात्मिक प्रेम का चित्रण किया गया है आदि-आदि। इन भ्रान्तियों का निराकरण हम अन्यत्र (देखिए—हिन्दी काव्य में शृंगार-परम्परा और महाकवि बिहारी) कर चुके हैं। वास्तव में इस परम्परा का सम्बन्ध भारत की उस प्राचीन प्रेमाख्यान काव्य-परम्परा से है जिसका आरम्भ सुबन्धु की वासवदत्ता बाण की काद-

म्परी और दडी के 'दशकुमार चरित' म होता है। सम्कृत कवि गद्य म प्रमाख्यान लिखते थ जवकि प्राकृत और अपभ्रंश के कवियो ने पद्य म लिखने की परिपाटी का जन्म दिया तथा आगे चलकर हिन्दी पजाबी और गजराती कवियो न भी पद्य का ही प्रयोग किया। कथानक की रूढ़िया प्रम क स्वरूप एव विकास तथा शलीगत विशेषताओ की दृष्टि से अपभ्रंश हिन्दी और गुजराती क प्रमाख्याना म गहरा साम्य है तथा इसके अतिरिक्त हमारे पास अनक एस ठोस प्रमाण है जिनक आधार पर यह निःसकोच कहा जा सकता है कि हिन्दी क प्रमाख्यान फारसी मसनवियो स नहा अपितु पूववर्ती भारतीय प्रेम-कथा साहित्य से सम्बधित हैं। पद्मावत के रचयिता न भी अपन पूववर्ती ग्रन्थो म भारतीय प्रमाख्याना का ही उल्लेख किया है—फारसी मसनवियो का नहा।

'पद्मावत' का इतिवृत्त अद्ध-एतिहासिक है कवि ने भारतीय प्रमाख्याना की रूढ़िया को गुम्फित करन के लिए उसके ऐतिहासिक इतिवृत्त म पर्याप्त परिवतन एव परिवद्धन कर लिया है। नायक रत्नसेन द्वारा नायिका पद्मावती का प्राप्ति करन तक की कहानी जिस इस ग्रथ का पूर्वार्द्ध कहा जाता है काल्पनिक है किन्तु फिर भी वह उत्तराद्ध से अधिक मह्त्वपूर्ण है। पूर्वार्द्ध के अन्त म जाकर कहानी समाप्त सी हो जाती है किंतु आगे चलकर इस ढग म उसका पुनरुत्थान किया गया है कि वह कवि की प्रबन्ध-कुशलता का परिचायक है। पूर्वाद्ध और उत्तराद्ध के दो स्वतन्त्र कथानको को इस सफलता से सम्बद्ध कर दिया गया है कि पाठक को इस जोड का पता नक नहा चलता।

पात्रो का विविधता का भी पद्मावत म अभाव नहा है। यह ठीक है कि जायसी ने प्रत्यक पात्र की किसी एक ही चरित्रगत विशिष्टता को उभारा है जसे रत्नसेन की प्रमविह्वलता पद्मावती का सौन्दर्य एव कामजन्य मनाभावना राघव-चेतन की दुष्टता अलाउद्दीन की कूटनीतिज्ञता गोरा-बादल की शूरवीरता आदि किन्तु इस क्षेत्र म उनकी प्रतिस्पर्धा कोई अन्य कवि नहीं कर सकता। चारित्रिक प्रवृत्तियों के चित्रण म उनकी दृष्टि कहीं विविध्य क स्थान पर एकत्व पर रही है इसी स उनक पात्रो म मनोवृत्तियों की जटिलता न मिलकर गम्भीरता क दर्शन होते हैं। विभिन्न भावो की व्यजना म पद्मावत के रचयिता न एक सफल कवि का सी क्षमता का परिचय दिया है विशषत प्रम और विरह का अभिव्यक्ति म तो उन्ह असाधारण सफलता मिली है।

पद्मावत क साहित्यिक मूल्यो क साथ साथ अधिक अन्याय उन विद्वाना क द्वारा

ह जा कि कवि के मवेना (तन चिनउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुद्धि पद्मिनी चीन्हा।) मे असम्बद्ध होने के कारण उचित नही। जिस प्रकार स सासारिक कमजार मी इडा के चक्कर म फँसा हुआ कामायनी का मनु (मन) हृदय पक्ष स सम्बन्धित श्रद्धा की सहायता से आनन्द प्राप्त करता है ठीक उसी प्रकार नागमती रूपा दुनिया धधा म आसक्त रत्नसन रूपी मन गुरु के उपदेश म सात्विक ज्ञान—हृदयवासिनी बुद्धि (हिय सिंघल बुद्धि पद्मिनी चीन्हा)—या श्रद्धा (पद्मिनी) को प्राप्त करता है और अन्त म आसुरी वृत्तियो का दमन करके मोक्ष प्राप्त करता है। कामायनी और पद्मावत में पात्रो म गहरी समानता है—दोनो म मन के प्रतीक क्रमश मनु और रत्नसन सासारिक बुद्धि के इडा और नागमती, हृदयवासिनी बुद्धि या श्रद्धा के श्रद्धा और पद्मिनी आसुरी वृत्तियो के किरातादि और राघव चेतन व अलाउद्दीन ह। अत जिस प्रकार कामायनी का सदेश सासारिक कर्मो की आसक्ति का त्यागकर आनन्द प्राप्ति का है बस हा पद्मावत का मोक्ष-प्राप्ति का है। सभवत कुछ लोग इस बात पर आश्चर्य करेंगे कि मुसलमान होकर भी जायसी न हिन्दुस्तान को क्या अपनाया किन्तु उन्हे स्मरण रखना चाहिए कि सारी 'पद्मावत' म ही हिन्दू-सस्कृति हिन्दू-सभ्यता और हिन्दू धर्म का चित्रण हुआ है अत उसम हिन्दू दर्शन की अभिव्यक्ति हो तो अस्वाभाविकता क्या है?

जहा तक युग की परिस्थितियो एव लोक-जीवन के चित्रण का प्रश्न है पद्मावत को हम अपने युग का एक सच्चा दपण कह सकते हैं जिसम तत्कालीन समाज की विभिन्न रीति-रिवाजो और प्रथाओ का लोक विश्वास और लोक विचारो का विभिन्न पर्वो व उत्सवो का दीवाली होली, बसन्त आदि त्योहारो का सजीव प्रतिबिम्ब देखने को उपलब्ध होता है। साथ ही इसम शैली की प्रौढता अलकारो का वैभव और उपमानो का भडार भी विद्यमान है अत इसम उन सभी प्रमुख गुणो का समन्वय हो जाता है, जिनके आधार पर कोई रचना 'महाकाव्य' पद की अधिकारिणी होती है।

अवधी भाषा और दोहा चौपाई शैली म प्रबन्ध-लेखन की जिस परम्परा का प्रवर्तन प्रेमाख्यान के रचयिताओ द्वारा हुआ था, उसका परिष्कृत रूप हम महाकवि तुलसी द्वारा रचित रामचरित मानस' म उपलब्ध होता है। रामचरित किसी एक युग एक भाषा और किसी एक कला का विषय नही है अपितु विभिन्न युगो और विभिन्न भाषाओ व कलाओ म पुरुषोत्तम राम के दिव्य जीवन का चित्रण होता रहा है। गुप्तजी की यह उक्ति राम तुम्हारा नाम स्वय की काव्य है सभवत इसी तथ्य की ओर सकेत करती है किन्तु तुलसी के महाकाव्य का अध्ययन करते समय इस भ्रान्ति स बचना उचित होगा। *यह महाकाव्य एक ऐसी प्रतिभा शक्ति और सूक्ष्म दृष्टि को लेकर हिंदी काव्य म* अवतरित हुआ है कि रामचरित का प्राचीन विषय भी एक नवीन सौन्दय नये आकषण और एक नयी अभिव्यक्ति से सम्पन्न हो गया।

'रामचरित मानस' का कथानक की अनेक भूमिकाओ द्वारा प्रस्तुत किया गया है। सारी कथा अनेक वक्ताओ और अनेक श्रोताओ के माध्यम से व्यक्त होता है किन्तु फिर भी इसकी प्रबन्धात्मकता को कहीं कोई ठेस नहीं लगती। निझरिणी की भाति कहानी अनेक प्राचीन और नवीन कथानको की पवनाय शाखाओ दुगम घाटियो और अडिग चट्टानो म

प्रवेश करती हुई आगे बढ़ता है। उसका राह में अनेक गमनागम और विषम स्थल तथा मरु वन प्रदेश और गिरि मरुस्थल भी उपस्थित होते हैं किन्तु तुलसी की मानस-सरिता का प्रवाह कहीं भी अवरुद्ध क्षीण या मग्न नहीं होता। तुलसी अपने पात्रों के जन्म जन्मान्तर तक की घटनाएं सुना देते हैं किन्तु ऐसा करते समय पूर्व के उपयुक्त वातावरण और समय को भी साज कर लेते हैं। तुलसी का काव्य-कला के इस विराट ढाँचे और विस्तृत रूप को देखते हुए उसमें शिल्पगत दो चार त्रुटियों का कोई विशेष महत्व नहीं रहता।

रामचरित मानस के पात्रों में कुछ ऐसी विशिष्टता स्वाभाविकता और सभ्यता मिलती है जो अनायास ही पाठक को बुद्धि और कल्पना को चित्रित कर देती है। दशरथ की तीनों रानियां, और उनके चारों पुत्रों में से प्रत्येक के चरित में कुछ ऐसा स्पष्ट अन्तर है जिसमें हम उन्हें एक दूसरे से पृथक कर सकते हैं। इसी प्रकार रावण कुम्भकरण और विभीषण तीनों राक्षस-कुलोत्पन्न होते हुए भी वैयक्तिक विशिष्टता से सम्पन्न हैं। कहीं कहीं पात्रों के चरित्र का विकास भी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक आधार पर दिखाया गया है जैसे पति-परायण कैकेयी का कुम्भातिनी बन जाना। सुग्रीव जैसे सरल व्यक्ति का राज्य प्राप्ति के अनन्तर भोग विलास में लीन हो जाना या विभीषण का भ्रातृद्रोह के लिए विवश होना। विभिन्न अवसरों पर पात्रों के संवाद—परशुराम-लक्ष्मण-संवाद मंथरा-कैकेयी सम्वाद अंगद रावण सम्वाद आदि—सबके मर्यादित न होते हुए भी स्वाभाविक रोचक एवं नाटकीय हैं। उनमें पात्रानुकूल भावनाओं एवं विचारों की अभिव्यक्ति हुई है।

रामचरित मानस' में प्राय सभी प्रमुख रसों की व्यञ्जना प्रसंगानुसार हुई है यद्यपि इसमें प्रमुखता भक्ति और शान्त रस की है। मानव हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म वृत्तियों का भी चित्रण महाकवि तुलसी ने सफलतापूर्वक किया है। भाव दशा के विकास में वे एक ही साथ अनेक संचारियों और अनुभवों का आयोजन करने में समर्थ हैं उदाहरण के लिए दशरथ की भाव विह्वल दशा का चित्रण द्रष्टव्य है—

> धरि धीरजु उठि बैठ भुआलू कह सुमंत्र कह राम कृपालू।
> कहाँ लखनु कहँ राम सनेही कहँ प्रिय पुत्रवधू बैदेही॥
>
> × × ×
>
> सो तनु राखि करब मैं काहा, जेहिं न प्रेम पनु मोर निबाहा।
> हा रघुनंदन प्रान पिरीते, तुम्ह बिनु जिअत बहुत दिन बीते॥

रामचरित-मानस का भाव-पक्ष जितना गम्भीर है, उसकी शैली भी उतनी ही प्रौढ़ है। सभी दृष्टिकोणों से इसमें काव्य-कला के महत् रूप का दर्शन होता है। जहाँ तक युग धर्म और मर्यादा का सम्बन्ध है यह ग्रंथ समस्त उत्तरी भारत में एक पवित्र धर्म ग्रन्थ की भाँति आदृत होता रहा है। अपने युग की विभिन्न धार्मिक एवं सामाजिक समस्याओं का समाधान इसमें प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि इसकी कुछ त्रुटियाँ भी बताई गई हैं जैसे—इसमें पौराणिकता का प्रभाव अत्यधिक मात्रा में होने के कारण अवान्तर कथाओं तथा प्रसंगों का आधिक्य है तथा माहात्म्य स्तोत्र स्तवनों का पुण्य कथा के वर्णन सैद्धान्तिक विवेचन और प्रचारात्मक उपदेशों का भी अधिकता है किन्तु फिर भी इसको विशेषताओं को देखते हुए इसे उच्च कोटि का महाकाव्य मानना उचित है।

हिन्दी के उत्तर मध्य युग (रीतिकाल) में प्रबन्ध काव्य तो अनेक लिखे गए किन्तु उनमें काव्यत्व की वह प्रौढ़ता या गम्भीरता नहीं मिलती जिससे उन्हें महाकाव्य की संज्ञा दी जा सके। इनमें से केशव की 'रामचन्द्रिका' को कुछ विद्वान महाकाव्य मानने के पक्ष में रहे हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि महाकाव्य के स्थूल लक्षणों की पूर्ति करने का प्रयास इसमें किया गया है। पूरी कथा ३९ सर्गों में विभाजित है तथा पुरुषोत्तम राम इसके चरित्र नायक हैं। किन्तु इसमें अनेक ऐसे दोष मिलते हैं जिनसे यह महाकाव्य की महत्ता से वंचित हो जाती है। *कवि का मूल लक्ष्य पाण्डित्य प्रदर्शन विविध छन्दों और अलंकारों* का आयोजन करना रहा है जिसमें वह मानव जीवन के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन नहीं कर सका। केशव की कल्पना इतनी विराट नहीं कि वह समस्त युग और समाज के सब रूपों को सजीव रूप में प्रस्तुत कर सके। इसका कथानक शिथिल और गति शून्य-सा और वस्तु वर्णन देश-काल के औचित्य से शून्य है। अनावश्यक वर्णनों की भरमार, अत्यधिक वस्तु परिगणना की प्रवृत्ति नाना प्रकार के छन्दों के प्रभावहीन प्रयोग एवं शैली की क्लिष्टता के कारण इसमें काव्य-सौंदर्य की सृष्टि नहीं हो सकी। अतः महाकाव्य तो क्या, इसे एक सफल प्रबन्ध-काव्य स्वीकार करना भी कठिन है।

आधुनिक युग में अनेक ऐसे प्रबन्ध-काव्य लिखे गए हैं जो आकार प्रकार की विशालता एवं स्थूल लक्षणों की दृष्टि से महाकाव्य की कोटि में आ सकते हैं किन्तु सूक्ष्म गुणों की दृष्टि से इनमें केवल तीन ही प्रमुख हैं—(१) साकेत (२) कामायनी और (३) कुरुक्षेत्र। 'साकेत' राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का सर्वोत्कृष्ट काव्य माना जाता है। इसमें रामायण की पुनीत कथा को नवीन दृष्टिकोण से प्रस्तुत करते हुए उपेक्षिता उर्मिला एवं कैकेयी को विशेष महत्व दिया गया है किन्तु प्रत्येक महान रचना 'महाकाव्य' नहीं कहला सकती। कालिदास का मेघदूत कम महत्वपूर्ण नहीं है किन्तु उसे महाकाव्य नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः साकेत में उस व्यापक दृष्टिकोण जीवन के विराट रूप भाव-क्षेत्र की गम्भीरता एवं युग-सन्देश की महत्ता का अभाव है, जो महाकाव्य के लिए अपेक्षित है। इसमें मुख्यतः जीवन का एक खण्डरूप—राम-लक्ष्मण वनवास और उर्मिला का विरह—ही प्रस्फुटित हुआ है। अपने दुःख भार की शिला को नैनों के जल से तिल तिल कर काटने वाली उर्मिला के प्रति हम पूरी सहानुभूति है किन्तु उसे आराध्या रूप स्वीकार करने में असमर्थ हैं। गुप्तजी अवश्य उसे कताई-बुनाई के प्रशिक्षण में दीक्षित करके समाज नेत्री के पद पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे किन्तु इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। शेष पात्रों में से भी *किसी का व्यक्तित्व इतना अधिक प्रभावशाली नहीं बन सका कि उसे हम महा*काव्य का नायक कह सकें। वास्तव में साकेत का गौरव विरह-काव्य के रूप में है महाकाव्य सिद्ध न होने से भी उसके महत्त्व में विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

'कामायनी' कविवर जयशंकर प्रसाद की सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है जिसे हिन्दी के आधुनिक-युगीन प्रबन्ध-काव्यों में शीर्ष स्थान प्राप्त है। इसके कथानक की रूपरेखाएँ सूक्ष्म अस्पष्ट एवं अस्वाभाविक होते हुए भी उसमें मानव जाति के समस्त इतिहास को समेटने का प्रयत्न किया गया है। प्रलय से लेकर आधुनिक युग तक की कहानी को इसमें गुम्फित किया गया है। समस्त काव्य में स्थूल घटनाएँ तीन चार ही हैं वे भी श्रद्धा और

मनु के बार-बार मिलने और बिछुड़ने, मनु और इडा के मिलन और बिछुड़न तक सीमित है। अतः प्रबन्ध-काव्य की-सी इतिवृत्तात्मकता एवं रोचकता का इसमें अभाव है किन्तु मानव हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं का जैसा मार्मिक, विस्तृत एवं गम्भीर चित्रण किया गया है, वह इसके सारे अभावों की पूर्ति कर देता है। कथानक का आरम्भ शोक से करते हुए इसमें क्रमशः शृंगार वीर रौद्र विस्मय एवं शान्त रस की आयोजना की गई है मानवीय सौन्दर्य की अभिव्यंजना इसमें प्रकृति के मनोहर रूप रंग की आभा में वेष्टित करके की गई है इसकी नायिका श्रद्धा की मंजुल मनोहर छवि पर भारतीय साहित्य की समस्त नायिकाओं—उर्वशी तिलोत्तमा, शकुन्तला दमयन्ती पद्मावती आदि—के सौन्दर्य को शत शत बार न्यौछावर किया जा सकता है। नारी के व्यक्तित्व के सभी स्थूल और सूक्ष्म गुणों का समन्वित रूप प्रथम बार हम कामायनी की नायिका में उपलब्ध होता है। उसकी केवल एक वृत्ति—लज्जा को लेकर पूरे सर्ग की रचना कर देना कामायनीकार की काव्य प्रतिभा का प्रमाण है।

काव्यत्व की दृष्टि से कामायनी जितनी प्रौढ़ है जीवन दर्शन और युग सन्देश की दृष्टि से वह उतनी ही महान है। इसमें मानव-जीवन की उन चिरन्तन समस्याओं का चित्रण किया गया है जो स्थूल भौतिक जगत की घटनाओं से नहीं अपितु मस्तिष्क और हृदय की सूक्ष्म वृत्तियों द्वारा उपस्थित होती है। संघर्ष और युद्ध का कारण कोई जाति विशेष देश विशेष या वाद विशेष नहीं है अपितु हमारी ही अपनी चित्तवृत्तियाँ हैं। सुख की लालसा में मानव भटकता हुआ किस प्रकार स्वार्थ-वृद्धि के माया-जाल में फँस जाता है जिससे उसका जीवन अनेक असंगतियों का केन्द्र बन जाता है। अस्तु, मानव जीवन में सुख और शान्ति का मूल मन्त्र कामायनीकार के शब्दों में ज्ञान क्रिया और इच्छा में उचित समन्वय स्थापित करना है। आज के युग में बुद्धि या ज्ञान का एकांगी विकास हो रहा है, जो समस्त मानव-जाति के लिए अशुभ एवं घातक है।

'कुरुक्षेत्र' श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' की उत्कृष्ट रचना है। इसका इतिवृत्त कामायनी से भी लघु संक्षिप्त एवं घटना विहीन है फिर भी उसमें रोचकता का अभाव नहीं। महाकाव्य के स्थूल लक्षण इस पर लागू नहीं होते किन्तु काव्य की गरिमा और आत्मा की महानता इसमें मिलती है। युधिष्ठिर की मानसिक अवस्था का क्रमिक विकास इसमें मर्मस्पर्शी रूप में दिखाया गया है। युधिष्ठिर और भीष्म के रूप में मानो शान्त और वीर रस में वाद विवाद प्रस्तुत किया गया है। प्राचीन पात्रों के माध्यम से इसमें शान्ति की समस्या पर प्रकाश डाला गया है। षष्ठ सर्ग में कामायनीकार की भाँति इसमें भी आधुनिक युग की अति-बौद्धिकता का विरोध किया गया है। अन्त में कवि का सन्देश है—"शान्ति नहीं तब तक जब तक नर का सुख भाग न सम होगा। जो युग की आवश्यकता के अनुरूप है। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से कामायनी और कुरुक्षेत्र—दोनों में ही महाकाव्य की अनेक विशेषताएँ नहीं मिलतीं किन्तु महाकाव्य का-सा महत्त्व और उदात्तता अवश्य इनमें है।

उपर्युक्त महाकाव्यों के अतिरिक्त भी इस युग में रचित शताधिक प्रबन्ध-काव्य इस प्रकार के मिलते हैं जिन्हें महाकाव्य के रूप में ही रचा गया है पर वे अधिक प्रचलित

नहा हो सके, यथा—'नल-नरश (प्रतापनारायण, १९३३), 'नूरजहाँ (गुरुभक्त सिंह, १९३५) मिद्धाथ (अनूप शमा, १९३७) 'कृष्णायन (द्वारकाप्रसाद मिश्र, १९४३), साकेत-सन (बल्देवप्रसाद मिश्र, १९४६), 'अगराज' (आनन्दकुमार १९५०), 'वद्धमान (अनूप शर्मा, १९५१), 'देवाचन' (वकील, १९५२) रावण' (हरदयालु सिंह- १९५२), 'पावनी' (रामानन्द तिवारी, १९५५) 'झाँसी की रानी (श्यामनारायण प्रसाद १९५५) 'मीरा' (परमेश्वर द्विरेफ, १९५७) 'एकलव्य' (डा० रामकुमार वर्मा, १९५८), 'उर्मिला' (बालकृष्ण शमा ५८), 'उवशी (दिनकर १९६१) आदि प्रमुख हैं। इनम से यहाँ कुछ रचनाओं का परिचय प्रस्तुत किया जाता है।[1]

द्वारकाप्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' (१९४३ ई०) 'रामचरित मानस' के अनुकरण पर रचित कृष्ण सम्बन्धी प्रबन्ध-काव्य है जो सात काण्डों म विभक्त है—(१) अवतरण काण्ड (२) मथुरा काड (३) द्वारका काड (४) पूजा काड (५) गीता काड (६) जय काड और (७) आरोहण काड। इसकी भाषा अवधी तथा शली दोहा चौपाई की ही है। विभिन्न पात्रो का—मुख्यत कृष्ण के—चरित्र को चित्रित करने म कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। कृष्ण का अत्यन्त दिव्य एव उदात्त रूप म प्रतिष्ठित किया गया है। महाकाव्य क विभिन्न लक्षणो का भी निवाह हुआ है।

बल्देवप्रसाद मिश्र का 'साकेत-सत' (१९४६ ई०) भरत के चरित पर प्रकाश डालनेवाला सफल प्रबन्ध काव्य है। इसका नाम गुप्तजी के साकेत की स्मृति करवाता है। वस्तुत जिस प्रकार साकेतकार का लक्ष्य उपेक्षित उर्मिला के चरित्र को ऊँचा उठाना रहा है वसे ही इसम भरत के चरित्र को उठाने का लक्ष्य रहा है। इसम घटनाओ की अपेक्षा पात्रो के चित्रण का ध्यान अधिक रहा है। भरत, माण्डवी, कैकेयी का अत्यन्त सजीव रूप म प्रस्तुत किया गया है। रचना अत्यन्त भावपूर्ण, गम्भीर एव प्रौढ है एक नमूना द्रष्टव्य है—

कुलवधू क्य रहती स्वच्छन्द, उसे बस अपना भवन पसन्द।
आपके रहे अचल सुख साज, उसे प्रिय अपना स्वजन समाज॥

गुरुभक्तसिंह भक्त के दो ऐतिहासिक महाकाव्य 'नूरजहाँ (१९३५ ई०) और विक्रमादित्य (१९४७ ई०) उल्लेखनीय हैं। इनम से पहले काव्य म रोमास की प्रमुखता होने क कारण इसे आदशवादी तो नही कहा जा सकता, किन्तु विषय-वस्तु की अन्य विशेषताओ एव प्रतिपादन-शली की दृष्टि से इसे यहा स्थान दिया जा सकता है। यह अठारह सर्गो म विभक्त है तथा महाकाव्य के लिए अपेक्षित प्राय सभी शास्त्रीय लक्षणो का समावेश इसम मिलता है, फिर भी भावनाओ के जिस औदात्य एव सत्य की जिस गरिमा की महाकाव्य स अपेक्षा होती है उसका इसम अवश्य अभाव है। नूरजहाँ के प्रति जहाँगीर के अतिशय अनुराग की अभिव्यक्ति इसम सफलतापूवक हुई है।

---

१ आधुनिक युग मे रचित प्रबन्ध-काव्यो का (जो कि महाकाव्य के निकट पडते हैं) विस्तृत परिचय 'हिन्दी साहित्य का वज्ञानिक इतिहास' मे 'आदशवादी काव्य परम्परा' (पृष्ठ ६४० ६७७) मे देखिए।

'विक्रमादित्य' चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासनकाल की घटना पर आधारित है पर
इसमें उनके जीवन के उत्तरार्ध की घटना तथा शृंगारिक रूप को अंकित किया गया है।
रति का मूल स्रोत चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के प्रणय का आरम्भ दिखाई पड़ता है।
यह भी विचित्र बात है कि कवि ने आरम्भ में दोनों ही काव्यों में ऐसी नायिकाओं को लिया है,
जिनका पहला विवाह अयत्र हो जाता है तथा उनके प्रेमी उनके प्राप्त करने में लिए उनके
पतियों का वध करते हैं। लगता है कवि का उद्देश्य विवाह की समस्याओं की अपेक्षा
प्रेम को अधिक महत्त्व स्थापित करना रहा है या दूसरे शब्दों में वे प्रेम को ही विवाह का
वास्तविक आधार सिद्ध करना चाहते हैं जो किसी सीमा तक ठीक भी है।

अनूप शर्मा ने विभिन्न धर्म प्रवर्तकों को लेकर दो महाकाव्य—'सिद्धार्थ' (१९३७
ई०) एवं 'वर्द्धमान' (१९५१ ई०) प्रस्तुत किए हैं। सिद्धार्थ की कथा-वस्तु अश्वघोष
के बुद्ध चरित एवं एडविन आर्नल्ड के लाइट आफ एशिया से प्रभावित है तथा अठारह
सर्गों में विभक्त है। गौतम बुद्ध की पत्नी यशोधरा को भी इसमें पर्याप्त महत्त्व दिया गया
है। बुद्ध को अवतार पुरुष के रूप में चित्रित करते हुए उनके चरित्र को बहुत ऊँचा उठाया
गया है। अन्य पात्रों के भी चरित्र चित्रण पर यथेष्ट ध्यान दिया गया है। प्रकृति-वर्णन
तथा विभिन्न भावों की व्यंजना में कवि को अच्छी सफलता मिली है।

वर्द्धमान में जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर का चरित्र सत्रह सर्गों में प्रस्तुत किया
गया है। इसमें महावीर के जन्म से लेकर ज्ञान प्राप्ति तक के पूरे जीवन को अंकित किया
गया है। इसकी शैली पर हरिऔध के 'प्रिय प्रवास' का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उसी
के अनुरूप इसमें संस्कृत के वर्णिक छन्दों का जैसे वंशस्थ मालिनी द्रुतविलम्बित आदि का
प्रयोग किया गया। यद्यपि काव्य में मूलतः शान्त रस का प्रतिपादन किया गया है किन्तु
प्रसंगानुसार अन्य रसों के भी समावेश का यत्न किया गया है।

श्यामनारायण पाण्डेय का राजपूतकालीन इतिहास से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण
प्रबन्ध-काव्य 'हल्दीघाटी' (१९४९ ई०) उल्लेखनीय है। इसमें हिन्दू गौरव महाराणा
प्रताप के चरित्र को सत्रह सर्गों में अंकित किया गया है। इसके नाम से ऐसा प्रतीत होता
है कि इसमें केवल हल्दीघाटी के युद्ध की घटना का ही वर्णन किया गया होगा किन्तु वास्तव
में ऐसा नहीं है। इस दृष्टि से यह नाम दोषपूर्ण है। महाराणा के शौर्य त्याग एवं आत्म
बलिदान की व्यंजना में कवि को पूरी सफलता मिली है। पाण्डेयजी की शैली में ओज और
प्रवाह का गुण अपेक्षित मात्रा में मिलता है यहाँ कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

सावन का हरित प्रभात रहा, अम्बर पर थी घनघोर घटा।
फहराकर पंख थिरकते थे, मन हरती थी वन-मोर छटा॥
पड़ रही फुही झींसी झिन झिन पर्वत की हरी वनाली पर।
'पी कहाँ।' पपीहा बोल रहा, तरु-तरु की डाली डाली पर॥
वारिद के उर में दमक दमक, तड़-तड़ बिजली थी तड़क रही।
रह रहकर जल था बरस रहा, रणधीर भुजा थी फड़क रही॥

मोहनलाल महतो वियोगी ने पृथ्वीराज रासो के प्रसिद्ध कथानक के आधार पर
'आर्यावर्त' (१९४३) नामक प्रबन्ध-काव्य प्रस्तुत किया है। जैसा कि इसकी भूमिका

में कहा गया है कवि ने इस महाकाव्य बनाने का प्रयास करते हुए सम्वत् में तत्सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं का समाधान किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वियोगीजी ने पृथ्वीराज और पृथ्वीराज के जीवन चरित्र को पूरी सहृदयता से प्रस्तुत किया है। कम आलोचकों ने इसकी अनेक भूलों का उद्घाटन करते हुए इसके महाकाव्यत्व को अस्वीकार किया है—हमारे विचार में महाकाव्य न सही, पर प्रबन्धकाव्य के रूप में यह सफल रहा है।

इस युग में क्रूर, दुष्ट एवं नीच समझे जानेवाले पात्रों का भी ऊँचा उठान का प्रयास अनेक प्रबन्ध-काव्य रचयिताओं ने किया है। इनमें हरदयालुसिंह का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने 'दैत्यवंश' (१९४० ई०) और 'रावण' (१९५२ ई०) नामक दो प्रबन्ध-काव्य प्रस्तुत किए हैं। दैत्यवंश ब्रजभाषा में रचित है। इसमें 'हिरण्यकशिपु, 'बलि' 'बाणासुर आदि दैत्यों के चरित्र को पौराणिक आधार पर प्रस्तुत किया गया है। इसका मुख्य रस तो वीर है किन्तु अन्य रसों को भी प्रसंगानुसार स्थान दिया गया है। काव्य में एक स्थान पर अनेक नायक होने के कारण इसमें अपेक्षित एकोन्मुखता एवं अन्वियत नहीं आ पाई है। इसकी शैली में पर्याप्त प्रवाह और ओज मिलता है।

'रावण' में रचयिता ने दशानन के चरित्र को पूर्ण सहानुभूति के साथ अंकित करने का प्रयास किया गया है। यह काव्य सत्रह सर्गों में विभक्त है तथा इसकी कथावस्तु मूलत वाल्मीकि रामायण पर आधारित है। किन्तु बीच-बीच में कवि ने अपनी मौलिक सर्जन शक्ति से भी अपरिचित कार्य किया है। रावण के चरित्र को ऊँचा उठाते हुए उसे एक अत्यन्त पराक्रमी, उत्साही त्यागी शूरवीर के रूप में प्रस्तुत किया गया है। रावण के अतिरिक्त अन्य राक्षसों का भी उच्च रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। प्रकृति-वर्णन नारी सौन्दर्य चित्रण तथा विभिन्न भावनाओं की व्यंजना में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है।

इस युग के अनेक कवियों का ध्यान राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के जीवन चरित की ओर भी आकृष्ट हुआ है। सन् १९४६ ई० से लेकर अब तक अनेक कवियों ने गांधी के चरित पर विशालकाय प्रबन्ध-काव्य लिखे हैं जिनमें से तीन यहाँ विवेच्य हैं—(१) 'महामानव' (१९४६ ई०) (२) 'जननायक' (१९४९ ई०) और (३) 'जगदालोक' (१९५२ ई०)। 'महामानव की रचना ठाकुरप्रसाद सिंह द्वारा हुई है। यह पन्द्रह सर्गों में विभक्त है। स्वयं कवि ने इस महाकाव्य ने कहकर 'जनजागरण की महागाथा' कहा है। गांधीजी के चरित्र की विभिन्न विशेषताओं के उद्घाटन का प्रयास कवि ने किया है किन्तु यथोचित घटनाओं के अभाव में वह भली भाँति सफल नहीं हो सका। प्रबन्धत्व की दृष्टि से भी इसमें शिथिलता है। दूसरा काव्य 'जननायक' रघुवीरशरण मित्र द्वारा विरचित है। यह विशालकाय काव्य लगभग छ सौ पृष्ठों में पूरा हुआ है तथा छत्तीस सर्गों में विभक्त है। इसका अधिकांश घटनाएँ महात्मा गांधी की 'आत्मकथा' पर आधारित हैं। गांधी के चरित एवं चरित्र को अत्यन्त श्रद्धा के साथ प्रस्तुत किया गया है। इसकी शैली अत्यन्त सरल और प्रवाहपूर्ण है। उदाहरण के लिए कुछ अंश यहाँ उद्धृत हैं—

धन्य! सुदामापुरी जहा पर मनमोहन ने जन्म ले लिया।
माता पिता धन्य! थे जिनको प्रभु ने दिव्य प्रकाश दे दिया।
जिसमे चित्र लिखे मोहन के उस मिट्टी का प्यार धन्य है!
जिसमे जन्म लिया मोहन ने वह गाधी-परिवार धन्य है!!

महात्मा गाधी के चरित पर आधारित तीसरा प्रबन्ध काव्य 'जगदालोक' है जिसकी रचना ठाकुर गोपालशरण सिंह ने १९५२ ई० में की है। इसमें गाधीजी के जन्म, शिक्षा, इंग्लैण्ड यात्रा आदि से लेकर उनके बलिदान तक की प्राय सभी प्रमुख घटनाओं का बीस सर्गों में वर्णन किया गया है। इसके कतिपय प्रसग अत्यन्त सरस एव सजीव हैं। महात्मा गाधी की चारित्रिक महत्ता को उभारने का कवि ने विशेष प्रयत्न किया है।

महाभारत के विभिन्न प्रसगो एव पात्रो को लेकर भी अनेक कवियो ने सुन्दर प्रबन्ध-काव्य प्रस्तुत किए हैं जिनमे वीर कर्ण से सम्बन्धित 'अगराज' (१९५० ई०) आनन्दकुमार द्वारा विरचित है जिसमे कर्ण के चरित्र को उज्ज्वल रूप मे उपस्थित किया गया है। पूरा काव्य २५ सर्गों मे विभक्त है। कर्ण के साथ-साथ महाभारत के अन्य पात्रो—युधिष्ठिर अर्जुन भीम द्रौपदी आदि के चरित्र पर भी मौलिक रूप मे प्रकाश डाला गया है। कर्ण के चरित्र को ऊँचा उठाने के लिए पाडव-पक्ष के पात्रो को नीचा गिराना आवश्यक समझा गया है जो ठीक नहीं कहा जा सकता। इसका प्रमुख रस वीर है किन्तु साथ ही विभिन्न स्थलो पर शृगार करुण शान्त की भी व्यजना की गई है। भाव-व्यजना एव शैली की दृष्टि से रचना प्रौढ है तथा तात्त्विक दृष्टि से इसे महाकाव्य के रूप मे मान्यता दी गई है।

एकलव्य (१९५८) डा० रामकुमार वर्मा द्वारा रचित प्रबन्ध-काव्य है जिसमे एकलव्य की गुरुभक्ति की व्यजना चौदह सर्गों मे की गई है। नायक के चरित्र चित्रण मे कवि को पर्याप्त सफलता मिली है तथा इसकी अभिव्यजना शैली भी पर्याप्त प्रौढ एव सशक्त है, अस्तु यह एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है। इसी प्रकार १९६० मे प्रकाशित नरेन्द्र शर्मा का 'द्रौपदी' काव्य भी प्रबन्ध के क्षेत्र मे नया प्रयास है। इसके विभिन्न पात्र विभिन्न तत्त्वो के प्रतीक हैं, यथा—युधिष्ठिर आकाश-तत्त्व के, भीम प्राण-तत्त्व के, अर्जुन अग्नि तत्त्व के, नकुल जल तत्त्व के और सहदेव भूमि-तत्त्व के। इस प्रतीकात्मकता के कारण काव्य मे बौद्धिकता का संचार अनायास रूप मे हो गया है फिर भी द्रौपदी के कुछ चित्र अत्यन्त प्रभावशाली रूप मे प्रस्तुत हुए हैं। कवि ने इसमे सम्भवत नारी के त्याग बलिदान एव शक्ति की महत्ता को साकार करना चाहा है। इसकी प्रबन्धात्मकता एव भाव-व्यजना के सम्बन्ध मे डा० [illegible] सिंह के शब्दो मे कहा जा सकता है कि जिस प्रकार घटनाएँ क्षिप्र गति से आती हैं और चली जाती हैं उसी प्रकार विभिन्न भावनाओ के पूर्ण परिपाक का अवसर मिलता है और समाप्त हो जाता है। आह्लाद और विषाद की अनेक मन स्थितियो का चित्रण इसमे सफलता के साथ हुआ है।

उल्लेखनीय हैं। 'तुलसीनाम' एक सौ छन्दों में रचित है तथा इसमें तुलसी की विभिन्न मानसिक परिस्थितियों एवं भाव चेतना का विकास क्रम अत्यन्त प्रौढ़ एवं सशक्त शैली में निर्दर्शित करवाया गया है। तुलसीदास के ही जीवन चरित्र का अविकल विस्तार से 'देवाचन' में कवि वकील के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। यह काव्य सात सर्गों में विभक्त है तथा नायक के जीवन की विभिन्न घटनाओं को विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। इसके कुछ प्रसंग अत्यन्त भावपूर्ण एवं मार्मिक हैं। परमेश्वर द्विरेफ के नाना प्रबन्ध-काव्यों में क्रमशः मीराँ और प्रेमचन्द के वेदना एवं व्यथापूर्ण जीवन को अंकित करने का सफल प्रयास किया गया है। मीराँ का चरित्रांकन अत्यन्त कुशलता से किया गया है तथा विभिन्न भावों की व्यंजना में भी कवि ने पूर्ण सहृदयता का परिचय दिया है। 'युगस्रष्टा प्रेमचन्द' भी उच्चकोटि का काव्य है, जिसमें नायक के व्यक्तित्व, चरित्र एवं जीवन-दर्शन को व्यक्त करने का सुन्दर प्रयास किया गया है।

१८५७ ई० की प्रसिद्ध राष्ट्रीय क्रान्ति पर भी अनेक प्रबन्ध-काव्य उपलब्ध हैं जैसे— झाँसी की रानी (श्यामनारायण प्रसाद, १९५५), 'तात्या टोपे' (लक्ष्मीनारायण कुशवाहा, १९५७), 'झाँसी की रानी' (आनन्द मिश्र, १९५९)। श्यामनारायण प्रसाद की कृति में महारानी लक्ष्मीबाई के शौर्य, साहस, त्याग एवं आत्मबलिदान की व्यंजना २३ सर्गों में सफलतापूर्वक की गई है। कवि की शैली में ओजस्विता एवं प्रवाहपूर्णता के गुण विद्यमान हैं। यहाँ कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हैं—

> लग गई हृदय में रिपु-गोली,
> सो गए भूमि के आँचल पर।
> लिख दी मारुत ने वीर-कथा,
> तरु-तरु के कम्पित दल दल पर॥
> यह सुनकर रानी उछल पड़ी,
> सिंहनी सदृश वह तड़प उठी।
> अरि हृदय रक्त की प्यासी असि
> लेकर बिजली सम कड़क उठी॥

इसी प्रकार लक्ष्मीनारायण कुशवाहा का 'तात्या टोपे' भी वीर रस एवं राष्ट्रीय क्रान्ति के भावों से ओत प्रोत अत्यन्त सशक्त रचना है। यह ३१ आहुतियों (सर्गों) में विभाजित है। कवि का आदर्श है—

> पुण्य चरित्रों को गाकर के कलम पुण्य हो जाती है।
> कवि कर्तव्य निभा जाता है, कलम धन्य हो जाती है॥

'तात्या टोपे' में इसी आदर्श की उपलब्धि हुई है। कवि के कृतित्व की सफलता घोषित करने के लिए इसकी कुछ पंक्तियों का दिग्दर्शन पर्याप्त होगा

> जग देश के सकल सूर में क्रान्ति-ज्वार का नाद हुआ।
> देश-वेदिका पर मिटने को जन-जन में उन्माद हुआ।
> सकल शम्भु विध्वंस करेंगे, सिंह देश के गरज चले
> जननि सपूत जननि की खातिर, पूरा करने फर्ज चले॥

१९५८ ई० म प्रकाशित प्रबन्ध-काव्यो म रामानद तिवारी का पावती, बालकृष्ण शर्मा नवीन का उमिला एव गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' का तारक-वध उल्लेखनीय है। पावती की रचना मुख्यत कालिदास के कुमार-सम्भव के आधार पर हुई है। पूरा काव्य २७ सर्गों म विभक्त है। परम्परागत कथानक म आधुनिक दृष्टि स आवश्यक संशोधन-परिष्कार करते हुए विभिन्न पात्रो को सजीव रूप म प्रस्तुत किया है। तिवारी जी की शली भी प्रौढ़ एव सुविकसित है। नवीन जी का उर्मिला काव्य गुप्तजी के 'साकेत' की सफलता स प्रेरित है। इसम छ सर्गों म उर्मिला-लक्ष्मण की घटना को प्रभावोत्पादक शली म प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार गिरीश जी का तारक वध भी पौराणिक कथा-वस्तु पर आधारित तथा उन्नीस सर्गों म विभक्त है। कथावस्तु के प्रस्तुतीकरण पात्रो के चरित्र चित्रण भाव-व्यजना विचारो के औदात्य व शली की प्रौढ़ता की दृष्टि स इस एक सफल महाकाव्य माना गया है। कवि न इसम कार्तिकेय के द्वारा तारकासुर-वध को दवी प्रवृत्तियो द्वारा आसुरी प्रवृत्तियो के दमन क रूप म प्रस्तुत किया है।

दिनकर जी न 'उवशी' (१९६१) म काम और प्रम की समस्या का वदिक युगीन कथानक—उवशी और पुरुरवा की कथा ऋग्वेद दसवाँ मण्डल—क माध्यम स प्रस्तुत किया है। इसम सौंदय प्रम और विरह की व्यजना सफल रूप म हुई है। अब तक दिनकर को केवल कठोर भावो एव क्रांति का ही कवि माना जाता था उवशी की रचना ने सिद्ध कर दिया कि वह मधुर भावो एव कोमल अनुभूतियो म भी किसी स पीछ नहा हैं। कदाचित स्वय कवि न भी ऐसी चुनौती को ध्यान म रखकर ही अपनी नई रचना प्रस्तुत की है। जब राजनीति क क्षत्र म भी क्रांति के नता सत्ता के भोग म लीन हो गए थे एस वातावरण म कुरुक्षेत्र का कवि उवशियो का चित्रण करे तो अस्वाभाविक भी नहा कहा जा सकता। अस्तु कवि का प्ररणा-स्रोत जो चाहे हो पर इसम सन्देह नहीं कि यह रचना कवि क गौण व्यक्तित्व का ही प्रतिनिधित्व करती है हिन्दी कविता म कवि दिनकर के नाम स जिस साहस शौर्य एव क्रांति का बोध होता है उस कवि क अनुरूप यह कृति नहा है। फिर भी नारी-व्यक्तित्व की गौरवपूर्ण प्रतिष्ठा सौन्दर्य क आकर्षक चित्रण एव कोमल भावनाओ की मधुर व्यजना की दृष्टि से यह उच्चकोटि का काव्य है। पुरुष क त्याग सयम एव चारित्रिक दृढ़ता का आख्यान वे पहले बहुत कर चुक थ इसम उसकी दुर्बलता और असहायता का उद्घाटन हुआ है

> चाहिए देवत्व पर इस आग को धर दू कहाँ पर
> कामनाओ को विसर्जित व्योम म कर दू कहा पर
>
> बुद्धि बहुत करती बखान सागर तट की सिकता का
> पर तरग-चुम्बित सकत म कितनी कोमलता है!

वस्तुत 'उवशी' को अनक दृष्टियो स कामायनी क अनन्तर इस युग का दूसरा प्रौढ महाकाव्य कहा जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी म महाकाव्य-परपरा अभी तक अविच्छिन्न रूप म प्रवाहित है यह दूसरी बात है कि इस परपरा के सभी काव्य महाकाव्यत्व के उत्कर्ष को प्राप्त नहा करत। फिर भी इनके द्वारा जीवन समाज एव साहित्य म उच्च मानवता व उदात्त आदर्शों की प्रतिष्ठा का सुदर प्रयास हुआ है। अत इनका महत्त्व अक्षुण्ण है। यह दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दी के आलोचको न इनके प्रति उपेक्षात्मक दृष्टिकोण अपनाकर इनके साथ बडा अयाय किया है जिसका प्रतिकार अब हो जाना चाहिए।

•

१३ | हिन्दी गीति-काव्य : स्वरूप और विकास

१ स्वरूप—(अ) परिभाषा, (आ) लक्षण, (इ) वर्गीकरण।
२ विकास—(अ) प्राचीन भारतीय साहित्य में, (आ) प्राचीनतम उदाहरण, (इ) सिद्ध काव्य, (ई) संस्कृत भागवतकार, क्षेमेन्द्र, जयदेव, (उ) विद्यापति व मैथिली गीति परम्परा, (ऊ) सूरदास एवं कृष्ण भक्ति गीति परम्परा (ए) सन्त-काव्य, (ऐ) आधुनिक गीति काव्य, (क) भारतेन्दु युग, (ख) छायावादी युग, (ग) प्रगतिवादी युग, (घ) प्रयोगवादी युग।
३ उपसंहार।

यद्यपि प्राचीन युग में ही हमारे यहाँ लोक-साहित्य के रूप में गीति-काव्य की परम्परा रही है किन्तु आधुनिक युग में इसे अंग्रेजी के लिरिक (Lyric) के पर्यायवाची के रूप में ग्रहण किया जाता है। लिरिक की व्युत्पत्ति लायर (Lyre) नामक वाद्य यन्त्र से हुई जिसके सहारे जिन गीतों का गान होता था उन्हें लिरिक कहा जाने लगा। हमारे यहाँ गीति शब्द से केवल गाने की क्रिया का बोध होता है उसके साथ किसी वाद्य विशेष का आश्रय ग्रहण किया जाना आवश्यक नहीं। वस्तुतः गीति शब्द हमारा अपना है यह लिरिक के अनुकरण पर गढ़ा हुआ नहीं है तथा अर्थ की दृष्टि से यह लिरिक से अधिक व्यापक है।

काव्य या कविता का प्रमुख तत्व भाव माना जाता है और सबसे अधिक भावात्मक कविता गीति रूप में मानी जा सकती है। फूल में सुगन्ध होती है किन्तु इत्र तो एकमात्र सुगन्ध का ही सचयन होता है ठीक इसी प्रकार कविता में भाव होते हैं पर एकमात्र भावों का सचयन ही गीति-काव्य है। पाश्चात्य विद्वानों में से अनेक—जाफ्राय (Jouffroy) हीगल (Hegal) अर्नेस्ट रिस (Ernest Rhys) जान ड्रिंक वाटर (John Drink Water) गमर (Gummere) और हडसन (Hudson) आदि ने गीति-काव्य की विभिन्न प्रकार से परिभाषा करने का प्रयत्न किया है किन्तु पूर्ण सफलता उनमें से किसी को नहीं मिली। जाफ्राय ने अस्पष्ट-सी भाषा में प्रतिपादित किया कि गीति काव्य और काव्य पर्यायवाची शब्द है और उनमें सभी तत्वों का अन्तर्भाव होता है, जो निजी आह्लादजनक एवं सजीव होते है। हीगल ने गीति-काव्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि गीतिकाव्य में किसी ऐसे व्यापक कार्य का चित्रण नहीं होता जिसमें बाह्य संसार के विभिन्न रूपों एवं ऐश्वर्य का उद्घाटन हो, उसमें तो कवि की निजी आत्मा के ही किसी एक रूप विशेष के प्रतिबिम्ब का चित्रण होता है। उसका एकमात्र उद्देश्य शुद्ध कलात्मक ढंग से आन्तरिक जीवन की विभिन्न अवस्थाओं उसकी आशाओं उसके आह्लाद की तरंगों और उसकी वेदना की चीत्कारों का उद्घाटन करना ही है। अर्नेस्ट रिस के

विचारानुसार "गीतिकाव्य एक ऐसी संगीतमय अभिव्यक्ति है, जिसमें शब्दों पर भावों का पूर्ण आधिपत्य होता है किन्तु जिसकी प्रभावशालिनी लय में सर्वत्र उन्मुक्तता रहती है। इसी प्रकार 'जान ड्रिंक वाटर' के कथनानुसार 'गीतिकाव्य एक ऐसी अभिव्यंजना है, जो विशुद्ध काव्यात्मक (भावात्मक) प्रेरणा से व्यक्त होती है तथा जिसमें किसी अन्य प्रेरणा के सहयोग की अपेक्षा नहीं रहती। कॉलरिज ने एक स्थान पर लिखा था 'कविता श्रेष्ठतम शब्दों का श्रेष्ठतम क्रम है'—ड्रिंक वाटर ने इस परिभाषा को गीतिकाव्य के अनुरूप स्वीकार किया है। प्रो० गमर और हडसन महोदय ने अपनी परिभाषाओं में गीतिकाव्य के स्वरूप को अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। प्रो० गमर ने लिखा है कि गीति-काव्य वह अन्तर्वृत्ति निरूपिणी कविता है, जो वैयक्तिक अनुभूतियों से पोषित होता है जिसका सम्बन्ध घटनाओं से नहीं अपितु भावनाओं से होता है तथा जो किसी समाज की परिष्कृत अवस्था में निर्मित होती है। हडसन के विचारानुसार 'वैयक्तिकता की छाप गीतिकाव्य की सबसे बड़ी कसौटी है किन्तु वह व्यक्ति-वैचित्र्य में सीमित न रह कर व्यापक मानवीय भावनाओं पर आधारित होता है, जिसमें प्रत्येक पाठक जिसमें अभिव्यक्त भावनाओं एवं अनुभूतियों में तादात्म्य स्थापित कर सके।

उपर्युक्त परिभाषाओं के अवलोकन से स्पष्ट है कि यहां विभिन्न विद्वानों ने अन्ध गज-न्याय के अनुसार ही गीति-काव्य रूपी हाथी के किसी एक अंग को ही उसका पूर्ण स्वरूप मान लिया है। किसी ने भावनात्मकता पर अधिक बल दिया है तो किसी ने संगीतात्मकता और वैयक्तिकता को ही गीति-काव्य का प्राण समझ लिया है। हमारे विचार से गीति-काव्य की परिपूर्ण परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है— गीति-काव्य एक ऐसी लघु आकार एवं मुक्तक शैली में रचित रचना होती है जिसमें कवि निजी अनुभूतियों या किसी एक भाव दशा का प्रकाशन संगीत या लयपूर्ण कोमल शब्दावली में करता है। ध्यान रहे कुछ विद्वानों ने प्रबन्ध शैली में रचित गीतिकाव्यों को भी 'गीति' कहा है किन्तु हमारे विचार में गीति-काव्य की मूल आत्मा का निर्वाह भी अवश्य रहेगा और जहां इति वृत्तात्मकता होगी वहां भावात्मकता—जो कि गीति-काव्य की आत्मा है—का एकमात्र आधिपत्य नहीं रह सकता। सूर-सागर को भले ही हम प्रबन्ध काव्य कहें किन्तु उसके गीतों का आस्वादन मुक्तक रूप में ही किया जाता है। वस्तुतः सूर-सागर में प्रबन्धत्व कम है मुक्तकता अधिक है।

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार गीति-काव्य के छः तत्त्व निर्धारित किए जा सकते हैं—(१) भावनाओं का चित्रण या भावात्मकता, (२) वैयक्तिकता अथवा निजी अनुभूतियों का प्रकाशन (३) संगीतात्मकता या लय का प्रवाह (४) शैली की कोमलता व मधुरता (५) संक्षिप्तता और (६) मुक्तक शैली। इनमें से एक-आध तत्त्व के अभाव में भी किसी रचना को गीति-काव्य की संज्ञा दी जा सकती है किन्तु एक सर्वोत्कृष्ट गीति में इन सभी तत्त्वों का समाहार होना परमावश्यक है।

वर्गीकरण

सामान्यतः हम गीति-काव्य को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) लोक गीति और (२) साहित्यिक गीति। किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने इसे विभिन्न वर्गों में

वर्गीकृत किया है जिनमे उल्लेखनीय ये हैं—सानेट (Sonnet), ओड (Ode), एलिजी (Elegy), साग (Song), एपिसिल (Epistle) ईन्दिल (Idyll) आदि। हमारे हिन्दी के आलोचको म से भी कुछ ने इनका अधानुकरण करते हुए इस प्रकार का वर्गीकरण किया है। डा० दुबे ने भेद किए है—(१) प्रेम प्रधान गीत (२) दाम्पत्य प्रेम के गीत (३) भक्ति प्रधान गीत (४) विचारात्मक गीत, (५) बुद्धिप्रधान गीत (६) प्रकृति के गीत (७) सामाजिक गीत। इस प्रकार तो मानव हृदय म जितने भाव हैं उतने ही गीत-काव्य के भेद किए जा सकते हैं, फिर डा० दुबे ने प्रेम और दाम्पत्य प्रेम को तो ले लिया किन्तु वात्सल्य और करुण रस को वे कहा स्थान देंगी ? क्या सूर के बाल-लीला सम्बन्धी पदो का उन्हे कोई ध्यान नही रहा ? खैर उनकी मौलिकता का एक बहुत बडा प्रमाण है विचारात्मक गीति के अतिरिक्त एक और भेद करना—'बुद्धिप्रधान गीति'! क्या विचारात्मक गीति म बुद्धि प्रधान गीति म विचार नहीं होते! वस्तुत यह वर्गीकरण पर्याप्त असगत है।

अब आकार-गत वर्गीकरण को लीजिए। डा० दुबे ने यहा मौलिकता को भूलकर अधानुकरण की प्रवृत्ति का परिचय दिया है। देखिए—(१) चतुर्दशपदी, (२) सम्बोध गीति (३) शोक गीति (४) गीत (५) सगीत प्रधान (६) पत्रगीति। यदि सोचने का थोडा-सा कष्ट किया जाय तो यह भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि 'शोक' गीति का सम्बन्ध आकार से नहीं विषय म है पत्र गीति और सम्बोध गीति का सम्बन्ध भी आकार से नही पाली से है और चतुर्दशपदी है तो चतुष्पदी या द्वादशपदियो को भी स्थान मिलना चाहिए था।

हमारे विचार म गीति-काव्य का यह वर्गीकरण अनावश्यक एव अनुपयोगी है। मानव-अनुभूतियो के विस्तार की कोई सीमा नही—अत विषय या आकार के आधार पर गीतो का वर्गीकरण करना अनावश्यक है।

उदभव और विकास

असभ्य अशिक्षित एव अविकसित जातियो म भी किसी न किसी प्रकार के गीतो का प्रचार पाया जाता है अत यह कहा जा सकता है कि गीति-काव्य का उदभव मानव सभ्यता के प्रारम्भिक युग म ही हो गया होगा। किन्तु आरम्भ म गीतिकाव्य लोक-साहित्य के रूप म ही प्रचलित रहा साहित्य म उसे स्थान बहुत बाद म प्राप्त हुआ। कुछ विद्वान जो हर बात को वैदिक साहित्य म ढूढ निकालने के अभ्यस्त हैं गीति-काव्य का उदभव भी ऋग्वेद से सिद्ध करने का असफल प्रयत्न करते है। ऋग्वेद की ऋचाओ का सस्वर पाठ होता था इसम सन्देह नही किन्तु इसी से उन्हे गीति काव्य का सज्ञा नही दी जा सकती। सामवेद की सगीतात्मक पक्तियो को गीति-काव्य बनाना भी वैसा ही है जैसा पद्माकर और मतिराम के लयपूर्ण कवित्त सवैया को गीति बनाना।

भारतीय साहित्य म गीति-काव्य का सवप्रथम उदाहरण हम कालिदास के मालविकाग्निमित्रम् म मिलता है जहा उसकी नायिका नृत्य-गान प्रतियोगिता म

एक 'चतुष्पदिका' गाती है—"हे हृदय ! प्रिय का मिलन दुर्लभ है, अत उसकी आशा छोड दे। मेरी बाई आँख फडक रही है। जिसे पहले देखा था, क्या उसे फिर देख पाऊँगी ? हे नाथ ! मुझ पराधीन को तुम अपने प्रेम में वशीभूत समझना।' (द्वितीय अंक ४) यद्यपि इस कवि ने गीति का नाम नहीं लिया है, किन्तु इसमें गीतिकाव्य की टेक को छोडकर प्राय सभी तत्त्व—भावात्मकता, वैयक्तिकता, संगीतात्मकता, संक्षिप्तता, भाषा की कोमलता और मुक्तक शैली—मिलते हैं। अत इसे गीति काव्य का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है। यह चतुष्पदी नृत्य के अवसर पर प्राकृत भाषा या तत्कालीन लोकभाषा में गाई गयी है अत यह अनुमान किया जा सकता है कि साहित्यिक गीतों की रचना का आरम्भ पहले प्राकृत अथवा लोक भाषा में हुआ तथा काव्य-कला के स्थान पर पहले संगीत एवं नृत्य कला के क्षेत्र में गीतों का प्रयोग होता था, आगे चलकर इसे साहित्य में स्थान प्राप्त हुआ।

प्रारम्भ में गीति-पद्धति का प्रचलन मुख्यत जन-साधारण में था अत साहित्यकारों द्वारा उसकी उपेक्षा होनी स्वाभाविक थी। भारतीय साहित्य में उसे सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण स्थान देने का श्रेय अपभ्रंश के सिद्ध कवियों को है। वे स्वयं अशिक्षित थे तथा उन्होंने काव्य के लिए अशिक्षित वर्ग की भाषा को ही ग्रहण किया अत शैली में भी जन-साधारण की गीति शैली को स्वीकार कर लेना स्वाभाविक था। सिद्ध कवियों की गीतियाँ 'चर्या-पद' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें उन्होंने प्राय साधिका (या मुद्रा) से अपना प्रणय निवेदन किया है—

> निअडडा धापि जोइनि दे अंक वाली। कमल कुलिश घोटि करहु विआली॥
> जोइनि तइँ विनु खनहि न जीवमि। तो मुह चुम्बि कमल रस पीवमि॥
> खेपहु जाइनि लेप न लाअ। मणि-कुले वहिआ उडिआने समाअ।
> सासु घरें घालि कोंचा-ताल। चाद-सूज बेणि पखा फाल॥
> भणइ गुडरी अम्हें कुदुरे वीरा। नर अ नारी माझे उभल चीरा॥
> —गुडरीपा (चर्यागीति) राग—अरण।

सिद्धों के इन चर्या-पदों में गीति-काव्य के सभी तत्त्व उपलब्ध होते हैं—इनमें इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर भावानुभूतियों की अभिव्यक्ति है। वैयक्तिकता संगीतात्मकता, भाषा की कोमलता मुक्तक शैली एवं संक्षिप्तता आदि गुण भी इनमें विद्यमान हैं। सिद्ध कवियों ने राग रागनियों का उल्लेख भी सर्वत्र किया है। अत इनके गीति होने में कोई सन्देह नहीं है।

सिद्ध कवियों की यह गीति-शैली हिन्दी-काव्य में दो धाराओं में बँटकर पहुँची। एक ओर तो अपभ्रंश कवियों से प्रभावित होकर संस्कृत के अनेक कवियों—भागवतकार, क्षेमेन्द्र और जयदेव—ने इसे अपनाया और विकसित किया—यही परम्परा आगे जयदेव से मैथिल कवियों—विद्यापति आदि को प्राप्त हुई तथा उनके द्वारा इसका प्रचार कृष्ण भक्त कवियों में हुआ। दूसरी ओर सिद्धों की गीति-परम्परा नाथपंथी योगियों एवं महाराष्ट्रीय संतों में होती हुई हिन्दी के संत-कवियों को प्राप्त हुई। इस प्रकार भक्तिकालीन

हिंदी साहित्य म गीति धारा का प्रवाह दो धाराओं—कृष्ण भक्त और संत-काव्य—के रूप म प्रवाहित हुआ जिनका संक्षिप्त परिचय आगे दिया जाता है।

संस्कृत काव्य म सवप्रथम गीति शली का प्रयोग, जसा कि ऊपर कहा गया है, भागवतकार ने अपने ग्रंथ के दशम स्कंध म गोपियों के विरह के प्रसंग म किया है। उन्होंने वियोगानुभूतियों की अभिव्यंजना के लिए गोपियों के मुह से ही तीन चार गीतियों का गान करवाया है जो भावात्मकता संगीतात्मकता वयक्तिकता आदि गुणों स युक्त है। श्री क्षेमेन्द्र न भी अपने ग्रंथ (दशावतार चरित—१९६६ ई०) म कृष्णावतार प्रसंग म एक गीति का प्रयोग किया है जो सरसता से ओत प्रोत है। इस गीति म टेक का भी प्रयोग हुआ है—

ललित विलास कला सुख खेला
ललना लोभन शोभन यौवन
मानितनव मदने।
केशि किशोर महासुर मारण
दारुण गोकुल दुरित विदारण
गोवद्धन धरणे।
कस्य न नयन युग रति सज्जे
मज्जति मनसिज तरल तरगे
वर रमणी रमण।

क्षमेन्द्र की परम्परा को जयदेव न गीत-गोविन्द म आगे बढ़ाया। उन्होंने अपने काव्य को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य म हरि स्मरण के साथ-साथ विलास कला का भी समन्वय किया। यद्यपि इस दृष्टिकोण के कारण गीति गोविन्द म भक्ति भावना का प्रकाश गौण हो गया है राधा कृष्ण की स्थूल क्रीडाओं का इतिवृत्त ही उसम अधिक आ गया है किन्तु फिर भी उसम भावात्मकता का सवथा अभाव नहीं है। गीत-गोविन्दकार की कदाचित महाकवि कहलाने की आकांक्षा थी अत उन्होंने इस एक सौ श्लोकों स भी छोटी रचना को बारह सर्गों म विभाजित किया है जिससे यह महाकाव्य की सज्ञा स अभिभूषित हो सके किन्तु इसम कथानक का तन्तु इतना सूक्ष्म शिथिल एव अस्पष्ट है कि इसे 'प्रबंध' कहना 'प्रबंध' शब्द का दुरुपयोग है। जयदेव ने इस ग्रंथ की रचना म काव्यशास्त्र की ओर काम शास्त्र की रूढ़ियों का भी समन्वय प्रयत्नपूवक किया है। राधा-कृष्ण का मिलन सहज-स्वाभाविक ढंग स न होकर नायिका भेद की सीढ़ियों का पार करता हुआ उपस्थित होता है। दोनों के मिलन स पूव राधा को क्रमश अष्ट नायिकाओं—अन्य-सम्भोग दु खिता मानवती अभिसारिका वासकसज्जा खण्डिता उत्कण्ठिता आदि के रूप धारण करने पड़ते हैं। रात्रि विपरीत कामकला जसे सरसता द्वारा कवि न इन रूपों को उभरा भा स्पष्ट रूप म कर दिया है। अस्तु गीत-गोविन्द म भावों की स्वाभाविकता की अपेक्षा रूढ़ियों का कृत्रिम प्रयोग अधिक है किन्तु फिर भी अपनी कोमल मधुर पदावली एव गेयात्मकता के कारण गीत-गोविन्द बहुत लोकप्रिय हुआ तथा इसने परवर्ती साहित्य को पर्याप्त प्रभावित किया।

जयदेव की गीति-परम्परा को हिंदी-काव्य क्षेत्र में विकसित करने का श्रेय विद्यापति का है। उन्होंने 'देसिल बयना सब जन मिट्ठा' की घोषणा करते हुए संस्कृत की काव्य माधुरी को लोक भाषा—मैथिली या हिन्दी—में प्रवाहित करने का साहस किया, उनके गीति-काव्य का विषय राधा-कृष्ण की शृंगारी क्रीडाओं का वर्णन ही है किन्तु भावात्मकता की दृष्टि से वे जयदेव से आगे हैं। जयदेव का ध्यान मुख्यतः घटनाओं पर रहता है जबकि विद्यापति का भाव-दशाओं पर। वे पूरे गीति में किसी एक परिस्थिति को लेकर उससे सम्बन्धित भावनाओं का चित्रण अनुभूति में पूर्ण इस प्रकार वेष्टित कर देते हैं कि वह विशुद्ध भावावेग का रूप धारण कर लेता है—

सहजहिं आनन सुंदर रे, भौंह सुरेखलि आंखि।
पंकज मधु पिवि मधुकर रे, उडए पसारल पांखि।
×   ×   ×
ततहिं धाओल दुहु लोचन रे, जतहिं गेलि वर नारि।
आसा लुबुधल न तेजए रे, कृपन क पाछु भिखारि!!

यहां सौन्दर्य की स्थूल रूप रेखाओं का चित्रण कम है उससे सम्बन्धित आकांक्षाओं, कल्पनाओं व विभिन्न भावानुभूतियों की ही व्यंजना अधिक है। पंक्ति के अंत में 'रे' की आवृत्ति से तो द्रवीभूत हृदय की सरलता स्पष्ट रूप में मुखरित हो रही है।

विद्यापति जिस प्रणय-गाथा का वर्णन अपने काव्य में करते हैं वह उनकी नहीं उनके नायकराज एवं नागरी राधा की है किन्तु फिर भी उन्होंने एक ऐसी शैली अपनाई है जिसमें उनकी गीतियों में वैयक्तिकता का अभाव रूप में हो जाता है, जैसे कि निम्नलिखित पंक्तियों में हुआ है—

कतन वेदन मोहि देसि मदना
×   ×   ×
कहहि मो सखि कहहि मो
तक तक्र अधिवास
×   ×   ×
कि मोरा जीवन कि मोरा जौवन
कि मोरा चतुर पने
×   ×   ×
सखि ! हे आज जाइब मोहि
घर गुरुजन डर न मानव
वचन चूकब नाहि॥

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि कवि नायक-नायिका के लिए 'अन्य पुरुष वाची सर्वनामों का प्रयोग न करके उत्तम पुरुष में उनकी अनुभूतियों को व्यक्त करता है जिससे उनमें वैयक्तिकता का गुण आ गया है।

संगीत के स्वरों का भी विद्यापति को पूरा अभ्यास था। भाषा की कोमलता एवं मधुरता पर तो मानो उनका एकाधिकार था। उनकी पदावली में छोटे छोटे पदों में भाव, संगीत एवं भाषा का अनूठा समन्वय हुआ है—

> नन्द क नन्दन कदम्ब क तरु तर धिरे धिरे मुरली बजाव।
>
> समय संकेत निकेतन बइसल बेरि बेरि बोलि पठाव॥

वस्तुतः विद्यापति के काव्य में गीति-काव्य की सभी विशेषताओं का निर्वाह सफल रूप में हुआ है। उनकी पदावली इतनी लोकप्रिय हुई कि उनके प्रदेश में शताधिक कवियों ने उनकी परम्परा को आगे बढ़ाया। मैथिली गीतों की परम्परा पन्द्रहवीं शती से लेकर बीसवीं शती तक अखण्ड रूप में प्रवाहित होती रही है, चन्द्रकला, नन्दीपति, ठाकुर, भीष्मकवि, लोचन, गोविन्ददास, भूपतीन्द्र, बुद्धिलाल, रमापति आदि कवियों ने विद्यापति का अनुकरण करते हुए अनेक सरस पदों की रचना की।

विद्यापति के पदों का प्रचार केवल मिथिला तक ही सीमित नहीं रहा, बंगाल, बिहार, उड़ीसा, आसाम आदि प्रदेशों में उनके गीतों का स्वर गुंजित होने लगा। वैष्णव भक्ति आन्दोलन के प्रचारक श्री चैतन्य द्वारा तो उनके पदों की प्रसिद्धि और भी दूर-दूर तक फैल गई। श्री चैतन्य के अनेक अनुयायी वृन्दावन में आकर रहने लग गए थे, जिनके द्वारा विद्यापति की पदावली का प्रचार ब्रज प्रदेश में हुआ तथा आगे चलकर अष्टछाप के कवियों ने इसी परम्परा का विकास ब्रजभाषा में किया। हिन्दी के कृष्ण भक्ति काव्य का स्थूल ढाँचा बहुत-कुछ मैथिली गीति-परम्परा के आधार पर निर्मित है, यह दूसरी बात है कि उनकी मूल भावना में परस्पर सूक्ष्म अन्तर है। विद्यापति के पद राजाओं के रंग महलों में राजा शिवसिंह एवं रानी लखिमादेवी जैसे रसिक दम्पति के सम्मुख रचे गए थे, जब कि कृष्ण भक्त कवियों का काव्य-वैष्णव मन्दिरों में राधा-कृष्ण की मूर्ति के समीप बैठकर लिखा गया था, अतः दोनों के स्वर की मूल ध्वनि में थोड़ा-बहुत अन्तर होना स्वाभाविक भी है। राधा-कृष्ण के आश्रय में शृंगारिकता का चित्रण दोनों काव्य धाराओं में ही हुआ है किन्तु विद्यापति में रसिकता का उन्मेष अधिक है जबकि अष्टछाप के कवि अन्ततः अपने भक्ति भाव को स्पष्ट कर देते हैं। राधा-कृष्ण की छेड़ छाड़ का वर्णन करनेवाला कवि सूर अपने प्रत्येक पद के अन्त में सूर-स्याम प्रभु कहकर श्रोता को यह स्मरण करा देता है कि वह किसी भक्त के उद्गार सुन रहा है।

अष्टछाप के कवियों में सर्वोच्च स्थान महाकवि सूरदास का है। यदि हम कहें कि उनके गीतों में गीति-काव्य की सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं तो सम्भवतः उनकी कला के साथ पूरा न्याय नहीं होगा। सभी विशेषताओं के विद्यमान होने की बात तो अनेक कवियों के सम्बन्ध में कही जा सकती है किन्तु सूरदास में तो कुछ ऐसी विशिष्टता दृष्टिगोचर होती है जिसे शब्दों में समझाना सरल नहीं। उनके पदों में भावनाओं का एक ऐसा अजस्र स्रोत प्रवाहित हो रहा है जिसके आदि-अन्त का कोई पार नहीं। उनके उद्गारों में अनुभूति की ऐसी स्वच्छन्दता विद्यमान है कि उसमें निजी और परकीय का भेद करना संभव नहीं, उनके स्वरों में ऐसी मधुर लहरियों का गुंजार हो रहा है कि वहाँ संगीत शास्त्र के नियमों

[illegible]

माधुर्य घुला हुआ है कि उसके आस्वादन में मग्न होकर कटुता एवं तिक्तता के स्वाद को भूल जायँ तो कोई आश्चर्य नहीं। बालकृष्ण की उक्तियों में जैसी स्वाभाविकता विरह विधुरा राधा के क्रन्दन में जैसा दर्द, एवं श्याम के दरस की प्यासी गोपियों के उपालम्भों में जैसा व्यंग्य है वह किसी भी सहृदय के मन को मोहित कर सकता है। सूर के राधा-कृष्ण सम्बन्धी पदों में कुछ पाठकों को वैयक्तिकता के अभाव का आभास होगा क्योंकि उनमें वर्णित घटनाएँ कवि के निजी जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रखतीं किन्तु यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि विद्यापति की भाँति कवि सूर ने भी गोप-बालाओं की अनुभूतियों को स्वानुभूतियों के रूप में ही प्रकाशित किया है, यथा—

ऊधो मन नाँहि हाथ हमारे।

× × ×

ऊधो! हम हैं अति बौरी!

× × ×

कबहुँ सुधि करत गोपाल हमारी?

× × ×

भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य में गीति-काव्य का दूसरा स्रोत संत-कवियों द्वारा प्रवाहित हुआ। कृष्ण भक्त कवियों को गीति-काव्य की जो धारा प्राप्त हुई थी, वह जयदेव एवं विद्यापति के द्वारा बहुत कुछ परिष्कृत एवं विकसित हो चुकी थी, किन्तु संत-कवियों ने उसके अपरिष्कृत एवं अविकसित रूप को ही अपनाया। अशिक्षा साम्प्रदायिक दृष्टिकोण विचारों की तीव्रता भावों की अस्पष्टता शैली की जटिलता एवं भाषा की अशुद्धता की दृष्टि से अपभ्रंश के सिद्ध-साहित्य का पूर्ण प्रतिनिधित्व हिन्दी में संत-काव्य द्वारा ही होता है। उपर्युक्त न्यूनताओं एवं दोषों के कारण संत-कवियों के गीति-काव्य की धारा के स्वच्छन्द प्रवाह के बीच-बीच में कुछ ऐसे व्यवधान उपस्थित हो जाते हैं, जो उनके आस्वादन की गति में बाधक सिद्ध होते हैं। किन्तु फिर भी जहाँ कबीर दादू सुन्दरदास आदि उपदेशों के प्रचार, खण्डन मंडन एवं योगमार्ग की चर्चा को भूलकर विशुद्ध अनुभूति की व्यंजना में प्रवृत्त हुए हैं वहाँ उनके पदों में पर्याप्त भावात्मकता सरसता एवं मधुरता आ गई है। जैसे—

बहुत दिनन थें मैं प्रीतम पाये!

भाग बडे घरि बैठे आये!

मंगलचार माँहि मन राखौं। राम रसाइण रसना चाखौं।

मंदिर माँहि भया उजियारा, ले सूती अपना पिव प्यारा॥

× × ×

कहै कबीर मैं कछू न कीन्हा सखी! सुहाग राम मोहि दीन्हा॥

वैयक्तिकता का तत्त्व तो संत-काव्य में स्वाभाविक रूप से ही विद्यमान था, क्योंकि इन्होंने प्रायः निजी अनुभूतियों को ही व्यक्त किया है। संगीतात्मकता का प्रमाण इनके द्वारा प्रयुक्त विभिन्न राग रागनियों में मिलता है। भाषा में अवश्य मधुरता सरसता एवं स्वाभाविकता सर्वत्र नहीं मिलती किन्तु कुछ पदों में ये गुण भी विद्यमान हैं। अतः

संगीत व स्वरों का भी विद्यापति को पूरा अभ्यास था। भाषा की सामान्यता एवं मधुरता पर तो मानो उनका एकाधिकार था। उनकी पदावली में शब्द-छांट पद में भाव संगीत एवं भाषा का अनूठा समन्वय हुआ है—

नन्द क नन्दन कदम्ब क तरुतर धिरे धिरे मुरली बजाव।
समय सकेत निकेतन बइसल बेरि बेरि बोलि पठाव॥

वस्तुत विद्यापति के काव्य में गीति-काव्य की सभी विशेषताओं का निर्वाह सफल रूप में हुआ है। उनकी पदावली इतनी लोकप्रिय हुई कि उनके प्रदेश में शताधिक रसिकों ने उनकी परम्परा को आगे बढ़ाया। मथिली गीतों की परम्परा पन्द्रहवीं शती से लेकर बीसवीं शती तक अखण्ड रूप में प्रवाहित होती रही है चन्द्रकला दानावयी ठाकुर मीष्मादि लाचन, गोविन्ददास भूपतीन्द्र बुद्धिलाल रमापति आदि कवियों ने विद्यापति का अनुकरण करते हुए अनेक सरस पदों की रचना की।

विद्यापति के पदों का प्रचार केवल मिथिला तक ही सीमित नहीं रहा बगाल विहार, उड़ीसा आसाम आदि प्रदेशों में उनके गीतों का स्वर गुंजित होने लगा। वैष्णव भक्ति आन्दोलन के प्रचारक श्री चैतन्य द्वारा तो उनके पदों की प्रसिद्धि और भी दूर-दूर तक फैल गई। श्री चैतन्य के अनेक अनुयायी वृन्दावन में आकर रहने लग गए थे जिनके द्वारा विद्यापति की पदावली का प्रचार ब्रज प्रदेश में हुआ तथा आगे चलकर अष्टछाप के कवियों ने इसी परम्परा का विकास ब्रजभाषा में किया। हिन्दी के कृष्ण भक्ति काव्य म स्थूल ढांचा बहुत-कुछ मथिली गीति-परम्परा के आधार पर निर्मित है यह दूसरी बात है कि उसकी मूल भावना में परस्पर सूक्ष्म अन्तर है। विद्यापति के पद राजाओं के रंग महल मे राजा शिवसिंह एव रानी लक्ष्मीदेवी जैसे रसिक दम्पति के सम्मुख रचे गए थे जब कि कृष्ण भक्त कवियों का काव्य-वैष्णव मन्दिरों में राधा-कृष्ण की मूर्ति के समीप बैठकर लिखा गया था, अत दोनों के स्वर की मूल ध्वनि में थोड़ा-बहुत अन्तर होना स्वाभाविक भी है। राधा-कृष्ण के आश्रय में शृंगारिकता का चित्रण दोनों काव्य धाराओं में ही हुआ है किन्तु विद्यापति में रसिकता का उन्मेष अधिक है, जबकि अष्टछाप के कवि अन्तत अपने भक्ति भाव को स्पष्ट कर देते हैं। राधा-कृष्ण की छेड़-छाड का वर्णन करनेवाला कवि सूर अपने प्रत्येक पद के अन्त में सूर-स्याम प्रभु कहकर श्रोता को यह स्मरण करा देता है कि वह किसी भक्त के उद्गार सुन रहा है।

अष्टछाप के कवियों में सर्वोच्च स्थान महाकवि सूरदास का है। यदि हम कहें कि उनके गीतों में गीति-काव्य की सभी विशेषताएं विद्यमान हैं तो सम्भवत उनकी कला के साथ पूरा न्याय नहीं होगा। सभी विशेषताओं के विद्यमान होने की बात तो अनेक कवियों के सम्बन्ध में कही जा सकती है किन्तु सूरदास में तो कुछ ऐसी विशिष्टता दृष्टिगोचर होती है जिसे शब्दों में समझाना सरल नहीं। उनके पदों में भावनाओं का एक ऐसा अजस्र स्रोत प्रवाहित हो रहा है जिसके आदि-अन्त का कोई पार नहीं उनके उद्गारों में अनुभूति की ऐसी स्वच्छन्दता विद्यमान है कि उसमें निजी और परकीय का भेद करना संभव नहीं उनके स्वरों में ऐसी मधुर लहरियों का गुंजार हो रहा है कि वहाँ संगीत शास्त्र के नियमों को याद रखना वश की बात नहीं और उनमें भाषा का ऐसा लालित्य व शब्दों का ऐसा

विद्यापति और सूर के पदों का सा माधुर्य न होते हुए भी संत कवियों के काव्य का महत्व कम नहीं है।

हिन्दी-साहित्य के रीतिकाल में गीति धारा के किसी नए स्रोत का प्रस्फुटन नहीं हुआ, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उस युग में गीति-काव्य की रचना हुई ही नहीं। हमारे इतिहासकारों ने जिस ढंग से संत एवं कृष्ण भक्त कवियों का परिचय दिया है उससे यह भ्रांति फैल गई है कि रीति-काल में केवल कवित्त-सवैया पद्धति में ही काव्य रचना हुई, जबकि वास्तविकता यह नहीं है। इसी युग में जबकि राजाओं के आश्रय में रीति-बद्ध काव्य की रचना हो रही थी, भक्तिलीन कृष्ण भक्त और संत कवियों द्वारा गीति-काव्य की धारा अखण्ड रूप से प्रवाहित हो रही थी। सुंदरदास, मलूकदास, अक्षरअनन्य, ध्रुवदास आदि अनेक कवि रचना-काल की दृष्टि से रीतिकाल के कवि हैं। फिर भी इतना अवश्य है कि नवीनता के प्रति अधिक आकर्षण होने की प्रवृत्ति के कारण लोगों की अधिक रुचि नवीन कवित्त-सवैया पद्धति में ही थी, अतः गीति धारा का प्रवाह मंद गति से ही आगे बढ़ रहा था।

आधुनिक युग में गीति धारा के तीन स्रोत क्रमशः प्रस्फुटित हुए। पहला स्रोत भारतेन्दु युग में स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा प्रस्फुटित हुआ जिसमें उन्होंने सूर, तुलसी का अनुकरण करते हुए भक्ति भावना से पूर्ण पदों की रचना की। कविता में भारतेन्दु की मूल-पद्धति कवित्त-सवैया की थी, अतः उनके पदों में मौलिकता या ताजगी का आभास नहीं होता, पूर्ववर्ती कवियों की उक्तियों का ही पिष्ट-पेषण उनमें अधिक है। दूसरा स्रोत छायावादी कवियों द्वारा प्रस्फुटित हुआ। इन कवियों ने निजी प्रेमानुभूति को लेकर काव्य रचना की तथा इनका प्रेरणा-स्रोत पूर्ववर्ती भारतीय काव्य कम था, पाश्चात्य लिरिक-कविता अधिक थी। उनमें एक नया उत्साह, नई स्फूर्ति दृष्टिगोचर होती है। अब तक हिन्दी के गीतिकारों ने प्रायः राधा-कृष्ण के प्रेम की ही व्यंजना अपने काव्य में की थी। निजी प्रेमानुभूतियों के प्रकाशन का प्रयत्न गीति-काव्य के क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी में ही मिलता है। वैसे प्रेम दीवानी मीरां व घनानंद आदि के द्वारा भी ऐसा हो चुका था, किन्तु एक का प्रेम आध्यात्मिक था, जबकि दूसरे की शैली गीति नहीं थी, अतः छायावादियों को ही इसका श्रेय देना उचित है। छायावादी कवियों का दृष्टिकोण वस्तु-परक न होकर भाव-परक रहा, संगीत और लय का भी उन्होंने पूरा ध्यान रखा है। निराला तथा महादेवी वर्मा का कृतित्व इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय है। निराला ने अपने विविध प्रयोगों द्वारा हिन्दी गीति-काव्य को समृद्ध किया तो महादेवीजी ने लोक गीतों पर आधारित धुन लेकर उसमें नया संगीत भरा। उनकी शैली में संक्षिप्तता, सूक्ष्मता एवं मधुरता का गुण भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। अतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि शास्त्रीय दृष्टि से गीति-काव्य के लिए आवश्यक सभी तत्व छायावादी काव्य में उपलब्ध हो जाते हैं, किन्तु उनमें कुछ ऐसे दोष भी समन्वित हैं जिनके कारण वे हमारे हृदय का उद्वेलन उस सीमा तक नहीं कर पाते जिस सीमा तक हम गीति-काव्य से आशा रखते हैं। भावात्मकता उनमें है किन्तु उसके चारों ओर दार्शनिकता एवं बौद्धिकता की एक ऐसी चौखट बनी हुई है, जिससे वह स्वच्छन्दतापूर्वक पाठक के हृदय से हिल मिल

नहा सकती वयक्तिकता भी उनम है किन्तु वह प्रकृति-बाला का गाने म इस तरह छिपी हुई है कि उस पहचान पाना सरल नहा उनकी भापा मधुर है किन्तु उसम पडा की सन-सन पत्ता का मरमर एव चिडिया का चहचहाहट का मिश्रण इतना अधिक हो गया है कि उस समझना टेढी खार है। इसके अतिरिक्त छायावादी कवि धरती पर मनुष्यो की तरह चलता फिरता दिखाई नहीं देता, वह कभी भौरा का रूप धारण कर उडता हुआ अपना सुहाग भरी जूहियो क पास पहुचता है कभी नक्षत्र लोक से निमत्रण पाकर गगन के उस पार तक चला जाता है, तो कभी अपन अलौकिक प्रियतम क साक्षात्कार के लिए नभ की दीपावलियो का बुझा देन का दुष्प्रयत्न करता दिखाइ पडता है। भला, इस अलौकिक जगत् म पहुचकर किसी अपरिचित के साथ आँख मिचानी खेलनेवाले कवि की स्नेह का हम क्या समझें? उसका गुनगुनाहट मीठी है बिल्कुल भारा जसी, जिसका अथ हम नहीं समझ सकते उसका सौदय तितली जसा है जिस हम छू नही सकते, उसका माधुय अमृत जसा है जिस हम नहीं पा सकते। यही कारण है कि छायावादी कवियो क गीति-काव्य की स्वर लहरियाँ जन मानस का भावनाओ को उद्वेलित नहा कर सकी। चचला की चमक और विद्युत की गजना की भाति एकाएक स्फरित होकर व विस्तृत नभ क किसी कोन म ही विलीन हो गइ।

आधुनिक युग म गीति काव्य का तीसरा स्रोत प्रगतिवादी कवियो की कलम स प्रस्फुटित हुआ। इनका दृष्टिकोण छायावादियो स सवथा विरोधी रहा। छायावादी उच्चता म यदि आसमान का छने का प्रयत्न करते थे तो य ठेठ पाताल म ही पहुँच जाना चाहते हैं धरती के सीधे-सादे जीवन लाना म हो नही है। उनके स्वर म नारी की एसी मद मन्द कोमलता थी, जो पास म बठे हुए को भी नहा सुनाइ दे तो इनके स्वर का विस्फोट काफी दूर व्यक्ति के श्रुत कर्णों का भी घाट पहुचाने म समथ है। इनकी कविता म भावात्मकता की अपेक्षा बौद्धिकता वयक्तिकता की अपेक्षा सामाजिकता रागात्मकता की अपेक्षा बेसुरापन भाषा की कोमलता की अपेक्षा कठोरता अधिक है अत गीति-काव्य के लक्षणा का पूर्ति इनम नहा मिलती। किन्तु जब नवीन दिनकर, मिलिन्द आदि न अनुभूति से परिपूर्ण कविताओ का रचना की है उनम गीति की आत्मा स्वत ही मुखरित हो उठती है। यथा दिनकर की इस हुकार का सुनिए—

> श्वानो को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं।
> मा की हड्डी से चिपके ठिठुर जाडो की रात बिताते हैं।
> युवती के लज्जा वसन बेच जब ब्याज चुकाये जाते हैं।
> मालिक जब तल फुलेलो पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं।
> पापी महलो का अहकार देता तब मुझको आमत्रण।

यह खेद का विषय है कि ऐसी ओजपूर्ण भावोत्तजक गीतियाँ प्रगतिवादी कवियो द्वारा अधिक संख्या म नहा लिखी गइ कुछ न तो कोरी तुकबदियाँ ही कर दी है—

> ताक रहे हो गगन!
> मृत्यु नीलिमा गहन।
> अनिमष अचितवन काल नयन,

देखो भू को।
जीव प्रसू को।

—पंत (युगवाणी)

इन पंक्तियों को गीति-काव्य की संज्ञा देने में भी संकोच होता है।

इधर प्रयोगवादियों ने भी अपने प्रयोगों द्वारा गीति-काव्य के नई नवीन स्वरूपों का आविष्कार किया है जिनमें कहीं वे भावात्मकता के अभाव में जो रहे हैं तो कहीं वैयक्तिकता के विस्फोट से पाठकों को चौंका रहे हैं। संगीतात्मकता और शब्दों की मधुरता का भी इनमें पूरा प्रकोप है, केवल बात यह है कि उसका आस्वादन करने के लिए हम नई आँखें और नए कान चाहिए पुराने दिमाग और पुराने शरीर के अवयवों से नई कविता का ग्रहण करना संभव नहीं। यदि हमारे नए कवि दस-बीस वर्ष प्रयत्न करते रहे तो सम्भव है कि उनके शब्दों की तड़ातड़ से हमारी श्रवणेन्द्रियाँ घिसकर इतनी चिकनी हो जाएँगी कि वे भी इस नई कविता के रस को निगलने में समर्थ हो सकें। उनकी इस तड़ातड़ का नमूना द्रष्टव्य है—

"तूफान है!
दरवाजा की भड़ाभड़ आवाज है!
धूल है!
दम घुटता है? घुटने दो!!
हिम्मत बाधो चीखो मत!!
चीख के बाद भी दरवाजा बन्द न करने दूंगा!!"

'नई कविता' के नए गीतों के श्रोताओं को चाहिए कि वे दम घुटने की परवाह न करके हिम्मत बाँधकर इन गीतों को सुनते रहें।

सौभाग्य से नए गीतों के इस रेगिस्तान के बीच में कभी-कभी बच्चन नरेन्द्र नीरज रामावतार त्यागी, बालस्वरूप राही भवानीप्रसाद मिश्र आदि की मधुर रचनाओं के नखलिस्तान के भी दर्शन हो जाते हैं, जिससे बोध होता है कि हिन्दी की मधुर गीति-काव्य धारा का स्रोत अभी सूखा नहीं है उसकी गति भले ही मन्द हो गई हो किन्तु वह धीरे धीरे आगे अवश्य बढ़ रहा है। ●

१४ | हिन्दी मुक्तक काव्य : स्वरूप और विकास

१ मुक्तक की परिभाषा।
२ मुक्तक का स्वरूप।
३ मुक्तक के भेदोपभेद।
४ मुक्तक काव्य का सिद्धान्त—(क) प्राचीन भारतीय काव्य में, (ख) प्राचीन हिन्दी काव्य में, (ग) आधुनिक हिन्दी काव्य में।

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने प्रबन्ध काव्य के विपरीत रूप अर्थात् प्रबन्ध-काव्य के लिए मुक्तक शब्द का व्यवहार किया है। अग्निपुराण ने ऐसे श्लोकों को मुक्तक की संज्ञा दी है जो अपने अर्थद्योतन में स्वत समर्थ हों—'मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्।' आगे चलकर ध्वन्यालोक के लोचनकार अभिनवगुप्त ने इसकी विस्तृत व्याख्या करते हुए लिखा है कि ऐसे पद्य को जिसका अगले पिछले पद्यों से कोई सम्बन्ध न हो तथा जो अपने विषय को प्रकट करने में अकेला समर्थ हो, मुक्तक कहते हैं। साथ ही स्वतन्त्र और निरपेक्ष रूप में अर्थ-द्योतन में समर्थ होते हुए भी वह प्रबन्ध के बीच समाविष्ट हो सकता है। अभिनवगुप्त ने इसकी एक विशेषता और बताई है कि वह उसमें विभाव, अनुभावादि से परिपुष्ट इतना रस भरा होता है कि वह पाठक को रसानुभूति प्रदान कर सकता है। आनन्दवर्धनाचार्य का कथन है कि प्रबन्ध के अन्तर्गत जितने भावों या रसों का परिपाक सम्भव है उतने ही भावों या रसों की व्यंजना मुक्तक में भी सम्भव है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मुक्तक के स्वरूप का अधिक स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदयकलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध-काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है इसी से यह सभा-समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है। यद्यपि यहाँ मुक्तक के स्वरूप की रूप रेखा बहुत ही आवश्यक शब्दावली में प्रस्तुत की गई है जिससे प्रबन्ध और मुक्तक के अन्तर पर प्रकाश पड़ता है किन्तु हमारे प्राचीन और आधुनिक आचार्यों ने कहीं भी इस प्रश्न पर विचार नहीं किया कि मुक्तक रचना में रस निष्पत्ति किस प्रकार होती है? रस निष्पत्ति लिए भाव विभाव अनुभाव एवं संचारी आदि का चित्रण अपेक्षित होता है किन्तु मुक्तक का क्षेत्र संकीर्ण होता है उसमें इन सबके लिए स्थान नहीं होता—किसी एक अंग का ही चित्रण हो पाता है अतः उससे रसानुभूति की अपेक्षा कम की जा सकती

है? और यदि किसी एक अवयव से ही रस निष्पत्ति हो सकती है तो फिर प्रबन्ध में सभी अवयवों के विकास पर क्यों बल दिया जाता है?

यह तो स्वयं आचार्य शुक्ल ने ही स्वीकार कर लिया है कि प्रबन्ध में जहाँ हृदय को रस मग्न करने की क्षमता होती है वहाँ मुक्तक के रस में छींटे हो पड़ते हैं जिनमें हृदय कलिका खिल उठती है (उसमें मग्न नहीं हो पाती)। दूसरा तात्पर्य हुआ कि रसानुभूति की दृष्टि से मुक्तक-काव्य में प्रबन्ध की अपेक्षा न्यून शक्ति होती है। फिर भी हमारी मूलभूत समस्या—कि मुक्तक में रस निष्पत्ति (भले ही रस की धारा न होकर छींटे ही सही) किस प्रकार होती है—का समाधान नहीं होता।

हमारे विचार से उत्कृष्ट कोटि का मुक्तक-काव्य प्रबन्ध-काव्य में से चुनकर अलग किया हुआ कोई ऐसा अंग नहीं होता, जो कि वाटिका में से चुनकर तैयार किए हुए गुलदस्तों के समान हो और न ही वह प्रबन्ध का एक लघु-संस्करण होता है। प्रबन्ध और मुक्तक का सम्बन्ध पूरे शरीर और उसके एक अंग (हाथ पैर आदि) का सा नहीं होता, और न ही दीर्घकाय मनुष्य और लघुकाय शिशु का सा होता है। एक बार डा० गुलाबराय जी ने उपन्यास और कहानी का अन्तर स्पष्ट करते हुए वट और मटर का उदाहरण दिया था वही बात हम प्रबन्ध और मुक्तक के सम्बन्ध में कह सकते हैं। वस्तुतः दोनों की स्वतन्त्र सत्ता है और स्वतन्त्र विधा है। एक मुक्तककार रस के सारे अवयवों को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत नहीं करता, जिससे कि वे उन सबका चर्वण करके रस की उपलब्धि कर सकें अपितु कवि स्वयं अपने मानस में ही उन सबका आलोडन विलोडन कर लेता है और उससे प्राप्त अनुभूति-मात्र को अपने काव्य में प्रस्तुत करता है। कहना चाहिए कि प्रबन्ध में वह सारी स्थूल सामग्री उपस्थित होती है जिससे रस की निष्पत्ति सम्भव होती है जबकि मुक्तककार सामग्री प्रस्तुत न करके उसका केवल सार या रस मात्र प्रस्तुत करता है। प्रबन्धकार मैदा चीनी घृत आदि सब कुछ प्रस्तुत करता है जिससे हलुआ तैयार हो सके जबकि मुक्तक-कार केवल बना-बनाया हलुआ ही उपस्थित कर देता है भले ही आकार-परिमाण की दृष्टि से वह न्यून ही क्यों न हो।

मुक्तक-काव्य में रस के सभी स्थूल अवयवों का चित्रण नहीं होता उसमें किसी एक अवयव या भाव-दशा का निरूपण होता है किन्तु इसमें कुछ ऐसे संकेत होते हैं जिससे शेष अवयवों की कल्पना करने में पाठक स्वयं समर्थ हो सके। उदाहरण के लिए निम्नांकित सवैया द्रष्टव्य है—

> पर कारज देह को धारि फिरौ, परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
> निधि नीर सुधा के समान करौ, सबही विधि सुंदरता सरसौ॥
> 'घन आनंद' जीवनदायक हौ, कबौं मेरियौ पीर हिए परसौ।
> कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवान को लै बरसौ॥

यहाँ आलम्बन और आश्रय का स्पष्ट रूप से कोई उल्लेख नहीं है, उनकी परिस्थितियों व भाव-दशा का भी अंकन नहीं है किन्तु प्रणयी हृदय के व्याकुल उद्गारों द्वारा ही सारी स्थिति की व्यंजना हो जाती है। वस्तुतः यहाँ स्थायीभाव के विभिन्न अवयव न होकर स्वयं स्थायीभाव ही द्रवीभूत होकर प्रवाहित हो रहा है।

मुक्तक के भेदोपभेद

संस्कृत के विद्वानों एवं आचार्यों ने मुक्तक के कई भेदोपभेद किए हैं। दंडी ने उसके मुख्य तीन भेद किए हैं—मुक्तक, कुलक, कोष और संघात। आगे चलकर भेदों की संख्या में वृद्धि हो गई। ये भेदोपभेद मुख्यतः श्लोक संख्या व विषय भेद पर ही आधारित हैं। विभिन्न विद्वानों द्वारा मुक्तक के ये ९ भेद स्वीकृत किए गए हैं—(१) मुक्तक—एक श्लोक में पूर्ण होनेवाली रचना, (२) युग्मक—दो श्लोकों में समाप्त होनेवाली, (३) विशेषक—तीन श्लोकों वाली रचना, (४) कलापक—चार श्लोकों वाली रचना, (५) कुलक—पाँच श्लोकों वाली रचना, (६) कोश—ऐसे श्लोकों का संग्रह जो परस्पर सम्बन्ध न हो, (७) प्रघट्टक—एक ही कवि द्वारा रचित श्लोकों का समूह, (८) विकीर्णक—अनेक कवियों द्वारा रचित श्लोकों का संग्रह, (९) संघात या पर्याय बन्ध—एक कवि द्वारा एक विषय पर रचित छन्दों का संग्रह।

उपर्युक्त वर्गीकरण न तो वैज्ञानिक है और न ही विशेष उपयोगी। सामान्यतः आजकल मुक्तक के प्रथम भेद मुक्तक (एक श्लोक वाली रचना) को मुक्तक कहा जाता है। शेष भेदों का प्रचलन नहीं है। डा० शम्भुनाथ सिंह ने हिन्दी में प्रचलित मुक्तकों का वर्गीकरण बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है जो इस प्रकार है—

(१) संख्याश्रित मुक्तक काव्य—जैसे 'हजारा', 'सतसई', 'शतक', 'पचासा', 'बावनी', 'चालीसा' 'पचीसी' 'बत्तीसी' आदि।

(२) वर्णमालाश्रित मुक्तक काव्य—जैसे मानकी सनक (दोहा मातृका), ककक सनक ककहरा अखरावट बारहखड़ी आदि।

(३) छन्दाश्रित—दोहावली, कवितावली।

(४) रागाश्रित—जैसे राग लावनी ख्याल आदि।

(५) ऋतु आश्रित—चर्चरी फागु होरी बारहमासा षड्ऋतु आदि।

(६) पूजा धर्म आश्रित—स्तोत्र स्तुति स्तवन आदि।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो यह वर्गीकरण भी विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि पर आधारित नहीं है। इसमें विभिन्न मुक्तक-संग्रहों के नामकरण को ही आधार माना गया है उसकी विषय वस्तु या शैली का ध्यान नहीं रक्खा गया। वस्तुतः मुक्तक-काव्य भेदोपभेद के पचड़े एवं वर्गीकरण की सीमाओं से भी मुक्त रहना अधिक पसन्द करता है, अतः उसे इन भेदों के कठघरे में जकड़ना उचित नहीं होगा। मुक्तक-काव्य का कोई निश्चित विषय, निश्चित रूप या निश्चित शैली नहीं है अतः उसके रूप भेदों की संख्या अगणित है।

उद्भव और विकास

यद्यपि सृष्टि के आदि-काव्य के विषय में आज हम कुछ नहीं जानते किन्तु इतना निश्चित है कि उसका प्रारम्भ मुक्तक हो रहा होगा। क्योंकि प्रबन्ध-काव्य का विकास तो धीरे-धीरे मानवीय सभ्यता की उन्नति एवं मानव मस्तिष्क के विकास के साथ-साथ मुक्तक काव्य के अनन्तर ही हुआ होगा। विश्व की प्राचीनतम उपलब्ध रचना ऋग्वेद

भी मुक्तक रूप म ही मिलता है। आगम [illegible] और [illegible] साहित्य म भी [illegible] प्रधानता मिली है। बौद्ध [illegible] गाथाओ [illegible] मागधी [illegible] मुक्तको [illegible] है— स्थविर [illegible] है। स्थविर [illegible] और स्थविर [illegible] है। [illegible] मुक्तक म [illegible] गया है— [illegible] रहना प्रशस्त नहा है उसी प्रकार [illegible] रहना श्रेय नहा।

प्राकृत क मुक्तक-काव्य का सर्वोपरि [illegible] हाल की गाथा [illegible] उपलब्ध होता है। इसम कवि न अपना उद्देश्य [illegible] इसम शृगार रस की प्रधानता होना स्वाभाविक है। शृगार क अतिरिक्त इसम नीति ज्योतिष वैद्यक शास्त्र एव कृषि विधान आदि का वर्णन हुआ है। [illegible] का दृष्टिकोण सवत्र यथार्थवादी है अत इसम स्वाभाविकता [illegible] मूलक [illegible] जन-साधारण का चित्रण स्वाभाविक रूप म किया गया है। प्रेमी प्रेमिका क मनोभावो दूती [illegible] परिवार और समाज की मर्यादाओ का उल्लघन करक होनेवाले [illegible] चित्रण इसम सुन्दर हुआ है। इसम शैली की सरलता सरसता और स्वाभाविकता का गुण विद्यमान है।

स्वय हाल क कथनानुसार प्राकृत म शृगारी मुक्तको की सख्या करोड तक पहुँचती थी जिनम स कुछ अच्छे मुक्तको का सग्रह उसन काव्य-सप्तशती क रूप म किया। नाट्य शास्त्र ध्वन्यालोक शृगार प्रकाश दशरूपक काव्य प्रकाश आदि ग्रन्थो म भी स्थान-स्थान पर प्राकृत क मुक्तको को उद्धृत किया गया है जिससे अनुमान किया जाता है कि प्राकृत म मुक्तक शैली का बहुत प्रयोग एव प्रचार रहा होगा। सम्भवत प्राकृत म मुक्तको की लोकप्रियता स प्रभावित होकर ही सस्कृत क कवियो का ध्यान भी मुक्तक रचना की ओर आकर्षित हुआ होगा। सस्कृत क कवियो म अमरुक ने 'अमरुक-शतक' की भर्तृहरि ने शृगार शतक नीति शतक एव वैराग्य शतक की और गोवर्द्धन ने आर्या सप्तशती की रचना की। इन ग्रन्थो पर गाथा-सप्तशती का पूरा प्रभाव पाया जाता है। इनक अतिरिक्त कवि बिल्हण की चौर-पचाशिका कालिदास की शृगार तिलक आदि भी उल्लेखनीय है। सस्कृत क अन्य कवियो न देवी देवताओ की स्तुति म भी मुक्तक शैली म शतक स्तोत्र एव स्तुति-पाठ लिखे जैसे चडी शतक दुर्गा-सप्तशती रामस्तोत्र आदि किन्तु साहित्यिक दृष्टि से य महत्व शून्य हैं।

प्राकृत और सस्कृत की मुक्तक-परम्परा का विकास अपभ्रश म हुआ। एक ओर सिद्ध कवियो म स सरहपाद न दोहा-कोष की रचना की तो दूसरी ओर जैन कवियो म स योगीन्दु ने 'परमात्म प्रकाश' व योगसार की रामसिह न पाहुड दोहा सुप्रभाचार्य ने वैराग्यसार देवसेन न सावयधम्म दोहा जिनदत्त सूरि ने उपदेश रसायन राज आदि की रचना की। इन मुक्तको म धर्म सदाचार एव नीति का प्रतिपादन हुआ है अत

इनमे शान्त रस की प्रमुखता है। किन्तु अपभ्रंश मे शृंगारिक मुक्तको का भी अभाव नही है। प्राकृत-व्याकरण छन्दोनुशासन, कुमार प्रतिबोध, प्रबन्ध चिन्तामणि प्रबन्ध-कोष प्राकृत-पंगलम् आदि मे अनेक ज्ञात और अज्ञात कवियो के असख्य मुक्तको का उद्धृत किया गया है। इन मुक्तको मे भावो की सरसता, व्यजना का वैभव शैली की स्वाभाविकता एव भाषा की सरलता आदि अनेक गुण विद्यमान है।

हिन्दी में मुक्तक काव्य का विकास

पूर्ववर्ती प्राकृत, संस्कृत एव अपभ्रंश के मुक्तक साहित्य का विषय की दृष्टि से इन तीन वर्गो मे विभक्त कर सकते हैं—(१) बौद्ध एव जैन कवियो के धर्म एव वैराग्य सम्बन्धी मुक्तक। (२) गाथा-सप्तशतीकार अमरुक गोवर्द्धनाचार्य आदि के शृगारी मुक्तक। (३) भर्तृहरि व अन्य कवियो के नीति सम्बन्धी मुक्तक। हिन्दी मे भी इन तीनो धाराओ का विकास दृष्टिगोचर होता है। कबीर, दादू सुन्दरदास आदि सन्त कवियो ने धर्मोपदेश एव वैराग्य सम्बन्धी मुक्तको की रचना की तो दूसरी ओर, बिहारी मतिराम, देव पद्माकर आदि ने शृगारी मुक्तको की परम्परा को आगे बढाया। भर्तृहरि के नीति शतक की भाति गिरिधर, वृन्द रहीम आदि ने नीति विषयक मुक्तको की भी रचना की। हिन्दी के मध्यकालीन शृगारिक मुक्तको को भी मुख्यत दो वर्गो मे विभाजित कर सकते हैं—(१) रीतिबद्ध मुक्तक और (२) रीतिमुक्त मुक्तक। इस प्रकार आधुनिक युग से पूर्व रचित मुक्तक-साहित्य को हम इन चार शीर्षको के अन्तर्गत समाविष्ट कर सकते हैं—(१) भक्ति एव वैराग्य सम्बन्धी मुक्तक (२) रीतिबद्ध मुक्तक-काव्य, (३) स्वछन्द प्रेम मूलक मुक्तक और (४) नीति-सम्बन्धी मुक्तक-काव्य। इनके अतिरिक्त पाचवा वर्ग वीर रस के मुक्तको का भी हिन्दी मे मिलता है।

(१) भक्ति एव वैराग्य सम्बन्धी मुक्तक—इस वर्ग के मुक्तको की परम्परा का प्रवर्तन सत कबीर द्वारा हुआ। उनके पूर्व अपभ्रंश मे योगीन्दु रामसिंह देवसेन जिनदत्त सूर आदि के द्वारा धर्म एव वैराग्य सम्बन्धी दोहो का रचना पर्याप्त मात्रा मे हो चुकी थी। कबीर ने भी दोहा से ही मिलती-जुलती शैली को अपनाया जिसे उन्होने दोहा न कहकर साखी के नाम से पुकारा। कबीर अशिक्षित थे अत वे छन्दो के नियमो का पूर्ति मे समर्थ नहीं थे और न ही अपने काव्य को किन्ही कृत्रिम नियमो मे आबद्ध करना चाहते थे अत उनकी साखियो मे भावो की अभिव्यक्ति सहज स्वाभाविक रूप मे उपलब्ध होनी स्वाभाविक है। 'कबीर-ग्रन्थावली' मे उनकी साखिया ५९ अगो मे विभाजित है जिनमे उनके विषय क्षेत्र के विस्तार का अनुमान किया जा सकता है। इनमे मुख्यत गुरु भक्ति ज्ञान, परिचय चेतावनी, माया कुसगति विरक्ति, ईश्वर प्रेम विरह आदि विषयो का निरूपण हुआ। कबीर के मुक्तको मे मार्मिकता की दृष्टि से विरह-सम्बन्धी उक्तियाँ सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। कुछ पक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

चोट सताणी विरह की, सब तन जर-जर होइ।
मारणहारा जाणि है, क जिहि लागी सोइ॥
विरहिन ऊभी पथ सिरि, पथी बूझ धाइ।
एक सबद कहि पीव का, क्बर मिलगे आइ।

इन साखियों में अनुभूतियों की तीव्रता के कारण पर्याप्त सरसता आ गई है। इसके अतिरिक्त कबीर सूक्ष्म विषयों का निरूपण भी स्थूल रूपकों के माध्यम से करते हैं जिससे वे सहज ही अनुभूतिगम्य हो सकते हैं—

माली गड़ में गड़ि रहि, पख रही लपटाय।
ताली पीट सर धुन, माठ बोई माय॥
हाड़ जल ज्यों लाकड़ी, केस जल ज्यों घास।
सब जग जलता देखि करि, भया कबीर उदास॥

यहाँ क्रमशः लोभ एवं संसार की नश्वरता का प्रतिपादन इस ढंग से किया गया है कि पाठक के कल्पना चक्षुओं के समक्ष एक सजीव दृश्य उपस्थित हो जाता है। लोभ की बुराइयाँ या संसार की नश्वरता का वर्णन यहाँ अभिधात्मक शैली में न होकर व्यंजना की सहायता से हुआ है। शैली की इसी विशेषता के कारण कबीर की उपदेशात्मक उक्तियाँ भी काव्यात्मकता से ओत प्रोत हो गई हैं।

कबीर का अनुकरण न केवल परवर्ती संत कवियों द्वारा हुआ अपितु रामभक्ति शाखा एवं कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों ने भी थोड़ी-बहुत मात्रा में मुक्तकों की रचना की। आगे चलकर दोहा के स्थान पर कवित्त और सवैया का भी संतकवियों द्वारा प्रयोग होने लगा। उदाहरण के लिए सुन्दरदास के कवित्त व सवैया की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

बोलियो तौ तब जब बोलिबे की सुधि होय,
ना तौ मुख मौन गहि चुप होय रहिए।
जोरिए तौ तब जब जोरिब की रीति जानै,
तुक छंद अरथ अनूप जामे लहिए॥

× × ×

गेह तज्यो अरु नेह तज्यो पुनि, खेह लगाइ के देह सवारी।
मेह सहे सिर, सीत सहे तन, धूप समै जो पंचागिनि बारी।
भूख सही रहि रूख तरे, पर सुन्दरदास सबै दुख भारी।
डासन छाँड़ि कै कासन ऊपर आसन मारयो पर आस न मारी।

तुलसीदास ने अपनी कवितावली में भी कवित्त-सवैया की रचना अत्यन्त सरल रूप में की है। वस्तुतः परवर्ती काल में हिन्दी कवि दोहे की अपेक्षा इन छन्दों को अधिक अपनाने लगे। इसका कारण सम्भवतः यह था कि इनका विस्तार है जिससे किसी भी विषय का अधिक सूक्ष्मता से इनमें निरूपण हो सकता है। दूसरे इनमें नाद की ऐसी माधुरी, गति का ऐसा प्रवाह और भाषा की ऐसी लचक का आविर्भाव हो जाता है जो सहज ही श्रोता के मन को आकर्षित कर ले। अतः इनको लोकप्रियता प्राप्त होना स्वाभाविक है।

(२) धर्मनिरपेक्ष मुक्तक-काव्य—जिस प्रकार धर्म-सम्प्रदायों के आश्रय में भक्ति और वैराग्य के मुक्तकों की रचना हुई उसी प्रकार राजाश्रय में रीति-बद्ध मुक्तक-काव्य का विकास हुआ। मुगल शासकों एवं आश्रयों में शृंगारिक मुक्तकों की रचना प्रचुर मात्रा

म हुई किन्तु उनम काव्य शास्त्र क लक्षणा की पूर्ति का प्रयास नही मिलता। वस्तुत संस्कृत म शास्त्रीय लक्षणा का समन्वय करने का प्रयास सवप्रथम एक मुक्तककार म नहा—एक गीतिकार म मिलता है जिन्होन अपन गीत-गोविन्द म नायिका भेद एव शृगार के विभिन्न शास्त्रीय भेदाभेदा का समन्वय उल्लेखपूर्वक किया है। हिन्दी म भी रीति का प्रयास प्रारम्भ म भक्त कवियो द्वारा हुआ—सूरदास की 'साहित्य लहरी' एव नन्ददास की 'रस मजरी' हिन्दी की रीति-परम्परा के प्रारम्भिक ग्रन्थ हैं। जिस समय भक्त कवि इस ओर लगे हुए थ अकबर क दरबार म नरहरि ब्रह्म रहीम और गग आदि के द्वारा कवित्त-सवया म शृगारिकता पनप रही थी। इन दरबारी कवियो के काव्य म नायिका के रूप-सौन्दय उसकी विभिन्न चेष्टाओ उसके नख शिख तथा प्रेमी प्रेमिकाओ की लीला का चित्रण होता था, किन्तु उनम काव्य-शास्त्र के लक्षणा की पूर्ति का प्रयास नहा मिलता। यथा बीरबल 'ब्रह्म' का यह छन्द देखिए—

> **सेजहि तें उठि नारि चली, मन-मोहन जू हसि चीर गह्यो,**
> **प्रगट्यो रवि, का ह विहान भयो, मुख मारि क या मगननी कह्यो।**
> **बेनी दुहू बीच रहो उपमा कवि ब्रह्म भन यहै निबह्यो,**
> **जनमेजय के मनो जज्ञ सम दुरि तच्छक सेश की सधि रह्यो।**

तो इस प्रकार अकबरी दरबार म शृगारी मुक्तका की बहुत सी प्रवृत्तिया का विकास हो चुका था किन्तु केशवदास पहले रीतिकालीन कवि है जिन्होन अपनी 'रसिक प्रिया' एव 'कवि प्रिया' म भक्त-कवियो द्वारा गीतिकाव्य म पोषित रीति प्रवृत्ति' को शृगारिक मुक्तका स सम्बन्धित किया। आगे चलकर तो रीति और शृगारिकता मुक्तक काव्य म ऐसा समन्वय हो गया कि किसी गीतिकार ने रीति का नाम तक नही लिया।

अकबरी दरबार का प्रभाव तत्कालीन शासक वग क अन्य लोगा पर भी पडा, जिसस अनेक नरेशो सामन्तो और रईसो के आश्रित कवि रीतिबद्ध शृगारिक मुक्तको की रचना म प्रवृत्त हो गए। देव मतिराम पद्माकर ग्वाल आदि अनेक कवियो ने रीति के निर्वाह क साथ साथ अनुभूतिपूर्ण सरस मुक्तका की रचना की है। इनके अतिरिक्त हमारे अनेक सतसई-कारो—बिहारी मतिराम, विक्रम आदि—ने दोनो म शृगार रस का प्रतिपादन किया जिस पर रीति का प्रभाव परिलक्षित होता है। वस्तुत मध्यकालीन शासक वग की रुचि के प्रभाव स हिन्दी का मुक्तक-काव्य अपनी उन्नति की चरम सीमा तक पहुच गया।

(३) **स्वच्छन्द प्रेम-मूलक काव्य**—हमारे मध्यकाल म ऐसे कवियो का भी प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने वयक्तिक प्रेमानुभूतियो की व्यजना के लिए मुक्तक-शैली को ग्रहण किया। ऐसे कवियो म घनानन्द बोधा आलम रसखान आदि उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन्होन रीति-बद्ध शृगारी कवियो की भाति कवित्त-सवया पद्धति का ही प्रयोग किया किन्तु शास्त्रीय नियमो या रीति के पचडे म य नहा पडे। भावात्मकता व अनुभूति की गम्भीरता की दृष्टि स इनका काव्य मध्यकाल क समस्त मुक्तक-काव्य म सर्वोत्कृष्ट है। भाव-पक्ष भी अत्यन्त प्रौढ है। व्यग्यात्मकता एव भाषा की प्रवहण-शीलता के कारण इनके मुक्तको के प्रभाव म गहरी अभिवृद्धि हो गई है। मुक्तक-काव्य म रसानुभूति की

क्षमता जिस मात्रा में विद्यमान है [illegible] आलम आदि की [illegible]
[illegible] हुआ—

अति सूधो सनेह को मारग है जहँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहँ साँचे चलैं तजि आपनपौ, झिझकैं कपटी जो निसाँक नहीं॥
'घन आनँद' प्यारे सुजान सुनौ, इत एक तें दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन सी पाटी पढ़े हो लला, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥

—घनानंद

× × ×

एक सुभान के आनन पै कुरबान जहाँ लगि रूप जहाँ को।

× × ×

जान मिलै तो जहान मिलै, नहिं जान मिलै तो जहान कहाँ को।

× × ×

यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवारि की धार पै धावनो है।

× × ×

सहते ही बनै न, कहते न बनै, मन ही मन पीर पिरैबो करै।

—बोधा

× × ×

जा थल कीन्हे बिहार अनेकन ता थल काँकरि बैठि चुन्यो करैं।

× × ×

नैनन में जे रहते सदा तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं।

—आलम

(४) नीति-मुक्तक काव्य—जैसा कि पीछे कहा गया है मध्ययुग के कुछ कवियों ने केवल नीति-सम्बन्धी विषय को लेकर मुक्तकों की रचना की। इनमें वृन्द, गिरिधर, घाघ, बैताल आदि उल्लेखनीय हैं। इन कवियों ने दोहा, कुण्डलिया, छप्पय आदि छन्दों का प्रयोग किया। यद्यपि विषय की बौद्धिकता के कारण इनके काव्य में भावात्मकता के विकास के लिए स्थान नहीं था किन्तु फिर भी व्यक्तिगत आकर्षण के कारण उनकी सूक्तियाँ भी पर्याप्त रोचक बन गई हैं। देखिए—

भले बुरे सब एक सम जौ लौं बोलत नाहिं।
जानि परत है काग पिक ऋतु बसंत के माहिं॥

—वृन्द

रहिए लटपट काटि दिन बरु घामहिं मे सोय।
छाँह न वाकी बैठिए, जो तरु पतरो होय॥
जो तरु पतरो होय एक दिन धोखा देहै।
जा दिन बहै बयारि टूटि तब जर ते जैहै॥
कह गिरधर कविराय छाँह मोटे की गहिए।
पाता सब झरि जाय तऊ छाया में रहिए॥

—गिरधर कविराय

(५) वीर रसात्मक मुक्तक-काव्य—प्राय मध्यकाल को शृंगारी-युग कहा जाता है किन्तु इस युग में वीर रसात्मक काव्य की रचना भी पर्याप्त मात्रा में हुई जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस काव्य को दो उपभेदों में बाँट सकते हैं—(१) राजस्थानी कवियों द्वारा डिंगल भाषा में रचित और (२) अन्य कवियों द्वारा ब्रजभाषा में रचित। प्रथम वर्ग में पृथ्वीराज, बांकीदास, दुरसा जी, सूर्यमल मिश्र आदि कवि आते हैं, जिन्होंने राष्ट्रभावों की अभिव्यक्ति अनुभूतिपूर्ण शब्दों में की। उस युग के राष्ट्रनायक महाराणा प्रताप की वीरता, दर्प एवं महिमा को लेकर इन्होंने अनेक ओजपूर्ण मुक्तकों की रचना की। आश्चर्य तो यह है कि पृथ्वीराज और दुरसा जी का अकबरी दरबार से गहरा सम्बन्ध होते हुए भी उन्होंने महाराणा के गौरव-गान में किसी प्रकार का संकोच नहीं किया, अपितु महाराणा के आगे अकबर की हीनता, तुच्छता एवं लघुता का प्रतिपादन खुले शब्दों में किया है। कुछ उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

माई एहड़ा पूत जण, जेहड़ा राण प्रताप।
अकबर सूतो ओझके, जाण सिराणे साप॥
आइरे अकबरियाह, तेज तुहालो तुरकड़ा।
ना तग नासरियाह, राण बिना सहराजवी॥

—पृथ्वीराज

अकबर गरब न आण, हींदू सह चाकर हुवा।
दीठो कोई दीवाण, करतो लटका कटहड़॥

—दुरसा जी

कवि राजा सूर्यमल मिश्र ने अपनी वीरसतसई में मध्यकालीन राजपूती आदर्श की व्यंजना सफलतापूर्वक की है। राजस्थानी कवियों ने मुख्यतः दोहा व उससे मिलते-जुलते छन्दों का प्रयोग किया है।

ब्रजभाषा में वीररस के मुक्तकों की रचना करनेवाले वर्ग में सर्वश्रेष्ठ कवि भूषण माने जाते हैं जिन्होंने महाराज छत्रसाल और छत्रपति शिवाजी के यश का गान कवित्त-सवैया में तथा फड़कती हुई भाषा व ओजस्वी शैली में किया है। उनके अतिरिक्त पद्माकर, ग्वाल आदि कवियों ने भी अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा के लिए कुछ वीर रस के छन्दों की रचना की थी जिनमें बहुत-कुछ भूषण का अनुकरण हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यकाल का मुक्तक साहित्य विषय-क्षेत्र की दृष्टि से बहुत व्यापक है। भक्ति, वैराग्य, शृंगार, नीति और वीर रस के अतिरिक्त इस युग में बेनी के 'भड़ौवे' और खटमल-बाईसी' जैसी हास्य रस की भी मुक्तक रचनाएं लिखी गई। वस्तुतः शैली की दृष्टि से रीतिकाल को हम मुक्तक-काल भी कह दें तो अनुचित नहीं होगा।

आधुनिक काल—आधुनिक-काल का प्रारम्भ भारतेन्दु युग से होता है। इस युग में मुक्तकों के भाव-क्षेत्र एवं विषय-क्षेत्र में पर्याप्त विकास हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने एक ओर पूर्ववर्ती कवियों का अनुसरण करते हुए भक्ति भावना और प्रेम से ओत-प्रोत मुक्तकों की रचना की तो दूसरी ओर देश-प्रेम, समाज-सुधार, हास्य और व्यंग्य आदि

विषयों पर छोटे छोटे मुक्तक लिखे। उनके साहित्य में अनुभूति की विशदता भावों की स्पष्टता और भाषा की स्वाभाविकता व कोमलता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। उनका मुक्तक काव्य भी इन गुणों से वंचित नहीं है। उनके युग के अन्य कवियों ने भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का अनुकरण किया।

द्विवेदी-युग प्रबन्धात्मकता के लिए प्रसिद्ध है। इस युग के कवि एक ओर राष्ट्रीय जागरण के उद्देश्य से विगत युग के महापुरुषों के जीवन का चित्रण करना चाहते थे, जो प्रबन्ध शैली में ही सम्भव है। फिर भी नाथूराम 'शंकर' अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', रामनरेश त्रिपाठी आदि ने मुक्तक रचना की जिनमें उपदेशात्मकता की प्रधानता है। इस युग के कवियों की शैली में इतना अधिक विस्तार मिलता है कि वह मुक्तक रचना के उपयुक्त नहीं थी अतः इनके मुक्तकों में अपेक्षित भावात्मकता नहीं आ सकी। आगे चलकर छायावादी और प्रगतिवादी युग के कवियों ने भी मुक्तकों की अपेक्षा गीति शैली का अधिक प्रयोग किया किन्तु फिर भी उन्होंने यत्र-तत्र अच्छे मुक्तकों की रचना की है। इस युग में ऐसी छोटी छोटी कविताओं की भी रचना हुई जिनमें छन्दों की संख्या पाँच सात है तथा जो गेय न होकर पाठ्य हैं—इन्हें प्रलम्ब मुक्तक कहा गया है। मुक्तक शैली में रचित 'आँसू' और 'मधुशाला' जैसी अत्यन्त लम्बी रचनाएँ भी लिखी गई हैं।

इधर प्रयोगवादियों ने नई कविता में एक ऐसी शैली का प्रयोग किया है जो मुक्तक और गीति के बीच की कही जा सकती है। आकार प्रकार की दृष्टि से इनकी रचनाएँ मुक्तक ही हैं किन्तु उनका सस्वर पाठ होने के कारण वे गीति का रूप धारण कर लेती है। इनकी रचनाओं में भावात्मकता की अपेक्षा बौद्धिकता अनुभूति की अपेक्षा विचारों की अधिकता है अतः इन्हें सूक्तियाँ—अपितु उक्तियाँ की संज्ञा दी जा सकती है।

उपर्युक्त पर्यालोचन से स्पष्ट है कि विभिन्न युगों में हिन्दी मुक्तक-काव्य की धारा विभिन्न विषयों के धरातल पर प्रभावित होती हुई निरन्तर आगे बढ़ता रहा और सदा बढ़ता रहेगा।

१५ | हिन्दी गद्य का उद्भव और विकास

१ भूमिका—गद्य साहित्य का अभाव क्यों ?
२ आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी गद्य—
  (१) राजस्थानी गद्य जैन रचनाएँ—राज्याश्रित साहित्य
  (२) मैथिली गद्य
  (३) ब्रजभाषा गद्य—मौलिक रचनाएँ, टीकाएँ, अनूदित ग्रंथ
  (४) खड़ीबोली का प्रारंभिक गद्य
३ आधुनिक काल में खड़ीबोली गद्य का विकास
४ उपसंहार।

आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी में गद्य साहित्य इतनी न्यून मात्रा तथा अविकसित दशा में मिलता है कि वह प्राय नगण्य सा समझा जाता है। पूर्ववर्ती युगो में हिन्दी गद्य के अविकसित रहने का क्या कारण है इस प्रश्न पर विचार तो अनेक विद्वानों ने किया है, किन्तु कोई सन्तोषजनक समाधान अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाया। कुछ विद्वान् मानते हैं कि प्रत्येक भाषा के साहित्य का आरम्भ ही पद्य से होता है अत हिन्दी में भी ऐसा होना स्वाभाविक है। कुछ विचारकों के मतानुसार संस्कृत में पद्य का ही महत्त्व था तथा परवर्ती भारतीय भाषाओं ने भी संस्कृत के इसी आदर्श का पालन किया अत हिन्दी में भी गद्य का विकास नहीं हो सका। हमारे विचार से ये दोनों ही धारणाएँ भ्रामक हैं। यह कोई सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है कि प्रत्येक साहित्य का आरम्भ पद्य से ही हो। यदि थोड़ी देर के लिए इसे स्वीकार भी कर लिया जाय तो इसके अनुसार हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक काल में ही गद्य का अभाव रहना चाहिए था मध्यकाल पर यह लागू नहीं होता। इसी प्रकार यह मानना भी ठीक नहीं है कि संस्कृत में गद्य को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं था। हम यह न भूलना चाहिए कि संस्कृत में 'काव्य' संज्ञा का प्रयोग गद्य और पद्य दोनों के लिए होता था तथा गद्य को न केवल काव्य का उत्कृष्ट रूप माना जाता था अपितु इसी को कवियों की कसौटी भी समझा जाता था। दूसरे संस्कृत में गद्य के अनेक रूपों—नाटक, कथा, आख्यायिका आदि—की अत्यन्त समृद्ध एवं सुविकसित परम्परा थी। अत हिन्दी के प्रारम्भिक युगों में गद्य का विकास न होने के पीछे संस्कृत के आदर्शों का पालन करना नहीं अपितु उनका त्याग कर देना ही कारण है। वस्तुत हिन्दी से पूर्व अपभ्रंश में ही संस्कृत की गद्य-परम्परा बहिष्कृत एवं लुप्त हो चुकी थी। जिन काव्य-रूपों—कथा, आख्यायिका चरित आदि— में संस्कृत के साहित्यकारों ने गद्य का प्रयोग किया था, उन्हीं में अपभ्रंश के कवियों द्वारा पद्य प्रयुक्त हुआ है।

यहां प्रश्न है कि संस्कृत की गद्य परम्परा परवर्ती भाषाओं में विकसित क्यों न हो पायी? इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि जब किसी युग विशेष में जीवन का दृष्टिकोण बौद्धिकतापरक, यथार्थवादी, वस्तुवादी एवं व्यावहारिक अधिक होता है तो उसमें गद्य को अधिक प्रोत्साहन मिलता है जबकि इसके विपरीत जीवन में भावुकता, तन्मयता, आध्यात्मिकता एवं काल्पनिकता की प्रतिष्ठा होने पर उसमें अभिव्यक्ति पद्य का माध्यम अपनाती है। ईसा की सातवीं आठवीं शती से लेकर अठारहवीं शती तक के समय को भारतीय इतिहास की दृष्टि से मध्यकालीन युग कहा जाता है जिसमें धीरे धीरे बौद्धिकता, तार्किकता, यथार्थवादिता आदि के स्थान पर क्रमशः भावुकता, अंधविश्वास, काल्पनिकता की प्रतिष्ठा हो गई। अतः ऐसी स्थिति में साहित्यकारों का भी पद्य की ओर उन्मुख हो जाना स्वाभाविक ही था। आगे चलकर जब पुनः मुद्रण-यंत्र के प्रचलन, शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना, धार्मिक, सामाजिक एवं बौद्धिक आन्दोलनों के उत्थान तथा पत्र-पत्रिकाओं के प्रसार के कारण जीवन में ज्यों-ज्यों बौद्धिकता, ज्ञान, तर्क एवं चिंतन की प्रतिष्ठा हुई त्यों-त्यों गद्य-साहित्य का भी विकास होता गया। उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चात् तो हिन्दी में गद्य साहित्य की इतनी उन्नति हुई कि कुछ इतिहासकार हिंदी साहित्य के आधुनिक काल को 'गद्य-काल' तक की संज्ञा देते हैं। अस्तु हमारे विचार से आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी गद्य के अभाव का सबसे बड़ा कारण विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के कारण हमारे जीवन में बौद्धिकता के स्थान पर रागात्मकता, दार्शनिकता के स्थान पर भक्ति-भावना एवं यथार्थवादिता के स्थान पर काल्पनिकता की प्रतिष्ठा हो जाना ही है, अन्य कारण गौण हैं।

आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी गद्य की स्थिति

जैसा कि पीछे कहा गया है आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी गद्य प्रायः अविकसित रहा, किन्तु इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि उसका सर्वथा अभाव रहा है। वस्तुतः ऐसा नहीं है। पूर्ववर्ती युग के हिन्दी गद्य को भाषा की दृष्टि से मुख्यतः चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) राजस्थानी गद्य (२) मैथिली गद्य (३) ब्रज भाषा का गद्य और (४) *खड़ीबोली का गद्य। इनका संक्षिप्त परिचय यहां क्रमशः दिया जाता है।*

१. राजस्थानी गद्य—राजस्थानी की प्राचीनतम उपलब्ध गद्य रचनाएं तेरहवीं शताब्दी की हैं जिनमें 'आराधना' (१२७३ ई०) 'अतिचार' (१२८३ ई०) 'बाल शिक्षा' (संग्रामसिंह रचित, रचना-काल १२७० ई०) उल्लेखनीय हैं। ये रचनाएं मुनि जिन विजय द्वारा सम्पादित 'प्राचीन गुजराती गद्य-संदर्भ' में संगृहीत हैं। इन रचनाओं की भाषा उस समय की है जबकि राजस्थानी और गुजराती अभिन्न थी तथा वे अलग-अलग भाषाओं के रूप में विकसित नहीं हुई थीं, इसीलिए गुजराती और राजस्थानी के विद्वान् इन्हें अपनी अपनी भाषाओं के साहित्य में स्थान देते हैं। डा० मोतीलाल मेनारिया, डा० हीरालाल माहेश्वरी ने इन्हें राजस्थानी साहित्य में ही स्थान दिया है। इनकी भाषा की प्राचीनता के कारण इन्हें अपभ्रंश की रचनाएं मानने की भी भ्रान्ति हुई है। इधर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में लिखित शोध प्रबन्ध में हरिमोहन श्रीवास्तव ने भी

यह हिन्दी-गद्य साहित्य में ही स्थान दिया है। अस्तु, इन रचनाओं को हिन्दी-गद्य की प्रारम्भिक अवस्था की सूचक कृतियों के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो अनुचित नहीं होगा। इनका अधिक विवरण अनुपलब्ध है, यहाँ इनकी शैली के कुछ नमूने प्रस्तुत हैं—

(क) 'सम्यक्त्व प्रतिपत्ति करहु, अरिहंतु देवता सुसाधु गुरु जिन प्रणीत धम्म सम्यक्त्व दंडकु ऊचरहु सागार प्रत्याख्यानु ऊचरहु चऊहुं सरणि पइसरहु।

—('आराधना' से)

(ख) 'पुन विकाइ जीव आउकाइ जीव तेउकाइ जीव वाउकाइ जीव वणस्वइ-काइ जीव बेइंद्रिय तेंद्रिय चिंद्रिय जलचर थलचर खेचर जिव जंतुताहं मिच्छामि दुक्कडउ।'

—(वही)

चौदहवीं-पंद्रहवीं शती में रचित अनेक राजस्थानी-गद्य रचनाएं श्री अगरचन्द नाहटा के पास सुरक्षित हैं जिनमें से कुछ पर उन्होंने समय-समय पर राजस्थान भारती (वर्ष ३, अंक २ ४) में प्रकाशित लेखों के द्वारा प्रकाश डाला है। इनमें से 'तत्त्व विचार' एवं धनपाल कथा' उल्लेखनीय हैं जिनका रचना-काल चौदहवीं शती माना गया है। तत्त्व विचार' में जैन धर्म के सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है। इसकी शैली का एक नमूना प्रस्तुत है—एउ संसारु असारु। खणभंगरु अणाइ चउ गईउ। अणोरु अपारु संसारु।

इम परि परि भमता जीव जाति कुलादि गुण सम्पूर्ण दुलभु माणुखउ जनमु। सव्वही भव मद्धि महा प्रधानु। मन चिंतिताथ संपादकु। कथमपि दैव तणइ योगि पावियइ। इसकी भाषा पर्याप्त विकसित परिलक्षित होती है।

धनपाल कथा में तिलक-मंजरी के रचयिता प्रसिद्ध जैन कवि धनपाल के जीवन की एक कथा प्रस्तुत की गई है। इसकी भाषा-शैली का नमूना द्रष्टव्य है—'उज्जयनी नाम नगरी। तहिंठे भोजदेवु राजा। तीयहिं तणइ पंचह सयह पंडितह माहि मुख्यु धनपाल नामि पंडितु। तीयहिं तणइ घरि अन्यदा कदाचित साधु विहरण निमित्तु पइठा। पंडितह णी भार्या त्रीजा दिवसह णी दधि ल्यउ उठी। व्रतिया भणियउ। केता दिवसह णी नवि। तिणि ब्राह्मणी भणियउ, त्रीजा दिवसह णी दधि। महामुनिहिं भणियउ त्रीजा दिवसह णी दधि न उपगरी। व्रतिया ठाला नीसरता पंडिति धनपालि गवाक्षि उपविष्टि हूतइ दीठा। विणवियउ किसइ कारणि ठावा नीसरिया भगवतहु! किसइ करणि दधि न विहरू? महामुनिहिं भणियउ।

इसी प्रकार पंद्रहवीं शती की एक अन्य रचना पृथ्वीचंद्र चरित्र का भी विवरण श्री अगरचंद नाहटा ने राजस्थान भारती के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इस रचना का दूसरा नाम वाग्विलास' भी है। इसकी रचना माणिक्य चन्द्रसूरि ने १४२१ ई० में की थी। इसकी शैली अलंकारपूर्ण है। देखिए—जिणिइ वर्षा कालि मधुर ध्वनि मेह गाजइ दुर्भिक्ष तणा भय भाजइ जाणे सुभिक्ष भूपति आवता जय ढक्का बाजइ। चिहुं दिसि बीज झलहलइ पथी घर भणी पुलइ। विपरीत आकाश चन्द्र सूर्य परियास। राति अंधार लवइ तिमिर। उत्तर नऊ उनयण, छायउ गयण। पाणी तणा प्रवाह खलहलइ वाडी ऊपरि वेला वलइ। चीखलि चालता सकट स्खलइ लोक तणा मन धर्म ऊपरि वलइ।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि इसमें लेखक ने जहाँ व्याकरण का ढाँचा तत्कालीन लोक भाषा से लिया है, वहाँ उसने विभिन्न संज्ञाओं एवं विशेषणों के रूप में संस्कृत के तत्सम शब्दों को अपनाया है। संस्कृत के तत्सम पदों के प्रयोग की प्रवृत्ति अपभ्रंश से परे हटने के लक्ष्य की सूचक है। आगे चलकर आधुनिक भाषाओं में भी अपभ्रंश के तद्भव रूपों के स्थान पर संस्कृत के तत्सम पद ही अधिक प्रयुक्त हुए हैं अतः इस दृष्टि से भी वर्ण रत्नाकर आधुनिक भाषाओं के नवोत्थान की प्रवृत्ति का सूचक है।

आगे चलकर प्रसिद्ध गीतिकार विद्यापति ठाकुर (१३६० १४४८ ई०) ने अपनी दो गद्य रचनाओं—'कीर्तिलता' एवं 'कीर्ति पताका'—द्वारा ज्योतिरीश्वर की गद्य-परम्परा को आगे बढ़ाया। कीर्तिलता' गद्य-पद्य मिश्रित ऐतिहासिक काव्य है, जिसमें कवि ने अपने आश्रयदाता कीर्तिसिंह के युद्ध की एक घटना का विवरण आकर्षक शैली में प्रस्तुत किया है। पूरी रचना चार पल्लवों में विभक्त है तथा कथा का आरम्भ गणेश शिव सरस्वती की वंदना, दुर्जन-सज्जन चर्चा, आत्म-दैन्य के प्रदर्शन आदि के अनन्तर भृंगी भृंग के संवाद से होता है। गद्य और पद्य का प्रयोग साथ-साथ हुआ है तथा पद्य भाग में दोहा छप्पय रड्डा गीतिका आदि छंद प्रयुक्त हुए है।

विद्यापति की दूसरी रचना कीर्ति पताका' खंडित एवं अशुद्ध रूप में उपलब्ध है। इसमें महाराजा शिवसिंह की वीरता का आख्यान करते हुए युद्ध की घटना वर्णित की गई है। इसकी शैली का एक नमूना इस प्रकार है— राअन्हि कर परस नासचरे राउतन्हि करे अस्त्र व्यापार हुल्तारहि राउत कुलित हरिण यूथ न्याय परकट पपट बानस्ति रनरहि अपाच्छास ज्वापाति साहे पतिगाहि । वस्तुतः इसकी शैली कीर्तिलता' से बहुत भिन्न तथा दोषपूर्ण प्रतीत होती है अतः इसके वर्तमान रूप की प्रामाणिकता संदिग्ध है।

विद्यापति के अनन्तर मैथिली गद्य की कोई महत्त्वपूर्ण साहित्यिक रचना उपलब्ध नहीं होती। मिथिला, नेपाल एवं आसाम में रचित नाटकों में अवश्य मैथिली गद्य का प्रयोग मिलता है। विशेषतः आसाम के शंकर देव (१४४९-१५५८), माधव देव (१४८९-१५९६) गोपाल देव, रामचरण ठाकुर प्रभृति ने अपने नाटकों में संवादों के रूप में प्रायः गद्य का ही प्रयोग किया है। यहाँ एक उद्धरण प्रस्तुत है—हा ! हा ! हामार स्वामी परम सुकुमार नवीन वयस। वज्राधिक कठिन महेशक धनु इहात गुण दित स्वामी जानी नहि पारय। हा ! हा ! पिता की दारुण कर्म्म कयलि।

इन नाटकों में प्रयुक्त गद्य में भी पूर्वोक्त रचनाओं की ही भाँति संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। मैथिली प्रदेश दीर्घकाल तक संस्कृत के अध्ययन का केन्द्र रहा है संभवतः इसी से मैथिली गद्य में तत्सम शब्दों के प्रयोग की बहुलता है। इसके अतिरिक्त अलंकृति एवं विद्वत्ता प्रदर्शन के निमित्त भी संस्कृत शब्दावली का प्रयोग संभव है। पर इससे गद्य की अभिव्यंजना-शक्ति एवं कलात्मकता में अभिवृद्धि ही हुई है अतः मैथिली गद्यकारों की यह प्रवृत्ति प्रशंसनीय है।

३ ब्रज भाषा-गद्य—ब्रज भाषा के गद्य-साहित्य को मुख्यतः तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) मौलिक ग्रंथ (२) टीकाओं के रूप में लिखित रचनाएँ और (३) अनूदित ग्रंथ। इन तीनों वर्गों का परिचय यहाँ क्रमशः दिया जाता है।

(क) मौलिक ग्रन्थ—इस युग में सबसे पुरानी रचना गोरखनाथ कृत 'गोरख सार' समझी जाती रही है तथा इसे कुछ विद्वान् सं० १४०० ई० आस-पास की रचना मानते रहे हैं किन्तु अब यह रचना अप्रामाणिक सिद्ध हो गई है। एक तो गोरखनाथ का जीवन काल आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा दसवीं शताब्दी या उससे पूर्व सिद्ध किया गया है जबकि इस ग्रन्थ की भाषा बहुत परवर्ती है तथा दूसरे इसमें गोरखनाथ के प्रति गहरी श्रद्धा व्यक्त की गई है अतः इसे गोरखनाथ द्वारा रचित नहीं माना जा सकता। इसका नामकरण भी यह सूचित करता है कि इसमें किसी अन्य व्यक्ति ने गोरखनाथ के विचारों का सार प्रस्तुत किया है। अस्तु इसके रचयिता एवं रचना-काल के सम्बन्ध में अभी तक निश्चित जानकारी का अभाव है। इसकी भाषा का नमूना यहाँ प्रस्तुत है— स्वामी तुम तो सत गुरू अम्हे तो सिष सबद एक पूछिबा दया करि मनन करिबा रोस। पराधीन उपरांति बंधन नाही सुआधीन उपरांति मुकति नाही। चांदि उपरान्ति पाप नाही अबाहि उपरांति पुनि नाही, सुमरन उपरांति पाग नाही नारायण उपरान्ति दूसर नाही। वस्तुतः विषय-वस्तु और भाषा-शैली दोनों की ही दृष्टि से यह रचना सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी या उसके बाद की प्रतीत होती है।

ब्रज भाषा-गद्य के विकास में सर्वाधिक योग देने का श्रेय पुष्टिसम्प्रदाय के भक्त लेखकों को है जिन्होंने अपने सम्प्रदाय के विभिन्न व्यक्तियों एवं विषयों को लेकर विपुल गद्य-साहित्य की सृष्टि की। पुष्टि-सम्प्रदाय के विभिन्न आचार्यों एवं भक्तों द्वारा प्रस्तुत गद्य-साहित्य की एक सूची मात्र यहाँ प्रस्तुत की जाती है

(१) गोस्वामी विट्ठलनाथ (१५१५-१५८५ ई०) द्वारा रचित ग्रंथ—'शृंगार रस मंडल', 'यमुनाष्टक', 'नवरत्न सटीक' आदि।

(२) चतुर्भुजदास द्वारा रचित 'षटऋतु की वार्ता'।

(३) गोकुलनाथ (१५५१-१६४० ई०) द्वारा रचित 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता', 'श्री गुसांईजी और दामोदरदासजी का संवाद', 'श्री गुसांईजी की वनयात्रा', 'नित्य सेवा प्रकार', 'चौरासी बैठक चरित्र', 'अट्ठाइस बैठक चरित्र', 'घरू वार्ता', 'उत्सव भावना', 'रहस्य भावना', 'चरण चिन्ह भावना', 'भाव सिन्धु', 'भावना वचनामृत' आदि।

(४) गोस्वामी हरिराय जी (१५९०-१६६६ ई०) द्वारा रचित ग्रंथ—'श्री आचार्य महाप्रभुन की द्वादस निज वार्ता', 'श्री आचार्य महाप्रभुन के सेवक चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'गोसाईं जी के स्वरूप के चिंतन को भाव', 'कृष्णावतार स्वरूप निर्णय', 'माता स्वरूप की भावना', 'भाव चरसारमत', 'द्वादश निकुंज की भावना', 'सात-स्वरूप की भावना', 'छप्पन भोग की भावना' आदि।

(५) गोविन्ददास ब्राह्मण कृत 'वार्ता'।

(६) व्रजभूषण (१७वीं शती) कृत ग्रंथ—'नित्य विनोद', 'नीति विनोद', 'श्री महाप्रभुजी तथा गुसांईजी का चरित्र', 'श्री द्वारिकानाथधाम जी की प्राकट्य वार्ता' आदि।

(७) श्री द्वारिकेश जी भावना वाले (१९वीं शती)—'श्रीनाथ जी आदि

ात स्वरूपन की भावना', 'घनुमणि भावना', 'उत्सुक भावना', 'भाव भावना, 'भाव ग्रह' आदि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वल्लम-सम्प्रदाय के अनुयायियों ने शताधिक गद्य चनाएँ प्रस्तुत की है, जिनका विस्तृत विवरण देना यहां सम्भव नहीं। फिर भी सामान्य रूप में इनके सम्बन्ध में कुछ बातें यहाँ कही जा सकती हैं। एक तो प्रारम्भिक रचनाओं में से अनेक के मूल लेखक कोई और है तथा वे प्रचारित किसी अन्य के नाम पर हैं। यथा, 'चौरासी वष्णवन की वार्ता' तथा 'दो सौ वष्णवन की वार्ता' को लिया जा सकता है। ये दोनों गोकुलनाथ जी के द्वारा रचित बताई जाती हैं, किन्तु दोनों की भाषा-शैली में इतना अन्तर है कि उन्हें एक ही व्यक्ति द्वारा रचित नहीं माना जा सकता। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अकाट्य तर्कों के आधार पर सिद्ध किया है कि 'दो सौ वष्णवन की वार्ता' गोकुलनाथ द्वारा रचित नहीं हो सकती। उनके विचार से यह किसी परवर्ती व्यक्ति द्वारा सत्रहवीं शती या उसके बाद की रचित है। ऐसी स्थिति में इनके रचयिता एवं रचना-काल दोनों संदिग्ध हो जाते हैं। किन्तु यह बात गोस्वामी विट्ठलनाथ एवं गोकुलनाथ की ही कुछ रचनाओं पर लागू होती है परवर्ती रचनाओं पर नहीं। दूसरे, इन रचनाओं में अपने सम्प्रदाय के आचार्यों एवं भक्तों का गुणगान करना उसके सिद्धान्तों एवं विधि विधानों पर प्रकाश डालना तथा भक्ति भावना को पुष्ट करना ही रचयिताओं का लक्ष्य है अत इनमें साहित्यिकता या कलात्मकता के दर्शन नहीं होते। तीसरे इनमें कथावाचकों की-सी शैली, 'जो' 'सो' की आवृत्ति आदि के कारण भाषा का शैथिल्य आ गया है। फिर भी इनमें क्रमश गद्यशैली का विकास अवश्य दृष्टिगोचर होता है। इस दृष्टि से विभिन्न शताब्दियों की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है, यहां कुछ उदाहरण प्रस्तुत है—

(अ) 'जो गोपी जन के चरण विषै सेवक की दासी करि जो इनके प्रेमामृत में डूबि के इनके मद हास्य ने जीत है। अमृत समूह ता करि निकज विष श्रृंगार रस श्रेष्ठ रचना कीनी सो पूर्ण होत भई।

—विट्ठलनाथ (१६वीं शती) 'श्रृंगार रस मंडन'

(आ) बहुर श्री आचार्यजी महाप्रभुन ने श्री ठाकुरजी के पास भट्ट मांग्यो जो मेरे आगे दामोदरदास की देह न छूटे और श्री आचार्य जी महाप्रभु दामोदर दास सों कछू गोप्य न रखत और श्री आचार्य जी महाप्रभु श्री भागवत अहर्निस दखत कथा कहत ।

—गोकुलनाथ (१७वीं शती) चौरासी वष्णवन की वार्ता'

(इ) तुलसीदास श्री गोकुल में आए तब श्री गुसाइं जी तो कहै सीताजी सहित श्री रामचन्द्र जी के दर्शन होय यह कृपा करो। तब ही रघुनाथ जी का ब्याह भयो हतो। सो जानकी जी बहूजा पास ठाढे हत। तब आप आज्ञा दिये जो तुलसीदास को दर्शन दऊ।

—श्री द्वारिकेश भावना वाले (१९वीं शती)

वल्लभ-सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों के कुछ भक्तों ने भी कतिपय गद्य या गद्य-पद्य मिश्रित रचनाएँ प्रस्तुत की हैं जिनमें नाभादास (१७वीं शती) का 'अष्टयाम', ललित किशोरी और ललित मोहिनी की श्री स्वामीजी महाराज की वचनिका', यशवंत सिंह की सिद्धान्त-बोध' आदि उल्लेखनीय हैं। अष्टयाम' में रामचन्द्रजी की दिनचर्या

वर्णित है। इसकी पर्याप्त प्रवाहपूर्ण है जसे— तब श्री महाराज कुमार प्रथम वसिष्ठ महाराज के चरन छुई प्रनाम करत भए। फिर ऊपर वद्धि समाज तिनको प्रनाम करत भए। ललित किशोरी और ललित माहिनी (१८वी शती) निम्बाक सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इनक ग्रन्थ की शली का एक नमूना द्रष्टव्य है।—'वस्तु को दष्टान्त मलयागिरि को समस्त वन वाको पवन सो चन्दन ह्व जाय। वाके कछू इच्छा नाहा। बांस और अरड सुगध न होय। महाराजा यशवन्तसिंह न अपन सिद्धान्त-बोध' म ब्रह्म ज्ञान पर विचार किया है।

वस्तुत विभिन्न धम सम्प्रदायो द्वारा प्रस्तुत इस गद्य-साहित्य का महत्त्व या तो तत्कालीन मन स्थितिया एव परिस्थितिया के अध्ययन की दष्टि स है या भाषा के नमूना की दष्टि स विशुद्ध साहित्यिक दष्टि से इनका महत्त्व नगण्य है।

कुछ लेखको ने काव्य शास्त्र छन्द शास्त्र तथा अन्य शास्त्रीय विषयो पर विचार करन के उद्देश्य से भी ब्रजभाषा म गद्यात्मक रचनाएँ प्रस्तुत की है। इनम ये उल्लेखनीय हैं—**बनारसीदास** (१७वी शती) की बनारसी विलास, **सुखदर्वासिह मिश्र** (१८वी शती) का पिंगल ग्रथ, **बेनी कवि** (१७३५ ई०) का टिकतराय प्रकाश, **प्रियादास** कृत सवक-चरित्र (१७७९ ई०) लल्लूलाल कृत राजनीति (१७०९) और माधो विलास (१८१७) बख्शी सुमनसिंह का पिंगल-काव्य भूषण' (१८२२ ई०) आदि। बनारसी दास जन कवि के रूप म भी ख्यात है। इन्होने बनारसी विलास' म अलकरो का विवेचन किया है। इनका एक गद्य-ग्रथ और उपलब्ध है— वचनिका की अनुगति। इसकी शली विवचनात्मक एव गम्भीर है जसे— अनन्त जीव द्रव्य सपिंडं कम जाननें। एक जीव द्रव्य अनन्त पुग्गल द्रव्य करि सयाजित मानन। ताको ब्यौरो अन्य-अन्य रूपजीव द्रव्य ताकि परनति अन्य-अन्य रूप पुद्गल की परनति। वस्तुत इनका विषय जितना गूढ है शली उतनी स्पष्ट नही है। इसी प्रकार अन्य ग्रन्थो की भी शली अस्पष्ट और शिथिल है।

ब्रज भाषा-गद्य के अन्य मौलिक ग्रन्थो म व्यास का 'शकुन विचार' वष्णवदास का 'भक्त-माल प्रसग' मीनराज प्रधान का हरतालिका कथा' कवि महेश का हम्मीर रासो आदि उल्लेखनीय हैं। ये सभी अठारहवा शती म रचित हैं तथा इनम स अनेक गद्य-पद्य मिश्रित हैं। शली की दष्टि स भी ये अविकसित एव शिथिल हैं। जसे 'शकुन विचार' की शली द्रष्टव्य है—'सुन मा पृच्छक ताहि शकुन को आधीन एक बार होइगा प जो मन चाहि है सा तेरो काज होइगो।

अस्तु, इन ग्रन्थो का न तो विषय विवचन की दृष्टि स महत्त्व है और न ही साहित्यिकता एव शली की दष्टि स ही। इनकी अपेक्षा वल्लभ-सम्प्रदाय का वार्ता-साहित्य अधिक महत्त्वपूर्ण है।

(ख) टीका-साहित्य—विभिन्न साहित्यिक धार्मिक तथा अन्य प्रकार के ग्रन्थो की टीकाओ क रूप म लिखित गद्य रचनाएँ ब्रज भाषा म बडी भारी सख्या म मिलती हैं। इनम स प्रमुख रचनाओ का यहाँ नामावली मात्र प्रस्तुत की जाती है—(१) नखशिख का टीका टीकाकार—श्री गोपाल (१७वी शताब्दी ई०) (२) हित चौरासी की टीका' प्रेमदास कृत। (३) भुवन दीपिका सटीक ल्लक अज्ञात, १६१८ ई०।

(४) 'रस रहस्य' सटीक, कुलपति मिश्र (१७वा शती)। (५) भागवत की टीका', वृष्णदेव मायुर १७वा शती। (६) बिहारी सतसई' की टीका, राधाकृष्ण चौब, १७वा शती। (७) भाषामत', भगवानदास (१७वा १८वी शती)। (८) 'कवि-प्रिया तिलक और बिहारी सतसई की टीका अमर चद्रिका सूरति मिश्र (१८वा शती)। (९) अलकार रत्नाकर, दल्पतिराय तथा वशीधर। (१०) हित चारासी' तथा भक्तमाल' की टीकाएँ प्रियादास। (११) बिहारी सतसइ की टीका, रघुनाथ।

टीकाकारा का लक्ष्य मूल विषय की व्याख्या करना मात्र था, किन्तु इसम उह प्राय सफलता नहा मिली है। अधिकाश टीकाकारा की शैला अस्पष्ट, प्रवाहशून्य एव शिथिल है।

(ग) अनूदित ग्रन्थ—ब्रज भाषा-गद्य म सस्कृत तथा अन्य भाषाआ स अनूदित ग्रन्थ भी बहुत बडी सख्या म उपलब्ध होते हैं। इनम से प्रमुख ग्रथा का उल्लेख यहा अनुवादक एव अनुवाद-काल के सहित किया जाता है—(१) नासकेतु पुराण' नददास १७०० ई० (२) मार्कण्डेय पुराण', दामोदार दास, १६५८ ई० (३) 'भाषामत' (श्रीमद्भागवद गीता का अनुवाद), भगवानदास १७०० इ० (४) श्रीमद्भागवद् गीता का अनुवाद आनन्द राय, १७०४ ई० (५) 'बताल-पचीसी' सूरति मिश्र, १७११ ई० (६) बीस उपनिषद् भाष्या के अनुवाद, अनुवादक अज्ञात १७२० ई० (७) हितोपदेश', दवीचद, १७४० ई० (८) दशनी निणय' (वदात सम्बधी दशन), मनोहरदास निरजनी, १७५६ ई० (९) सिद्ध सिद्धान्त-पद्धति', अनुवादक अज्ञात, १९वी शती। इनके अतिरिक्त वद्यक शास्त्र के तथा अन्य शास्त्रीय ग्रथा के भी कुछ अनुवाद मिलते हैं जसे—माधव निदान' (चदसेन मिश्र १६१२ ई०), 'ग्रथ-सजीवन (आलम १७वा शती), वद्यक ग्रन्थ की भाषा' (अतराम, १७९७ ई०) आदि।

इन अनुवाद-ग्रथा की भाषा-शैली पूर्वोक्त टीकाआ की अपेक्षा अधिक सशक्त एव प्रवाहपूर्ण है, यथा—अहो विप्रनदि राजा जनमजय नामकेतु पुराण ही कृतारथ है। जसे कोइ प्राणी एकाग्र चित्त द करि सुरम पढ जा पारगामी होय, जम राजा जनमजय पार होत भया और सहस्र गऊ दिये के फल होय। (नासकेतु पुराण नददास कृत)

अस्तु, ब्रज भाषा म गद्य-साहित्य मात्रा की दृष्टि स तो पर्याप्त है तथा उसका विषय-क्षेत्र भी विविध है किन्तु साहित्यिकता एव कलात्मकता की दृष्टि से वह उच्च कोटि का नहा है। उसकी रचना धार्मिक दार्शनिक एव शास्त्रीय ग्रन्था क विचारा का समझने-समझाने की दृष्टि स ही हुई है लालित्य की प्ररणा उसक मूल म प्राय दृष्टि-गोचर नहा होती।

४ खडीबोली का प्रारम्भिक गद्य—(क) दक्खिनी का गद्य—जसा कि अन्यत्र खडीबोली-पद्य पर विचार करते समय स्पष्ट किया गया है खडी-बोली के साहित्य का उद्भव एव विकास प्रारम्भ म दक्षिण के अनेक मुस्लिम राज्या के आश्रय म हुआ। खडी-बोली गद्य का भी प्रारम्भिक रूप दक्खिनी-साहित्य म मिलता है। दक्षिण के साहित्यकारा ने अपनी भाषा को हिन्दी हिन्दवी दक्खिनी दहल्वी जबान हिन्दुस्तान आदि कई नामो से पुकारा है किन्तु वस्तुत वह खडीबोली का ही प्रारम्भिक रूप है। दक्षिण के

गद्य लेखकों में ख्वाजा बंदे नवाज गेसूदराज, शाह मीराँजी शम्सुल उश्शाक, शाह बुरहानुद्दीन जानम, अमानुद्दीन आला, मुल्ला वजही आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ख्वाजा बंदे नवाज गेसूदराज (१३४९-१४२३ ई०) का जन्म दिल्ली में हुआ था किन्तु इनका जीवन दक्षिण में दौलताबाद एवं गुलबर्गा में व्यतीत हुआ। इन्होंने लगभग पंद्रह ग्रंथ फारसी अरबी में तथा तीन ग्रंथ दक्षिणी या खड़ीबोली में लिखे। इनके दक्खिनी के ग्रंथ ये हैं—(१) मेराजुल आशकीन (२) हिदायतनामा और (३) रिसाला सेहवारा या बारहमासा। मेराजुल आशकीन इनकी पहली रचना मानी जाती है तथा चौदहवीं शती की रचना होने के कारण इसका ऐतिहासिक महत्व भी है। यह १० पृष्ठों की एक छोटी सी रचना है जिसमें सूफी धर्म के उपदेश दिये गए हैं। इसकी भाषा-शैली का एक नमूना प्रस्तुत है—"कौल नबी अलै उस्सलाम, बंदे इंसान के बूजन कों (कूं) पाँच तन हर एक तन कों पाँच दरवाजे हैं होर पाँच दरबान हैं। पैला तन वाजिबुल वजूद मुकाम उसका नासूती नफ्स उसका अम्मारः यानी वाजिब के आँकसूं (सूं) गैर न देखना सो हिर्स के कान गैर न सुनना सो।" इसकी शैली पर फारसी का प्रभाव परिलक्षित होता है। बंदे नवाज की अन्य रचनाएँ भी धर्मोपदेश सम्बन्धी हैं।

दक्खिनी गद्य की अन्य रचनाओं में 'शरहमरगूबउल्कलूब' (शाह मीराँजी १५वीं शती), 'इरशादनामा' (शाह जानम १४५४-१५८३ ई०), 'रिसाला गुफ्तार शाह अमीन' (अमीनुद्दीन आला, मृत्यु १६७५ ई०), 'सबरस' (मुल्ला वजही १६०५-१६६० ई०) आदि उल्लेखनीय हैं। इनका विस्तृत परिचय 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में द्रष्टव्य है। यहाँ संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ये रचनाएँ चौदहवीं शती से लेकर सत्रहवीं शती तक की खड़ीबोली के विकास क्रम को स्पष्ट करती हैं। यद्यपि इन सभी का मूल लक्ष्य सूफी सिद्धान्तों का प्रतिपादन है किन्तु समय के साथ-साथ इनकी भाषा क्रमशः अधिकाधिक शक्ति सम्पन्न होती गई है। बंदे नवाज, मीराँजी, जानम, आला, वजही आदि की भाषा-शैली का तुलनात्मक अध्ययन इस तथ्य को स्पष्ट करता है। वजही के अनन्तर भी अब्दुस्समद (१६५१), हुसनी (१६७०), शाह बुरहानुद्दीन कादरी (१६७३), मुहम्मद शरीफ (१७००) आदि लेखकों ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया किन्तु अठारहवीं शती में इसका स्थान उर्दू ने ले लिया जिससे इसका विकास दक्षिण में अवरुद्ध हो गया।

(ख) उत्तरी भारत में खड़ीबोली गद्य का विकास—उत्तरी भारत में खड़ीबोली गद्य की परम्परा का सूत्रपात सत्रहवीं-अठारहवीं शती से होता है। उत्तरी भारत की परम्परा के विकास में दक्षिणी परम्परा ने कितना योग दिया है, इसका स्पष्टीकरण अभी तक नहीं हो सका, किन्तु उत्तर एवं दक्षिण दोनों पर ही मुगल शासकों का अधिकार होने के कारण यह स्वीकार किया जा सकता है कि दोनों में राजनीतिक सम्बन्धों के साथ-साथ साहित्यिक सम्पर्क भी रहा होगा तथा इस तरह इनमें साहित्यिक परम्पराओं का भी आदान-प्रदान होना सम्भव है।

उत्तरी भारत की खड़ीबोली की प्राचीनतम गद्य रचना के रूप में अब तक प्रसिद्ध कवि गंग की 'चंद छंद बरनन की महिमा' (रचनाकाल सत्रहवीं शती) का उल्लेख किया

जाता है। इसकी शैली का एक नमूना इस प्रकार है—'इतना सुन के पातसाहिजी श्री अकबर साहिजी आद सेर सोना नरहरदास चारन को दिया। इनके डेढ सेर सोना हो गया। इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है।

अठारहवीं शताब्दी की दो महत्त्वपूर्ण गद्य रचनाएँ 'भाषा योग वासिष्ठ' (१७४१ ई०) एवं 'पद्म पुराण' (१७६१ ई०) हैं। इनमें से पहली रचना के रचयिता पटियाला के राज्याश्रित कथावाचक रामप्रसाद निरंजनी थे तथा दूसरी के मध्यप्रदेश के निवासी पं० दौलतराम थे। दोनों ही पुस्तकें अनूदित हैं। भाषा शैली की दृष्टि से 'योग वासिष्ठ' दूसरी की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ है।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हिन्दी गद्य के क्षेत्र में एकाएक चार उच्चकोटि के गद्य लेखक अवतरित हुए।—मुंशी सदासुखलाल, इंशा अल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र। मुंशी सदासुखलाल (१७४६-१८२४ ई०) दिल्ली के निवासी थे तथा उर्दू फारसी के भी विद्वान एवं साहित्यकार थे। खड़ीबोली में उन्होंने 'विष्णु पुराण' के आधार पर 'सुख सागर' नामक ग्रन्थ का निर्माण किया जो शैली की दृष्टि से प्रौढ़ है। उदाहरणार्थ यहाँ एक नमूना प्रस्तुत है— इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं, आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चांडाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरन्त ही ब्राह्मण से चांडाल होता है। यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहना चाहिए कोई बुरा माने कि भला माने। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इनकी भाषा शैली की मीमांसा करते हुए ठीक लिखा है कि 'उन्होंने हिन्दुओं की बोलचाल की जो शिष्ट भाषा चारों ओर—पूरबी प्रान्तों में भी—प्रचलित पाई उसी में रचना की। स्थान-स्थान पर शुद्ध तत्सम संस्कृत शब्दों का प्रयोग करके उन्होंने उसके भावी साहित्यिक रूप का पूर्ण आभास दिया। यद्यपि वे खास दिल्ली के रहनेवाले अहले जबान थे, पर उन्होंने अपने हिन्दी गद्य में कथावाचकों, पंडितों और साधु-संतों के बीच दूर-दूर तक प्रचलित खड़ी बोली का रूप रखा जिसमें संस्कृत शब्दों का पुट भी बराबर रहता था।

इंशा अल्लाखाँ (मृत्यु १८१८ ई०) उर्दू के प्रसिद्ध शायर थे, किन्तु उन्होंने अपनी उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी (लगभग १८०३ ई०) की रचना में विशुद्ध हिन्दवी' के प्रयोग का प्रयास किया है। स्वयं उन्होंने भी इस तथ्य का निर्देश करते हुए लिखा है—एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिंदवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो। हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस जैसे भले लोग—अच्छों से अच्छे—आपस में बोलते चालते हैं, ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँव किसी की न हो।' यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि इंशा ने 'हिन्दवीपन' और 'भाखापन' को अलग-अलग या परस्पर-विरोधी माना है। जैसा कि आचार्य शुक्ल ने स्पष्ट किया है इंशा का 'भाखापन' से तात्पर्य संस्कृत मिश्रित हिन्दी से है। 'बाहर की बोली' से भी इंशा का तात्पर्य कदाचित् अरबी फारसी और तुर्की से था। अस्तु, इंशा ने अपने समय के तथा अपने वर्ग के सुसभ्य समझे

जानेवाले लोगो की भाषा को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, यह दूसरी बात है कि वे अपने संस्कारो के कारण उर्दू-फारसी के प्रभाव से सर्वथा मुक्त न रह सके। विशेषत उनका वाक्य विन्यास फारसी से प्रभावित है। उनकी शैली का एक नमूना द्रष्टव्य है— तुम्हारी जो कुछ अच्छी बात होती तो मेरे मुह से जीते जी न निकलती पर यह बात मेरे पेट मे नही पच सकती। तुम अभी अल्हड हो तुमने अभी कुछ देखा नहा। जो ऐसी बात पर सचमुच ढलाव देखूगी तो तुम्हारे बाप से कहकर वह भभूत, जो वह मुआ निगोडा भूत मुछदर का पूत अवधूत दे गया है हाथ मुरकवाकर छिनवा लूगा। इशा ने अपनी शैली को रोचक एव आकर्षक बनाने के लिए मुहावरो के साथ बीच-बीच मे तुकान्त गद्य का भी प्रयोग किया है यथा एक ओर इस प्रकार के मुहावरो की बहार है— जैसा मुह वैसा थप्पड छाती के किवाड खुलना हिचर मिचर न रह' आठ-आठ आसू रोना, सिर मुडाते ही ओले पडना आदि—तो दूसरी ओर इस प्रकार की पक्तियाँ भी मिलती हैं— रानी को बहुत सी बकली थी। क्व सूझती कुछ बुरी भली थी। चुपके चुपके कराहती थी। जीना अपना न चाहती थी। अस्तु इसमे कोई सदेह नहा कि इशा ने इस कृति की रचना विशुद्ध कलात्मक प्रेरणा से की थी इसी से इसमे चमत्कार प्रदर्शन कहा कही आवश्यकता से अधिक हो गया।

लल्लूलाल (१७६३ १८२५) आगरे के रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे तथा इन्हे संस्कृत के विशेष ज्ञान के साथ उर्दू का भी थोडा-बहुत ज्ञान था। फोर्ट विलियम कालेज मे इनकी नियुक्ति १८०२ ई० के आरम्भ मे हुई थी तथा इसमे वे सम्भवत १८२३ या उसके कुछ बाद तक कार्य करते रहे। इनके द्वारा रचित ग्रन्थो की सूची इस प्रकार है— १ सिहासन बत्तीसी (१८०१) २ बैताल पच्चीसी (१८०१) ३ शकुन्तला नाटक (१८०१) ४ माधोनल (१८०१) ५ राजनीति (१८०२) ६ प्रेम-सागर (१८१० ई०) ७ लतायफ-इ हिन्दी (१८१०) ८ ब्रजभाषा-व्याकरण (१८११) ९ सभा विलास (१८१५) १० माधव विलास (१८१७) ११ लाल चद्रिका (१८१८)। ये सभी ग्रन्थ अन्य ग्रन्थो के आधार पर रचित है। ब्रजभाषा-व्याकरण के अतिरिक्त कोई भी पूर्णत मौलिक नही है। भाषा की दृष्टि से इनमे से तीन— राजनीति माधव विलास और लाल चद्रिका ब्रज भाषा के अन्तर्गत आते है जबकि शेष का सम्बन्ध खडीबोली से है। इनमे भी शुद्ध खडीबोली की रचना प्रेम सागर ही है शेष उर्दू फारसी से प्रभावित है। प्रेमसागर' की भाषा का एक नमूना प्रस्तुत है— महाराज ! जब ऐसे समझाय बुझाय अक्रूरजी ने कुन्ती से कहा तब वह सोच समझ चुप हो रही औ इनको कुशल पूछ बोली—कहो अक्रूरजी ! हमारे माता पिता औ भाई बधु सब कुटुब समेत भले हैं औ श्री कृष्ण बलराम कभी अपने पाचो भाइयो की सुध करते है ? वस्तुत प्रेमसागर की भाषा पर कथावाचको की शैली का पर्याप्त प्रभाव है तथा उसमे स्थान-स्थान पर ब्रज भाषा के प्रयोग मिलते हैं यथा— सन्मुख जाय भाइ भइ जात भये जान दीजे जब तब'। कहा-कहीं तुक मिलान का प्रयास भी मिलता है जैसे— मैने ब्रज औ द्वारिका की लीला गाई—वह है सबकी सुखदाई। जो जन इसे प्रेम सहित गावेगा—सो नि सदेह भक्ति-मुक्ति पदारथ पावेगा। शब्द रूपो की अस्थिरता इसमे

मिलती है एक ही शब्द के अनेक रूप इसमे मिलते है—पिरथी, पृथ्वी, प्रथिवी, पृथ्वी, कम करम मझ मुज मुझे आदि। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने इसकी भाषा का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए इसके सम्बन्ध मे ठीक लिखा है— सम्यक दृष्टि से विचार करने पर 'प्रेमसागर' की भाषा मे माधुर्य और सरसता है काव्याभास है, लेकिन वाक्य रचना मे सुसबद्धता नही है। प्रत्येक वाक्य अपनी-अपनी ध्वनि अलग-अलग उत्पन्न करता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' की रचना प्रचार की दृष्टि से नही, वरन पाठ्य पुस्तक के रूप मे की थी। इसलिए उसमे कृत्रिमता, शिथिलता और अव्यावहारिकता का आ जाना कोई आश्चर्यजनक बात नही है। उस पर भी वह ब्रज भाषा के प्राचीन ग्रथ पर आधारित है। लल्लूलाल ने गद्य को अधिक से अधिक ग्राह्य बनाने, उसकी अभिव्यजनात्मक शक्ति को बढाने और उसमे चमत्कार लाने की चेष्टा अवश्य की है किन्तु उन्हे इस कार्य मे अधिक सफलता नही हुई (मिली)।

सदल मिश्र (१७६८ १८४८ ई०) मूलत बिहार निवासी थे। इन्होने भी उपर्युक्त कॉलेज मे रहते हुए दो महत्त्वपूर्ण कृतिया प्रस्तुत की—(१) 'चद्रावती' या 'नासिकेतोपाख्यान (१८०३) और (२) रामचरित्र (१८०५ ई०)। ये दोनो रचनाएँ क्रमश सस्कृत की नचिकेत कथा एव 'अध्यात्म रामायण' पर आधारित हैं। स्वय लेखक ने भी इस सम्बन्ध मे पहली कृति मे स्वीकार किया है— महाप्रतापी वीर नृपति कपनी महाराज' के राज मे खडीबोली मे की क्योकि देववाणी मे कोई समझ नही सकता।' नासिकेतोपाख्यान छोटी सी रचना है जिसमे नासिकेत उत्पत्ति से यमलोक-यात्रा तक का विवरण प्रस्तुत है तथा अन्त मे आत्म ज्ञान की चर्चा की गई है। दूसरी रचना— राम चरित्र' लगभग ३२० पृष्ठो की है जो सात काडो मे विभक्त है। इसकी रचना का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए लेखक ने इसे जान गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से रचित बताया है। उनके शब्दो मे—सस्कृत की पोथियो भाषा करने को महाउदार सकल गुण निधान मिस्तर जान गिल्क्रस्त साहब ने ठहराया और एक दिन आज्ञा की कि अध्यात्म रामायण को ऐसी बोली मे करो जिसमे फारसी अरबी न आवे, तब मैं इसको खडीबोली मे करने लगा। इनसे लेखक की भाषा-नीति पर भी प्रकाश पडता है।

जहाँ तक गद्य-शैली का सम्बन्ध है सदल मिश्र को अधिक सफलता नही मिली। उनकी भाषा न केवल शिथिल दोषपूर्ण एव प्रवाह-शून्य है, अपितु उस पर प्रान्तीय भाषाओ का—विशेषत बिहारी का—भी गहरा प्रभाव है—एक ओर उसमे गाछ, कादती जौन-जौन जसे शब्द मिलते है तो दूसरी ओर उसमे फूलन्ह के बिछौने चहुँ दिस, स्मरण किए में विनती किया' सेवा मे बाधा करने चाहता है' सूझने नही सकता है जसे अशुद्ध प्रयोग मिलते है।

ईसाई प्रचारको का योगदान—ईसाई प्रचारको ने भी हिन्दी गद्य के निर्माण मे पर्याप्त योग दिया है। उन्होने अपने मत का प्रचार करने के लिए अपने धार्मिक ग्रन्थो के अनुवाद व्याख्यान लेख तथा पाठ्य-पुस्तकें हिन्दी मे प्रस्तुत की जिनसे अप्रत्यक्ष मे हिन्दी-गद्य की सेवा हुई। सन् १७९८ ई० मे कलकत्ते के समीप १५ मील दूर पर श्री रामपुर मे ईसाई प्रचारको का एक सुदृढ केन्द्र स्थापित हुआ। आगे चलकर इन सस्था ने

अपना मुद्रण-यंत्र भी स्थापित कर लिया जिससे अनेक पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हुई। इनके द्वारा कलकत्ता और आगरा में स्कूल-बुक-सोसायटी की भी स्थापना हुई जिसके द्वारा विभिन्न विषयों पर पाठ्य-पुस्तकें तैयार की गई। विदेशी पादरियों ने इस कार्य में अनेक भारतीय लेखकों का भी सहयोग प्राप्त किया तथा उन्हें गद्य लेखन में प्रवृत्त किया। इन संस्थाओं के द्वारा १८३८ से १८५७ ई० के बीच में विभिन्न विषयों पर शताधिक पुस्तकें प्रकाशित हुई। अंकगणित ज्यामिति इतिहास भूगोल अर्थ शास्त्र समाज शास्त्र विज्ञान, चिकित्सा राजनीति कृषि-कर्म ग्राम शासन शिक्षा यात्रा, नीति धर्म ज्योतिष दर्शन अंग्रेजी राज्य, व्याकरण कोश आदि सभी प्रमुख विषयों पर इनके द्वारा सरल एवं लोकोपयोगी पुस्तकें प्रकाशित हुई। अस्तु ईसाई प्रचारकों ने गद्य शैली के विकास की दृष्टि से भले ही विशेष सफलता प्राप्त न की हो किन्तु हिन्दी गद्य को विषय विस्तार प्रदान करने एवं गद्य-लेखन के प्रयासों को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इसकी गद्य शैली में एकरूपता एवं शुद्धता का अभाव अवश्य खटकता है। कहीं वे ब्रज भाषा से प्रभावित हैं तो कहीं उर्दू से। इनमें कहीं-कहीं अत्यन्त दूषित एवं हास्यास्पद प्रयोग भी मिलते हैं जैसे 'परमेश्वर ने हमको डरपोकपना आत्मा नहीं दिया' 'बालक ऐसा मूर्छा हो गया' आदि पर विदेशी प्रचारकों की भाषा-सम्बन्धी कठिनाइयों को देखते हुए इसे स्वाभाविक कहा जा सकता है। जब स्वयं भारतीयों की शैली ही अभी तक निश्चित नहीं हो पाई थी तो ऐसी स्थिति में विदेशियों के तत्त्व में लिखित गद्य एकरूपता से शून्य हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। अतः इनका प्रयास प्रशंसनीय है।

ब्राह्म समाज का योग-दान—हिन्दी गद्य के विकास में बंगाल के राजा राममोहनराय एवं उनके द्वारा स्थापित ब्राह्म-समाज का भी योग-दान है। राजा राममोहनराय ने १८१५ ई० में वेदान्त-सूत्र का हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित करवाया तथा आगे चलकर १८२० ई० में एक पत्रिका 'बंगदूत' भी हिन्दी में निकाली। यद्यपि राजा साहब की भाषा पर बंगला का थोड़ा प्रभाव रहता था किन्तु फिर भी उनकी शैली पर्याप्त प्रवाहपूर्ण है। बंगाली होते हुए भी उन्होंने हिन्दी को अपनाकर अपनी व्यापक राष्ट्रीयता का भी परिचय दिया है। भारत राष्ट्र की भाषा हिन्दी ही हो सकती है इस तथ्य को राजा साहब ने आज से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व ही ग्रहण कर लिया था जो उनकी व्यापक दृष्टि एवं दूरदर्शिता का प्रमाण है।

पत्र-पत्रिकाएँ—सन् १८२६ ई० में कानपुर के पं० युगलकिशोर शुक्ल के संपादकत्व में हिन्दी का प्रथम पत्रिका 'उदन्त मार्तण्ड' प्रकाशित हुई जो साप्ताहिक थी। इस पत्रिका का लक्ष्य विभिन्न विषयों का ज्ञान प्रदान करना था अतः इसमें राजनीतिक ऐतिहासिक भौगोलिक व्यापारिक आदि विविध विषयों का समावेश रहता था। पर यह पत्रिका क्रमशः एक वर्ष बाद बन्द हो गई। इसके अनन्तर अनेक पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं जिनमें कुछ का विवरण इस प्रकार है—'बनारस अखबार' (काशी से राजा शिवप्रसाद के संपादकत्व में १८४५ ई०) 'सुधाकर' (काशी से बाबू तारामोहन मित्र के संपादकत्व में १८५० ई०) 'बुद्धि प्रकाश' (आगरा से मुन्शी सदासुखलाल के द्वारा १८५२ ई० में)।

इनके अतिरिक्त और भी कई पत्र निकले, यथा— 'विद्यादर्श (मेरठ), 'धर्म प्रकाश' (आगरा) 'ज्ञान दीपिका' (सिकन्दराबाद) 'वृत्तान्तदर्पण' (आगरा), 'भारत खंड अमृत' (आगरा), 'ज्ञान प्रदायिनी पत्रिका' (लाहौर) आदि।

इन पत्र-पत्रिकाओं में खड़ीबोली का प्रयोग होता था तथा इनके द्वारा विभिन्न प्रकार के व्यावहारिक विषयों पर गद्य-लेखन की परम्परा को पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक काल के आरम्भ (१८५७ ई०) से पूर्व ही गद्य के क्षेत्र में खड़ीबोली की प्रतिष्ठा सम्यक रूप में हो गई थी तथा प्रायः सभी वर्गों के विद्वानों एवं लेखकों ने इस क्षेत्र में खड़ीबोली को ही पूर्णतः मान्यता दे दी थी। यद्यपि अभी तक खड़ीबोली का पूर्ण परिष्कार होना बाकी था, किन्तु उसकी स्थापना भली-भांति हो चुकी थी, राजस्थानी, ब्रज आदि भाषाओं का गद्य खड़ीबोली के गद्य की तुलना में सर्वथा पिछड़ गया था।

आधुनिक काल में खड़ीबोली के गद्य का विकास

आधुनिक काल के आरम्भिक गद्य-लेखकों में दो व्यक्तियों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है—१ राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' और २ राजा लक्ष्मणसिंह। राजा शिवप्रसाद (१८२३ १८९५ ई०) ने १८४५ ई० में बनारस से 'बनारस अखबार' निकाला जिसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। आगे चलकर सन् १८५६ ई० में उनकी नियुक्ति सरकारी शिक्षा विभाग में इन्स्पेक्टर के पद पर हो गई। इस पद पर रहते हुए उन्होंने पाठ्य पुस्तकों के अभाव की पूर्ति के लक्ष्य से विभिन्न विषयों की पुस्तकें हिन्दी में लिखीं। प्रारम्भ में उन्होंने परिष्कृत हिन्दी का प्रयोग किया किन्तु सरकारी अधिकारियों के प्रभाव से उनका झुकाव उर्दू या उर्दू मिश्रित हिन्दी की ओर हो गया, अतः आगे चलकर वे उर्दू के ही पक्षपाती हो गए। जहाँ उनके प्रारम्भिक ग्रंथों 'मानव धर्म-सार', 'योग वाशिष्ठ के चुने हुए श्लोक' 'उपनिषद-सार', 'भूगोल-हस्तामलक' 'वामा मन रंजन' 'आलसियों का कोड़ा' 'विद्यांकुर', 'राजा भोज का सपना', आदि की भाषा संस्कृत मिश्रित हिन्दी है वहाँ परवर्ती ग्रंथों—'इतिहास तिमिर नाशक' 'बैताल-पचीसी' आदि—की भाषा उर्दू है।

राजा लक्ष्मणसिंह (१८२६ १८९६ ई०) विशुद्ध हिन्दी के समर्थक थे अतः उन्होंने राजा शिवप्रसाद की उपर्युक्त भाषा-नीति का विरोध करते हुए स्पष्ट शब्दों में घोषित किया कि हिन्दी और उर्दू दो न्यारी-न्यारी बोलियाँ हैं तथा यह आवश्यक नहीं कि अरबी फारसी के शब्दों के बिना हिन्दी न बोली जाय। अपने इसी दृष्टिकोण के अनुरूप उन्होंने कालिदास के अनेक ग्रंथों—'मेघदूत', 'शकुन्तला' 'रघुवंश' आदि—का अनुवाद हिन्दी में प्रस्तुत किया। इनमें उन्होंने गद्य को खड़ीबोली में तथा पद्य को ब्रजभाषा में प्रस्तुत किया है। उनकी गद्य-शैली पर भी ब्रजभाषा का किंचित प्रभाव परिलक्षित होता है— यथा—

फिर भी एक बेर प्यारी ने मेरी निज्या को ओर आमू भरे नेत्रों में देखा। अब वही दृष्टि मेरे हृदय को विष की बुझी भाल के समान छेदती है। ('शकुन्तला' नाटक, १८६१ ई०)।

वस्तुत इनकी भाषा काव्य के अधिक उपयुक्त है बौद्धिक विवेचन की क्षमता का उसमे अभाव है।

आर्य समाज की हिन्दी सेवा—सन् १८७५ ई० मे स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-८३ ई०) की प्रेरणा से महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्था 'आर्य समाज' की स्थापना हुई जिसके द्वारा धर्म समाज शिक्षा एवं साहित्य के क्षेत्र मे क्रान्ति हुई। आर्य-समाज के नेताओ ने धर्म और समाज के क्षेत्र मे प्रचलित रूढ़ियो अन्ध विश्वासो पाखण्डो आदि का खंडन करके धर्म और सदाचार के शुद्ध रूप को प्रकाशित किया। इससे भारतीय समाज मे जागृति की एक नई लहर और बौद्धिक चेतना की एक नई उद्दीप्ति आयी, जिसका प्रभाव साहित्य और भाषा पर भी पड़ना स्वाभाविक था। जैसा कि हमने अन्यत्र प्रतिपादित किया है बौद्धिक चेतना का गद्य से सीधा सम्बन्ध है। जब भी किसी व्यक्ति या समाज के द्वारा विचार विमर्श तर्क वितर्क एवं चिन्तन मनन के बौद्धिक प्रयास होते हैं, तो उस स्थिति मे उसकी अभिव्यक्ति मे गद्य के तत्त्वो का आविर्भाव सहज ही हो जाता है। आर्य-समाज भक्ति-आन्दोलन की भांति भावात्मकता पर आश्रित आन्दोलन नही था अपितु वह बौद्धिकता पर आधारित था अत उसके नेताओ के द्वारा अत्यन्त सशक्त गद्य का प्रयोग हुआ। स्वामी दयानन्द स्वय गुजराती थे तथा संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे फिर भी उन्होने हिन्दी के राष्ट्रीय महत्त्व को स्वीकार करते हुए अपने अनेक ग्रन्थो की रचना हिन्दी मे ही की जिनमे 'सत्यार्थ-प्रकाश' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसका प्रथम संस्करण १८७५ ई० मे तथा द्वितीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण सन् १८८३ ई० मे प्रकाशित हुआ। यह ग्रथ चौदह समुल्लासो मे विभक्त है जिनमे वैदिक धर्म की व्याख्या के अनन्तर विभिन्न वेद विरोधी धर्म-सम्प्रदायो का खंडन किया गया है। इसकी शैली का एक नमूना द्रष्टव्य है—"जो सब बातें पोप-लीला के गपोड़े है। जो अन्यत्र के जीव वहाँ जाते हैं उनका धर्मराज चित्रगुप्त आदि न्याय करते हैं तो वे यमलोक के जीव पाप करें तो दूसरा यमलोक मानना चाहिए कि वहाँ के न्यायाधीश उनका न्याय करें और पर्वत के समान यमगणों के शरीर हों तो दीखते क्यों नहीं?" यह उनकी तर्कपूर्ण शैली का नमूना है। कहीं-कहीं उनकी शैली व्यंग्यात्मक भी हो जाती है यथा—"जैसे पहाड़ के बड़े-बड़े अवयव गरुड़ पुराण के बाँचने सुननेवालों के आँगन में गिर पड़ेंगे तो वे दब मरेंगे वा घर का द्वार अथवा सड़क रुक जायगी तो वे कैसे निकल और चल सकेंगे।" यद्यपि स्वामीजी के अन्य भाषा-भाषी होने के कारण उनकी शैली में कहीं-कहीं प्रयोग-शैथिल्य का अभाव है पर उनकी वैचारिक शक्ति के कारण उनकी शैली पर्याप्त सशक्त हो गई है।

आगे चलकर आर्य-समाज ने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं शास्त्रार्थों प्रवचनो उपन्यासो जीवन चरितो निबंधो अनुवाद-ग्रन्थो पाठ्य-पुस्तको उपन्यासो आदि के रूप में इतना साहित्य प्रस्तुत किया कि उसका पूरा लेखा-जोखा प्रस्तुत करना इस ग्रन्थ में संभव नहीं। इसका विवरण डा० लक्ष्मीनारायण गुप्त के शोध प्रबन्ध—'हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्य-समाज की देन' (१९६१ ई०) में देखा जा सकता है।

वस्तुत आर्य समाज ने गद्य की विभिन्न विधाओं एवं उसके विभिन्न माध्यमों को अपने प्रचार का साधन बनाते हुए हिन्दी गद्य-साहित्य की उन्नति में पर्याप्त योग दिया। उसने

न केवल संस्कृत की तत्सम शब्दावली को अपनाकर खड़ीबोली के शब्द भंडार में अभिवृद्धि की अपितु तर्कपूर्ण शैली का विकास करके उसे बौद्धिक विवेचन के भी उपयुक्त बनाया। गद्य के लिए जिस बौद्धिकता, तार्किकता, सूक्ष्मता एवं प्रवाहपूर्णता की अपेक्षा है वह आर्य समाजी साहित्य में प्रायः दृष्टिगोचर होती है अतः गद्य के विकास में इस आन्दोलन के योगदान को महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एवं अन्य लेखक—जिस समय स्वामी दयानन्द सरस्वती एवं उनके अनुयायी धर्म एवं समाज के क्षेत्र में सुधार-कार्य कर रहे थे, ठीक उसी समय हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र नयी क्रान्ति का सूत्रपात कर रहे थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५० १८८५ ई०) ने अपने अल्प जीवन-काल में ही हिन्दी गद्य के क्षेत्र में अद्भुत कार्य किया। एक ओर उन्होंने गद्य-शैली को परिमार्जित एवं परिष्कृत करते हुए उसका मार्ग निश्चित किया तो दूसरी ओर उन्होंने निबन्ध, नाटक, इतिहास समालोचना, संस्मरण, यात्रा विवरण आदि गद्य रूपों की परंपरा का प्रवर्त्तन किया। गद्य की विभिन्न विधाओं के क्षेत्र में भारतेन्दु के योग-दान का स्पष्टीकरण अन्यत्र तत्सम्बन्धी विवेचन करते समय किया जायगा यहाँ उनकी गद्य शैली की कतिपय विशेषताओं का संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा। *एक तो जैसा कि प्रारंभ में कहा गया है भारतेन्दु की गद्य-शैली अत्यन्त* व्यावहारिक एवं हिन्दी की मूल प्रकृति के अनुकूल है। उन्होंने न तो संस्कृत के तत्सम शब्दों का अनावश्यक रूप में प्रयोग किया और न ही उनका बहिष्कार किया। तत्सम एवं तद्भव शब्दों का प्रयोग उन्होंने यथोचित रूप में किया है। इसी प्रकार उर्दू-फारसी के शब्दों के प्रयोग में भी उन्होंने संतुलित दृष्टि का परिचय दिया है। विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों तथा ब्रजभाषा के अनुपयुक्त प्रयोगों से भी उनकी भाषा मुक्त है। दूसरे, उन्होंने विषयवस्तु, भाव विशेष एवं रूप विशेष के अनुसार विभिन्न प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया है। जहाँ प्रणय विरह एवं शोक के प्रसंग में उनकी शैली अत्यन्त कोमल एवं मधुर हो जाती है तो हास्य के क्षेत्र में वह चुलबुलेपन से युक्त हो जाती है। इसी प्रकार उनके नाटकों की शैली समीक्षात्मक लेखों की शैली से इतनी भिन्न है कि डा० श्यामसुन्दर दास को तो एक बार यहाँ तक भ्रम हो गया था कि उनका नाटक सम्बन्धी समीक्षात्मक लेख किसी और का लिखा हुआ है, क्योंकि उसकी शैली नाटकों की शैली से भिन्न है। वस्तुतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भाषा के मर्म को समझनेवाले प्रतिभाशाली लेखक थे तथा उसे विषय भाव एवं प्रसंग के अनुसार नये-नये रूपों में ढाल लेने की कला में सिद्ध हस्त थे अतः यदि उनकी यह सिद्धि कुछ व्यक्तियों की दृष्टि में चकाचौंध उत्पन्न कर दे तो आश्चर्य नहीं। वैसे देखा जाय तो न केवल उनके लेख एवं नाटकों की शैली में, अपितु विभिन्न नाटकों की शैली में भी पारस्परिक अन्तर दिखाई देगा, यथा यहाँ दो उद्धरण प्रस्तुत हैं—

(अ) हाय! प्यारे, हमारी यह दशा होती है और तुम तनिक नहीं ध्यान देते। प्यारे फिर यह शरीर कहाँ और हम-तुम कहाँ? हाय नाथ! मैं अपने इन मनोरथों को किसको सुनाऊँ और अपनी उमंग कैसे निकालूँ! प्यारे रात छोटी है और स्वाँग बहुत हैं।

—('चंद्रावली' नाटिका)

(आ) 'बात यह है कि एक कानवाल को फाँसी का हुकुम हुआ था। जब फाँसी देने को उसको ले गए तो फाँसी का फन्दा बड़ा हुआ क्योंकि कानवाल साहब दुबले हैं। हम लोगों ने महाराज से अर्ज किया इस पर हुक्म हुआ कि एक मोटा आदमी पकड़कर फाँसी दे दो क्योंकि बकरी मारने के अपराध में किसी न किसी को सजा होना जरूर है नहीं तो न्याय न होगा।

—(अंधेर नगरी)

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में से जहाँ पहले में एक भी उर्दू-फारसी का शब्द नहीं है वहाँ दूसरे में 'हुकुम' 'अर्ज' 'सजा' 'जरूर' जैसे अनेक उर्दू शब्द आये हैं। इस अन्तर का कारण दोनों के पात्रों, परिस्थितियों एवं भावों में अन्तर का होना है। एक का सम्बन्ध प्रणय निवेदन से है, जब कि दूसरे का सरकारी सिपाही की अनुशासनहीनता चर्चा से है। अतः प्रसंगानुसार भाषा में अन्तर आ जाना स्वाभाविक है।

भारतेन्दु-युग के अन्य लेखकों—प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, श्री निवासदास, राधाकृष्ण दास, सुधाकर द्विवेदी, कार्तिकप्रसाद खत्री, राधाचरण गोस्वामी, बद्रीनारायण चौधरी, बालमुकुन्द गुप्त, दुर्गाप्रसाद मिश्र, श्रद्धाराम फिल्लौरी, काशीनाथ, किशोरीलाल गोस्वामी, बिहारीलाल चौबे, तोताराम वर्मा, दामोदर शास्त्री प्रभृति ने भी हिन्दी गद्य के विकास में विभिन्न प्रकार से योग दिया। मूलतः हिन्दी भाषी न होते हुए भी हिन्दी-गद्य-लेखन को प्रोत्साहित करनेवाले इस युग के दो महान् व्यक्तियों में बंगाली बाबू नवीनचन्द्र राय (१८३७-१८९०) और इंगलैण्ड के फ्रेडरिक पिन्काट (१८३६-१८९६) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नवीनचन्द्र राय ब्राह्म-समाज के अनुयायी थे। उन्होंने हिन्दी में अनेक पाठ्य-पुस्तकों का प्रणयन किया तथा एक पत्रिका 'ज्ञान प्रदायिनी' भी १८६७ ई० में निकाली। उन्होंने पंजाब में हिन्दी का प्रचार-कार्य भी किया, जो पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। फ्रेडरिक पिन्काट महोदय भी हिन्दी के सच्चे हितैषी थे तथा उन्होंने हिन्दी में लेख लिखने एवं पत्रिकाएँ संपादित करने के अतिरिक्त अपने युग के भारतीय हिन्दी लेखकों को भी बहुत प्रोत्साहित किया। उन्होंने लन्दन में बैठे-बैठे ही हिन्दी पर अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के भी वे प्रशंसक थे। इस भारती भक्त का देहान्त भी भारत भूमि (लखनऊ में) हुआ, जबकि वे रीआ घास की खेती का प्रचार करने के लिए यहाँ आये हुए थे।

भारतेन्दु-युग के विभिन्न लेखक अपनी अपनी पत्रिकाएँ भी चलाते थे, जिससे वे सामयिक एवं ज्ञानवर्द्धक विषयों पर बराबर कुछ न कुछ लिखते रहते थे। कुछ लेखक सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों पर व्यंग्यपूर्ण लेख एवं नाटक भी लिखते थे। इससे गद्य शैली के विकास की गति में वृद्धि हुई। पर इस युग के लेखक मनमौजी, विनोदी एवं निरंकुश स्वभाव के भी थे, व्याकरण की शुद्धता एवं शब्द रूपों की एकता का उन्होंने बहुत कम ध्यान रखा। साथ ही व्यंग्यात्मक शैली का विकास अधिक हुआ, गंभीर विषयों में प्रवृत्ति कम होने के कारण विवेचनात्मक शैली अपेक्षाकृत कम विकसित हो पाई। वस्तुतः इन अभावों की पूर्ति परवर्ती युग में हुई, जिसकी चर्चा आगे की जायगी।

महावीरप्रसाद द्विवेदी एवं उनके सहयोगी—हिन्दी गद्य के क्षेत्र में नयी गति महावीर प्रसाद द्विवेदी (१८६४-१९३८ ई०) के प्रयासों से आई। वे सन् १९०० में 'सरस्वती' के संपादक नियुक्त हुए तथा इस पत्रिका के माध्यम से ही उन्होंने अपने युग के हिन्दी-साहित्यकारों का नेतृत्व करते हुए उनका ध्यान हिन्दी गद्य और पद्य की विभिन्न न्यूनताओं एवं त्रुटियों की ओर आकर्षित किया। जहाँ पद्य के क्षेत्र में उन्होंने खड़ी-बोली की प्रतिष्ठा के आन्दोलन को दृढ़ किया वहाँ गद्य के क्षेत्र में भाषा की शुद्धता, शब्द-रूपों की एकरूपता व्याकरण के दोष-परिष्कार आदि की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। गद्य के सम्बन्ध में उनकी भाषा-नीति के चार सूत्र इस प्रकार बताए जा सकते हैं—१ विषयानुकूल एवं जनता के अनुकूल सरल शुद्ध एवं प्रवाहपूर्ण शैली का प्रयोग करना। २ उर्दू एवं अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों को स्वीकार करना। ३ शब्द-रूपों एवं प्रयोगों को निश्चित रूप प्रदान करते हुए भाषा में एकरूपता लाना। ४ भाषा की अभिव्यंजना शक्ति की अभिवृद्धि के लिए संस्कृत के सरल एवं उपयुक्त तत्सम शब्दों, लोकोक्तियों एवं मुहावरों तथा अन्य भाषाओं के शब्दों को स्वीकार करना। इस नीति का न केवल उन्होंने स्वयं पालन किया, अपितु दूसरों से भी करवाया। उनके समय में विभिन्न लेखक एक ही शब्द को अनेक रूपों में प्रयुक्त करते थे, यथा—'इकलौता' 'एकलौता' 'इकलोता' कुटल्ता, कुटिल्ता, सिंघासन सिंहासन, हूवा, हुया हुआ आदि। कई लेखक व्याकरण की अशुद्धियाँ भी करते थे जैसे—'हमारे सतान', 'घी पड़ जाता है', 'बन्य है वह नयन', 'जन्म दिन पर' आदि। आचार्य द्विवेदी ने अपने विभिन्न लेखों में इन पर प्रकाश डालकर हिन्दी गद्य को एक परिष्कृत एवं सशक्त रूप प्रदान किया। गद्य शैली के परिष्कार के अतिरिक्त गद्य के विषय-क्षेत्र के विस्तार एवं विभिन्न रूपों के विकास के लिए भी उन्होंने अपने युग के साहित्यकारों को प्रेरित एवं उत्साहित किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्वयं भी साहित्यिक राजनीतिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक दार्शनिक, भौगोलिक विषयों को अपने निबन्धों में प्रस्तुत करके विषय विस्तार एवं गद्य-शैली का आदर्श प्रस्तुत किया। हिन्दी-समीक्षा के विकास में भी उनका योगदान है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी के समकालीन अन्य गद्य-लेखकों में डा० श्यामसुन्दरदास, माधवप्रसाद मिश्र चन्द्रधर शर्मा गुलेरी पद्मसिंह शर्मा, मिश्र-बन्धु बालमुकुन्द गुप्त अयोध्या सिंह उपाध्याय गोपालराम गहमरी गोविन्दनारायण मिश्र लाला भगवानदीन प्रभृति उल्लेखनीय हैं जिन्होंने गद्य के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य किया। इनकी सेवाओं की भी चर्चा अन्यत्र निबन्ध उपन्यास आदि के प्रसंग में की जायगी।

हिन्दी गद्य का प्रौढ़तम रूप—हिन्दी गद्य का प्रौढ़तम रूप महावीरप्रसाद द्विवेदी के परवर्ती युग में दृष्टिगोचर होता है। न केवल गद्य-शैली की दृष्टि से अपितु गद्य की विभिन्न विधाओं की दृष्टि से भी परवर्ती युग अत्यन्त समृद्ध एवं वैविध्यपूर्ण दिखाई पड़ता है। यद्यपि इस युग के समस्त गद्य-साहित्य का विस्तृत परिचय देना यहाँ संभव नहीं, किन्तु विभिन्न गद्य-रूपों के उच्चतम उन्नायकों का उल्लेख अवश्य किया जा सकता है जिससे गद्य की प्रगति का अनुमान लगाया जा सके।

गद्य की कसौटी निबन्ध है—इस दृष्टि से सर्वप्रथम निबन्ध-साहित्य को लिया जा

सकता है। इस क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की 'चिन्तामणि', आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'अशोक के फूल', डा० नगेन्द्र के 'आस्था के चरण', महादेवी वर्मा के 'अतीत के चल चित्र' को सर्वोत्तम उपलब्धियों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इनमें जहाँ विषय-वस्तु की व्यापकता, विचारों की गंभीरता एवं शैली की प्रौढ़ता दृष्टिगोचर होती है वहाँ साहित्यिक सौन्दर्य भी अपने पूर्ण वैभव के साथ दिखाई पड़ता है। कथा-साहित्य के क्षेत्र में सामाजिक समस्याओं के चित्रण की दृष्टि से मुंशी प्रेमचन्द, यशपाल, अमृतलाल नागर का, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा प्रभृति का तथा ऐतिहासिक दृष्टि से डा० वृन्दावनलाल वर्मा का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने अपने अपने क्षेत्र में आदर्श रचनाएं प्रस्तुत की हैं। आलोचना के क्षेत्र में डा० नगेन्द्र के 'रस सिद्धान्त' को सर्वोत्कृष्ट सैद्धान्तिक ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया जाता है तो व्यावहारिक एवं ऐतिहासिक समीक्षा के क्षेत्र में क्रमशः आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की साहित्य सर्वोत्तम उपलब्धि है। इसी प्रकार नाटक और एकांकी के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद, हरिकृष्ण प्रेमी, लक्ष्मीनारायण मिश्र, डा० रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट, मोहन राकेश, डा० लक्ष्मीनारायण लाल के योगदान पर गर्व किया जा सकता है। इसी प्रकार जीवनी, आत्मकथा, रेडियो रूपक, रेखाचित्र, गद्यकाव्य आदि के क्षेत्र में भी न्यूनाधिक मात्रा में कार्य हुआ है।

अस्तु, कहा जा सकता है कि यद्यपि खड़ीबोली गद्य की प्रतिष्ठा हुए अभी एक शताब्दी भी नहीं हुई, पर इस अल्पकाल में ही प्रत्येक दृष्टि से इसने जिस प्रकार प्रगति की है वह सचमुच आश्चर्यजनक है। वस्तुतः यह इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी एक ऐसी जीवित भाषा है जिसके बोलनेवालों में पर्याप्त प्रतिभा, अद्भुत कर्मठता एवं निरन्तर कार्य में लगे रहने की क्षमता है जिसके बल पर वह द्रुतगति से आगे बढ़ रही है। हाँ, स्वतन्त्रता के बाद अवश्य हम थोड़े शिथिल एवं व्यक्ति-केन्द्र हो गए हैं जिससे हमारे कार्य में वैसी निष्ठा एवं तत्परता दृष्टिगोचर नहीं होती जैसी कि पूर्ववर्ती उन्नायकों—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद प्रभृति—में दृष्टिगोचर होती थी, फिर भी हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का भविष्य उज्ज्वल है—यह बात गद्य साहित्य पर विशेष रूप से लागू होती है।

●

१६ | हिन्दी नाटक उद्भव और विकास

१ नाटक की मूलभूत प्रवृत्तियाँ
२ नाटक का उद्भव।
३ प्राचीन भारतीय नाटक साहित्य।
४ हिन्दी में नाटक-साहित्य—(क) मैथिली नाटक, (ख) राम-लीला नाटक, (ग) पद्यबद्ध नाटक, (घ) भारतेन्दु युगीन नाटक, (ङ) प्रसाद-युगीन नाटक, (च) प्रसादयुगोत्तर नाटक।

नाटक की उत्पत्ति के मूल म मनोवैज्ञानिकों ने मुख्यत चार मनोवृत्तियों को स्वीकार किया है—(१) अनुकरण की प्रवृत्ति, (२) पारस्परिक परिचय द्वारा आत्मविस्तार की वृत्ति (३) जाति या समुदाय की रक्षा की प्रवृत्ति और (४) आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति। ये चारों प्रवृत्तियाँ मानव हृदय म सहज स्वाभाविक रूप म ही विद्यमान हैं अत नाट्य-कला के उद्भव के लिए किसी विशेष बाह्य परिस्थिति पर विचार करना अनावश्यक प्रतीत होता है। फिर भी 'भारतीय-नाटक' की उत्पत्ति को लेकर स्वदेशी एव विदेशी विद्वानों म गहरा वाद विवाद हुआ है तथा उन्होंने इस सम्बन्ध म विभिन्न मत स्थापित किए हैं। डाक्टर रिजवे (Ridgeway) का मत है कि नाटक का उदय मृत-वीरों की पूजा म हुआ। उनके विचारानुसार प्रारम्भिक काल म मृत आत्माओं की प्रसन्नता के लिए गीत, नाटक आदि का आयोजन हुआ। प्रोफेसर हिलेब्रां (Hillebrandt) और प्रोफेसर कोनो (Konow) भारतीय नाटक का उदय लौकिक व सामाजिक उत्सवों से मानते हैं। उधर डा० पिशल (Pischel) भारतीय नाटकों का मूल लौकिक आधार मानते हुए कहते हैं कि नाटकों का उदय कठपुतलियों के नाच से हुआ। प्राचीन भारतवर्ष म कठपुतलियों का प्रचार अवश्य था, इनके प्रमाण गुणाढ्य की बृहत् कथा, महाभारत एव राजशेखरकृत बाल रामायण म मिलते हैं किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि कठपुतलियों से ही नाट्य-कला का विकास हुआ। कौन जानता है शायद कठपुतलियों के नाच का प्रचलन ही नाट्य-कला के अनुकरण पर हुआ हो! डा० गुलाबराय ने इन सब मतों की उपेक्षा की दृष्टि से देखते हुए लिखा है—'ये सब कल्पनाशील विद्वान् इस बात को भूल जाते हैं कि भारतवर्ष म धार्मिक सामाजिक और लौकिक क्रिया म ऐसा भेद नहीं है जैसा कि लोग समझते हैं। भारतवर्ष म धर्म मानव-जीवन का अंग है। इस देश का दुकानदार भी तो अपनी गोलक को महादेव बाबा की गोलक बताता है।' डाक्टर साहब के इस तर्क म बहुत बल है, अत लौकिक या धार्मिक क्रिया के वाद-विवाद म उलझना अनावश्यक है।

नाटक के उद्भव के सम्बन्ध में भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में एक कथा का उल्लेख किया है। उनके कथनानुसार देवताओं के प्रार्थना करने पर ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर पंचम वेद के रूप में नाट्य-वेद की रचना की। इसके लिए विश्वकर्मा ने नाट्यगृह बनाया और भरत ने प्रथम प्रयोग किया। यद्यपि यह प्रसंग विशुद्ध कल्पना पर आधारित है। किन्तु इससे दो तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है एक तो नाटक की उत्पत्ति धार्मिक ग्रन्थों की रचना के अनन्तर हुई और दूसरे नाटक के विभिन्न तत्व पूर्व से भारत वर्ष में विद्यमान हैं। अतः कोई आश्चर्य नहीं यदि भारत में नाट्य-कला का उदय भी उससे कुछ पूर्व ही हो गया हो।

कुछ विद्वान् भारतीय-नाटक को यूनानी नाट्य-कला की देन मानते हैं। उनके मतानुसार भारत में नाट्य-कला का विकास भारत पर यूनानियों (सिकन्दर) के आक्रमण के अनन्तर हुआ। ये लोग यूनानी प्रभाव के प्रमाण-स्वरूप 'यवनिका' शब्द का प्रयोग करते हैं। किन्तु इस मत का खंडन विभिन्न भारतीय विद्वानों द्वारा किया जा चुका है। 'यवनिका' शब्द यवन (यूनानी) शब्द से सम्बन्धित नहीं है अपितु इसका शुद्ध रूप 'जवनिका' (जव—वेग जवनिका—वेग से उठने व गिरनेवाला पर्दा) है। स्वयं यूनानी नाटकों में पर्दे का प्रचलन नहीं था अतः 'यवनिका' का सम्बन्ध यूनानी नाटकों से स्थापित करना घुणाक्षर-न्याय मात्र है। इसके अतिरिक्त भी भारतीय नाटकों की प्रकृति एवं स्वरूप में गहरा अन्तर मिलता है। हमारे यहाँ नाटक अंकों में विभाजित होते हैं जबकि यूनानी नाटकों में अंक नहीं होते वहाँ कथा के दृश्यों में अन्तर लाने के लिए सम्मिलित गान (Chorus) का आयोजन कर लिया जाता था। वस्तुतः भारत में नाटकों का प्रचलन भारत-यूनानी सम्पर्क से भी बहुत पहले हो चुका था। इस तथ्य के अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। पाणिनी (ईसा से ४०० वर्ष पूर्व) के सूत्रों में कृशाश्व और शिलालिन् नाम के नट-सूत्रकारों के नामों का उल्लेख हुआ है। विनय पिटक' में अश्वजित् और पुनर्वसु नाम के दो भिक्षुओं का वृत्तान्त मिलता है जिन्हें रंगशाला में नर्तकियों से बातें करने व नाटक देखने के अपराध में प्रव्राजनीय दंड मिला था। इसी प्रकार जैन कल्प-सूत्रों में भद्रबाहु स्वामी' ने जड़वृत्ति के साधुओं के अन्तर्गत एक ऐसे साधु का भी उल्लेख किया है जिसे नाटक देखने का शौक हो गया था। वाल्मीकि रामायण में अयोध्या की प्रशंसा करते हुए उसमें अनेक नट एवं नर्तकियों के निवास का वर्णन किया है। हरिवंश पुराण में राम जन्म तथा कौबेर रम्भाभिसार आदि नाटकों के खेले जाने का विस्तृत वर्णन मिलता है। इनके अतिरिक्त भरत के नाट्य सूत्र (ईसा से लगभग १५० वर्ष पूर्व) में अभिनय-कला का जैसा सूक्ष्म विवेचन हुआ है वह इस बात का प्रमाण है कि भारत में नाट्य-कला की एक दीर्घ-परम्परा इससे कई शताब्दियों पूर्व रही होगी। वस्तुतः भारतीय-नाट्य-कला बहुत प्राचीन है तथा उसका विकास यूनानी आक्रमण से पूर्व ही हो गया था सम्भव है कि यूनानी यहाँ से अन्य कुछ कलाओं की भाँति नाट्य-कला की भी कुछ विशेषताएँ ले गये हों और उनका समन्वय अपने नाटकों में कर दिया हो।

भारत का बहुत-सा प्रारम्भिक साहित्य अनुपलब्ध है अतः हमारे प्रारम्भिक नाटक

भी अब प्राप्य नहीं हैं। उपलब्ध नाटकों में सबसे प्राचीन महाकवि भास (प्रथम शती ईसा पूर्व) की रचनाएँ—प्रतिमा, पंचरात्र, स्वप्नवासवदत्ता आदि हैं जिनमें नाट्य-कला का विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। उनके अनन्तर कालिदास, शूद्रक, भवभूति, हर्षवर्द्धन, भट्टनारायण, विशाखदत्त आदि नाटककारों की अनेक उत्कृष्ट कृतियाँ मिलती हैं। संस्कृत के नाटक-साहित्य में बुद्धि और भावना का एकान्त संयोग, अनुभूतियों की विविधता और गंभीरता, चित्रण की असाधारण कुशलता और शैली की स्वाभाविकता और रोचकता आदि गुणों का सुंदर समन्वय दृष्टिगोचर होता है। कथावस्तु के क्षेत्र की जैसी व्यापकता भास में मिलती है, सौन्दर्य का जैसा सजीव अंकन कालिदास में मिलता है, प्रेम की जैसी गंभीरता भवभूति में है, जीवन की यथार्थ परिस्थितियों का जैसा मार्मिक चित्रण शूद्रक ने किया है और राजनीति के दाँव-पेंचों का गुम्फन जिस सफलता से विशाखदत्त ने किया है वह विश्व-नाटक-साहित्य के क्षेत्र में अद्वितीय है। संस्कृत नाटककारों में स्वाभाविकता का आग्रह इतना अधिक है कि वे अशिक्षित पात्रों के संभाषणों को सहज स्वाभाविक रूप में उपस्थित करने के लिए असंस्कृत, हेय एवं निम्नवर्गीय भाषा को भी कृतियों में स्थान दे देते हैं।

संस्कृत की नाट्य-परम्परा का विकास परवर्ती भाषाओं में समुचित रूप से नहीं हो सका। यद्यपि संस्कृत के प्रायः सभी नाटककारों ने अपनी रचनाओं में प्राकृत भाषा को थोड़ा बहुत स्थान दिया है, किन्तु फिर भी प्राकृत में उत्कृष्ट कोटि के नाटक बहुत कम लिखे गये। नाटक के एक विशेष रूप—सट्टक का ही प्राकृत में अधिक प्रचलन रहा। प्राकृत सट्टकों में कर्पूरमंजरी, रम्भामंजरी, चन्द्रलेखा, शृंगारमंजरी, आनन्दसुन्दरी आदि उल्लेखनीय हैं। आगे चलकर अपभ्रंश में नाटक की परम्परा एक बार विलुप्त-सी हो गई। रासक-काव्यों के रूप में अवश्य अपभ्रंश में कई सौ रचनाएँ मिलती हैं किन्तु उनमें नाटकीय-तत्त्वों का प्रायः अभाव है। एक तो वे विशुद्ध पद्य-बद्ध हैं और दूसरे उनमें अभिनय सम्बन्धी संकेतों का उल्लेख नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त अभिनेय वस्तु का भी उनमें वर्णन कर दिया गया है अतः उन्हें नाटक कहना उचित नहीं। फिर भी 'नाट्य-दर्पण', 'भाव प्रकाश' व 'साहित्य-दर्पण' आदि ग्रंथों में 'रसिक' के लक्षणों का निरूपण नाटक के रूप में हुआ है। 'साहित्य-दर्पणकार' के विचारानुसार रासक में पाँच पात्र होते हैं, एक अंक होता है, मुख और निर्वहण संधियाँ होती हैं और कैशिकी एवं भारती वृत्तियाँ होती हैं। इसमें सूत्रधार नहीं होता। नायिका प्रसिद्ध और नायक मूर्ख होता है। उदाहरण के रूप में उन्होंने 'मेनका हित' का नाम लिया है। यद्यपि अब न तो 'मेनका हित' ही उपलब्ध है और न ही उपयुक्त लक्षणों से युक्त कोई रासक-कृति मिलती है, परन्तु इसी से यह निश्चित हो जाता है कि कभी नाट्यरासकों की परम्परा भी अवश्य रही है, यद्यपि आज वे अनुपलब्ध या अप्रकाशित हैं।

हिंदी में नाटक साहित्य का उद्भव

कुछ वर्षों तक हिन्दी में नाट्य-साहित्य का उद्भव १९वीं शती में माना जाता रहा, किन्तु अब डा० दशरथ ओझा ने अपने महत्वपूर्ण अनुसंधान के द्वारा तेरहवीं शताब्दी से ही इसका उद्भव सिद्ध कर दिया है। उनके मतानुसार हिन्दी का सर्वप्रथम उपलब्ध नाटक

'गय-सुकुमार रास' है जो सवत् १२८० वि० म रचित हुआ था। उसका कथन है कि "इस रास म रास के सभी तत्व विद्यमान हैं। इसकी भाषा पर राजस्थानी हिन्दी का प्रभुत्व स्वीकार किया गया है। आगे चलकर रास के तीन रूप हो गये। पहला रूप तो नाट्य रासक का ही रहा जो गय-सुकुमार रास भरतेश्वर बाहुबलीरास आदि मे बताया गया है। दूसरा रूप धार्मिक महापुरुषो के चरित काव्य के रूप म विकसित हुआ जिनमे से नृत्य और नाट्य का अश क्रमश लुप्त होता गया। रास का तीसरा रूप रासो है जो किसी राजा की पूरी जीवन-गाथा को लेकर विकसित होता रहा। डॉ० ओझाजी के इस वर्गीकरण से स्पष्ट है कि रास के अन्तिम दो रूपो म तो अभिनयता का सर्वथा अभाव ही है, किन्तु उन्होने प्रथम वर्ग म आनेवाली रचनाओ गय-सुकुमार रास' व भरतेश्वर बाहुबली रास' का विवेचन इतने चलताऊ ढग से किया है कि जिससे यह सिद्ध नही होता कि ये दोनो ग्रथ भी मूलत नाट्य रासक हैं। गय-सुकुमार रास' का जो थोडा सा परिचय दिया गया है, उससे उसके पात्रो के नाम व कथा-वस्तु का सकेत मात्र मिलता है उससे नाटकीय तत्वों पर कोई प्रकाश नही पडता। अत इसे हिन्दी का आदि नाटक कहना सन्देहास्पद है।

मैथिली नाटक

हिन्दी का प्राचीनतम नाटक-साहित्य जो वास्तव म नाटकीय तत्वो से युक्त है मथिली भाषा म मिलता है। महाकवि विद्यापति द्वारा रचित अनेक नाटक बताये जाते हैं किन्तु उनमे से अब 'गोरक्ष विजय' ही उपलब्ध है। इसका गद्य भाग सस्कृत म व पद्य भाग मथिली म है। अप्रकाशित होने के कारण इसका अधिक विवरण अनुपलब्ध है। जब मिथिला के शासक-वर्ग के कुछ लोग नेपाल म चले गये तो विद्यापति की नाट्य-परम्परा का विकास मिथिला और नेपाल—दोनो प्रदेशो म साथ-साथ हुआ। नेपाल म रचित नाटको म विद्या विलाप (१५३३ ई०), मुदित कुवलयाश्व' (१६२८ ई०) हर गौरी विवाह' (१६२९ ई०), 'उषा-हरण', पारिजात-हरण' प्रभावती-हरण (१७वी शती) आदि उल्लेखनीय है। मिथिला के नाटको म से गोविन्द का नल चरित-नाटक' (१६३९ ई०) रामदास झा का 'आनन्दविजय नाटक' देवानन्द का उषा-हरण (१७वी शती), रमापति उपाध्याय का रुक्मिणी हरण (१८वी शती) उमापति उपाध्याय का 'पारिजात हरण' (१८वी शती) आदि महत्वपूर्ण हैं। नेपाल और मिथिला म रचित इन मथिली नाटको की परम्परा वीसवी शती तक अक्षुण्ण रूप म मिलती है। इनकी रचना रग-मच पर अभिनय करने के लिए होती थी अत इनम अभिनेयता का गुण मिलता है। गद्य और पद्य दोनो का प्रयोग इनमे हुआ है। भाषा प्राय सरल मथिली है। मथिली नाटको के प्रभाव से आसाम और उडीसा म भी कोई ऐसे नाटक लिखे गए, जिनमे विषय-वस्तु शिल्प एव भाषा-शैली की दृष्टि से परस्पर गहरा साम्य दृष्टिगोचर होता है।

रास-लीला नाटको का विकास

जिस समय भारत के पूर्वी प्रदेशो—मिथिला आसाम उडीसा आदि म उपयुक्त मथिली-नाटक-साहित्य का विकास हो रहा था, ब्रज प्रदेश मे रास-लीला नाटको का

उद्भव हुआ। डा० दशरथ ओझा ने रास-लीला नाटकों का जन-कवियों द्वारा रचित रासक या रासो काव्यों से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया है, किन्तु वास्तव में दोनों में कोई सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता। ब्रज प्रदेश में विकसित रास-लीलाओं का मूल प्रेरणा-स्रोत भागवत का रास सम्बन्धी वर्णन है। सर्व प्रथम सोलहवीं शताब्दी में हित-हरिवंश जी को राधा-कृष्ण के अलौकिक रास का दर्शन हुआ, जिसके अनुकरण पर उन्होंने कृष्ण रास-मंडल की स्थापना की और रास-लीलाओं का आयोजन किया। जिस रास-लीला के दर्शन हित-हरिवंश जी को हुए थे, वह कैसी थी इसका चित्रण उन्होंने स्पष्ट रूप में किया—

आजु नागरी किशोरी भावती विचित्र जोर, कहा कहौं अंग-अंग परम माधुरी।
करत केलि कंठ मेलि बाहु दंड गंड-गंड परस सरस रास लास मंडली जुरी॥
स्याम सुंदरी बिहार बासुरी मृदंग तार, मधुर घोष नूपुरादि किंकनी चुरी।
देखत हरिवंश आलि नर्तनी सुघग चालि, वारि फेरि देत प्रान देह सौं दुरी॥

गोस्वामीजी के इस रास-लीला के वर्णन को पढ़कर डॉ० ओझा जी द्रवित हो गए हैं किन्तु हम इसमें नाटकीयता का कोई लक्षण दिखाई नहीं देता। न ही तो इसमें कोई कथावस्तु है और न ही पात्रों का वार्तालाप ! केवल क्रिया विशेष का ही खुला वर्णन है। हमारी समझ में नहीं आता कि यह रास-लीला भक्तों और साधकों को इतनी मनोमुग्धकारी क्या प्रतीत हुई तथा रंग-मंच पर इसका अभिनय किस प्रकार किया गया होगा। डा० ओझा लिखते हैं— 'इसका पुनः पुनः प्रदर्शन करने के लिए ललिता-सखी के गाँववाले कुछ लड़कों को इसके अभिनय के लिए पूरी शिक्षा दी गई।' ओझाजी के 'इस पूरी शिक्षा' वाले रहस्य को समझना कठिन है, किन्तु हम मान लेते हैं कि ऐसी लीलाएँ अवश्य ब्रज में होती रही होंगी। आगे चलकर इस रास-लीला का क्षेत्र कुछ व्यापक किया गया और उसमें कथावस्तु के कुछ अंशों व दूसरे क्रिया-व्यापारों को स्थान दिया गया। नन्ददासजी ने 'गोवर्द्धन लीला' एवं 'श्याम-सगाई-लीला' की रचना की तथा ध्रुवदासजी व चाचा वृन्दावनदास ने लगभग ४०-५० लीलाएँ लिखीं। आगे चलकर ब्रजवासीदास ने ७४ लीलाएँ लिखीं। कृष्ण-लीला के नाटकों की शैली पर नरसिंह लीला, भागीरथ लीला, प्रह्लाद लीला, दान लीला आदि की रचना हुई। यद्यपि प्रारम्भिक लीलाएं नाटक की अपेक्षा कविताएँ अधिक हैं किन्तु धीरे धीरे उनका विकास अभिनय के अनुकूल होता गया, यद्यपि उनका रूप अन्त तक पद्य-बद्ध ही रहा। वस्तुतः इस श्रेणी के नाटक 'रास-लीला' के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा इनका प्रदर्शन अब भी विभिन्न रास मंडलियों द्वारा होता है। रास-लीलाओं में नृत्य और गान की ही प्रधानता है।

पद्य-बद्ध नाटक

सत्रहवीं और अठारहवीं शती में कुछ ऐसे पद्य-बद्ध नाटकों की रचना हुई जो शैली की दृष्टि से रास-लीलाओं से भिन्न हैं तथा जिनका अभिनय कदाचित् नहीं हुआ। इन नाटकों में रामायण महानाटक (१६६७ वि०) हनुमन्नाटक (हृदयराम, १६८० वि०), समयसार नाटक (बनारसीदास, १६९३ वि०), चंडी चरित्र (गुरु-गोविन्दसिंह) प्रबोध चन्द्रोदय (यशवन्तसिंह १७०० वि०), शकुन्तला नाटक (नवाज, १७२७ वि०) और

'गय-सुकुमार रास' है जो सवत् १२८९ वि० म रचित हुआ था। उनका कथन है कि 'इस रास मे रास के सभी तत्व विद्यमान हैं।" इसकी भाषा पर राजस्थानी हिन्दी का प्रभुत्व स्वीकार किया गया है। आगे चलकर रास के तीन रूप हो गये। पहला रूप तो नाट्य रासक का ही रहा, जो गय-सुकुमार रास भरतेश्वर बाहुबलीरास आदि म बताया गया है। दूसरा रूप धार्मिक महापुरुषो के चरित-काव्य के रूप म विकसित हुआ जिनमे से नृत्य और नाट्य का अग क्रमश लोप होने लगा। रास का तीसरा रूप रासो है जो किसी राजा की पूरी जीवन-गाथा को लेकर विरचित होता रहा।' डा० ओझाजी के इस वर्गीकरण से स्पष्ट है कि रास के अन्तिम दो रूपो म तो अभिनेयता का सवथा अभाव ही है किन्तु उन्होंने प्रथम वग म आनेवाली रचनाओ गय-सुकुमार रास' व भरतेश्वर बाहुबली रास का विवेचन इतने चलताऊ ढग से किया है कि जिससे यह सिद्ध नहीं होता कि ये दोनो ग्रथ भी मूलत नाट्य रासक हैं। गय-सुकुमार रास' का जो थोडा सा परिचय दिया गया है, उससे उसके पात्रो के नाम व कथा वस्तु का सकेत मात्र मिलता है उसके नाटकीय तत्वो पर कोई प्रकाश नही पडता। अत इसे हिन्दी का आदि नाटक कहना सन्देहास्पद है।

मथिली नाटक

हिन्दी का प्राचीनतम नाटक-साहित्य जो वास्तव म नाटकीय तत्वो से युक्त है, मथिली भाषा म मिलता है। महाकवि विद्यापति द्वारा रचित अनेक नाटक बताये जाते है, किन्तु उनम स अब गोरक्ष विजय' ही उपलब्ध है। इसका गद्य भाग सस्कृत मे व पद्य भाग मथिली म है। अप्रकाशित होने के कारण इसका अधिक विवरण अनुपलब्ध है। जब मिथिला के शासक-वग के कुछ लोग नेपाल म चले गये तो विद्यापति की नाट्य-परम्परा का विकास मिथिला और नेपाल—दोनो प्रदेशो म साथ-साथ हुआ। नेपाल म रचित नाटको म विद्या विलाप (१५३३ ई०), मुदित कुवलयाश्व (१६२८ ई०) हर गौरी विवाह' (१६२९ ई०), 'उषा हरण' पारिजात-हरण', प्रभावती-हरण (१७वी शती) आदि उल्लेखनीय है। मिथिला के नाटको म से गोविन्द का नल चरित-नाटक' (१६३९ ई०) रामदास झा का आनन्दविजय नाटक' देवानन्द का 'उषा-हरण' (१७वी शती), रमापति उपाध्याय का रुक्मिणी-हरण (१८वी शती) उमापति उपाध्याय का पारिजात हरण' (१८वी शती) आदि महत्वपूर्ण हैं। नेपाल और मिथिला मे रचित इन मथिली नाटको की परम्परा बीसवी शती तक अक्षुण्ण रूप म मिलती है। इनकी रचना रग-मच पर अभिनय करने के लिए होती थी अत इनम अभिनेयता का गुण मिलता है। गद्य और पद्य दोनो का प्रयोग इनम हुआ है। भाषा प्राय मरल मथिली है। मथिली नाटको के प्रभाव से आसाम और उडीसा म भी कई ऐसे नाटक लिखे गए, जिनम विषय-वस्तु, शिल्प एव भाषा-शली की दृष्टि से परस्पर गहरा साम्य दृष्टिगोचर होता है।

रास-लीला नाटको का विकास

जिस समय भारत के पूर्वी प्रदेशो—मिथिला आसाम उडीसा आदि म उपयुक्त मथिली-नाटक-साहित्य का विकास हो रहा था ब्रज प्रदेश म रास-लीला नाटको का

उद्‌भव हुआ। डा० दशरथ ओझा ने रास-लीला नाटकों को जन-कवियों द्वारा रचित रासक या रासा काव्यों से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया है किन्तु वास्तव में दोनों में कोई सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता। व्रज प्रदेश में विकसित रास-लीलाओं का मूल प्रेरणा स्रोत भागवत का रास सम्बन्धी वर्णन है। सर्व प्रथम सोलहवीं शताब्दी में हित-हरिवंश जी को राधा-कृष्ण के अलौकिक रास का दर्शन हुआ, जिसके अनुकरण पर उन्होंने 'कृष्ण रास-मंडल' की स्थापना की और रास-लीलाओं का आयोजन किया। जिस रास-लीला के दर्शन हित-हरिवंश जी को हुए थे, वह कैसी थी इसका चित्रण उन्होंने स्पष्ट रूप में किया—

आजु नागरी किशोरी भावती विचित्र ओर, कहा कहौं अंग-अंग परम माधुरी।
करत केलि कंठ मेलि बाहु दंड गंड-गंड परस सरस रास लास मंडली जुरी॥
स्याम सुन्दरी बिहार बाँसुरी मृदंग तार, मधुर घोष नूपुरादि किंकिनी चुरी।
देखत हरिवंश आलि नर्तनी सुधंग चालि, वारि फेरि देत प्रान देह सौं दुरी॥

गोस्वामीजी के इस रास-लीला के वर्णन को पढ़कर डा० ओझा जी द्रवित हो गए हैं किन्तु हमें इसमें नाटकीयता का कोई लक्षण दिखाई नहीं देता। न ही तो इसमें कोई कथावस्तु है और न ही पात्रों का वार्तालाप! केवल क्रिया विशेष का ही खुला वर्णन है। हमारी समझ में नहीं आता कि यह रास-लीला भक्तों और साधकों को इतनी मनोमुग्धकारी क्या प्रतीत हुई तथा रंग-मंच पर इसका अभिनय किस प्रकार किया गया होगा। डा० ओझा लिखते हैं— "इसका पुनः पुनः प्रदर्शन करने के लिए ललिता-सखी के गाँववाले कुछ लड़कों को इसके अभिनय के लिए पूरी शिक्षा दी गई।" ओझाजी के 'इस पूरी शिक्षा' वाले रहस्य को समझना कठिन है, किन्तु हम मान लेते हैं कि ऐसी लीलाएँ अवश्य व्रज में होती रही होंगी। आगे चलकर इस रास-लीला का क्षेत्र कुछ व्यापक किया गया और उसमें कथावस्तु के कुछ अंगों व दूसरे क्रिया-व्यापारों को स्थान दिया गया। नन्ददासजी ने *'गोवर्द्धन लीला'* एवं *'श्याम-सगाई-लीला'* की रचना की तथा ध्रुवदासजी व चाचा वृन्दावनदास ने लगभग ८० ५० लीलाएँ लिखी। आगे चलकर व्रजवासीदास ने ७४ लीलाएँ लिखी। कृष्ण-लीला के नाटकों की लड़ी पर नरसिंह लीला भागीरथ लीला, प्रह्लाद लीला, दान लीला आदि की रचना हुई। *यद्यपि प्रारम्भिक लीलाएँ नाटक की* अपेक्षा कविताएँ अधिक हैं किन्तु धीरे धीरे उनका विकास अभिनय के अनुकूल होता गया, यद्यपि उनका रूप अन्त तक पद्य-बद्ध ही रहा। वस्तुतः इस श्रेणी के नाटक 'रास-लीला' के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा इनका प्रदर्शन अब भी विभिन्न रास-मंडलियों द्वारा होता है। रास-लीलाओं में नृत्य और गान की ही प्रधानता है।

पद्य-बद्ध नाटक

सत्रहवीं और अठारहवीं शती में कुछ ऐसे पद्य-बद्ध नाटकों की रचना हुई जो भी दृष्टि से रास-लीलाओं से भिन्न हैं तथा जिनका अभिनय कदाचित् नहीं हुआ। इन नाटकों में रामायण महानाटक (१६६७ वि०), हनुमन्नाटक (हृदयराम, १६८० वि०), समयसार नाटक (बनारसीदास १६९३ वि०) चण्डी चरित्र (गुरु-गोविन्दसिंह) प्रबोध चन्द्रोदय (यशवन्तसिंह १७०० वि०), शकुन्तला नाटक (नवाज, १७२७ वि०) और

समासार नाटक (श्री रघुराम नागर स० १७५७ वि०) करुणभरण (कृष्ण जीवन लछीराम, १७७२ वि०) उपलब्ध हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में भी इस प्रकार के नाटक और भी लिखे गए—माधव विनोद नाटक जानकी रामचरित नाटक रामलीला विहार नाटक रामायण नाटक, प्रद्युम्न विजय नाटक नहुष नाटक और आनन्द रघुनन्दन नाटक की रचना हुई। इन नाटको मे विशुद्ध पद्य का प्रयोग हुआ है तथा 'नाटक' के नाम के अतिरिक्त और कोई ऐसी विशेषता नही मिलती जिससे इन्हे नाटक कहा जा सके। हाँ प्रबोध चन्द्रोदय मे अवश्य मूल-संस्कृत रचना के अनरूप ही नाटकीय शैली का प्रयोग किया गया है।

आधुनिक युग का नाटक साहित्य

हिन्दी मे नाटक के स्वरूप का समुचित विकास आधुनिक युग के आरम्भ से होता है। सन् १८५० से अब तक के युग को हम नाट्य रचना की दृष्टि से तीन खडो मे विभक्त कर सकते हैं (१) भारतेन्दु युग (१८५० १९०० ई०) (२) प्रसाद युग (१९०० १९३०) और (३) प्रसादोत्तर युग (१९३० से अब तक) इनमे से प्रत्येक युग के प्रमुख नाटककारो का परिचय यहाँ क्रमश प्रस्तुत किया जाता है।

(क) भारतेन्दु युग—स्वयं बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी का प्रथम नाटक अपने पिता बाबू गोपालचन्द्र द्वारा रचित नहुष नाटक' (सन् १८४१ ई०) को बताया है, किन्तु तात्विक दृष्टि से यह पूववर्ती ब्रजभाषा पद्य-बद्ध नाटको की ही परम्परा मे आता है। सन् १८६१ ई० मे राजा लक्ष्मणसिंह ने अभिज्ञान शाकुन्तलम' का अनुवाद प्रकाशित करवाया। भारतेन्दुजी का प्रथम नाटक विद्या-सुन्दर' (सन् १८६८ ई०) भी किसी बगला के नाटक का छायानुवाद था। इसके अनन्तर उनके अनेक मौलिक व अनुवादित नाटक प्रकाशित हुए जिनमे पाखड विडम्बनम् (१८७२) वदिकी हिंसा हिंसा न भवति (१८७२) धनजय विजय मुद्राराक्षस (१८७५) सत्य-हरिश्चन्द्र (१८७५), प्रेम-योगिनी (१८७५) विषस्य विषमौषधम् (१८७६), कर्पूर-मजरी (१८७६) चन्द्रावली (१८७६) भारत-दुर्दशा (१८७६) नीलदेवी (१८७७), अधेर-नगरी (१८८१), और सती प्रताप (१८८४ ई०) आदि उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दु के नाटक मुख्यत पौराणिक सामाजिक एव राजनतिक विषयो पर आधारित हैं। सत्य-हरिश्चन्द्र, धनजय विजय मुद्राराक्षस कर्पूर-मजरी—ये चारो अनुवादित हैं। अपने मौलिक नाटको मे उन्होंने सामाजिक कुरीतियो एव धर्म के नाम पर होनेवाले कुकृत्यो आदि पर तीखा व्यग्य किया है। पाखण्ड-विडम्बन', वदिकी हिंसा हिंसा न भवति' इसी प्रकार के नाटक हैं। विषस्य विषमौषधम् मे देशी-नरेशो की दुर्दशा पर आँसू बहाए गए हैं तथा उन्हें चेतावनी दी गई है कि यदि वे न सभले तो धीरे धीरे अंग्रेज सभी देशी रियासतो को अपने अधिकार मे ले लेंगे। भारत-दुर्दशा' मे भारतेन्दु की राष्ट्र भक्ति का स्वर उद्घोषित हुआ है। इसमे अंग्रेजो को भारत-दुर्दैव के रूप मे चित्रित करते हुए भारतवासियो के दुर्भाग्य की कहानी को यथार्थ रूप मे प्रस्तुत किया गया है। इसमे स्थान-स्थान पर विदेशी शासको की स्वेच्छाचारिता पुलिसवालो के दुर्व्यवहार भारतीय-जनता की मोहान्धता पर गहरे आघात किए गए हैं। कुछ आलोचक भारतेन्दु-साहित्य को भली प्रकार न समझने

के कारण भारतेन्दु की राष्ट्रीयता के स्वरूप का स्पष्ट नहा कर सके। वस्तुत उस युग म जबकि १८५७ की असफल क्रान्ति का दाग भूले नहा थे, भारतेन्दु ने ब्रिटिश शासन एव उसके विभिन्न अगा का जसी स्पष्ट आलोचना अपने साहित्य म की है, वह उनके उज्ज्वल देश प्रेम एव अपूर्व साहस का परिचय देती है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को सस्कृत प्राकृत, बगला व अग्रेजी के नाटक-साहित्य का अच्छा ज्ञान था। उन्होंने इन सभी भाषाओ से अनुवाद किए थे, नाट्य-कला के सिद्धान्तो का भी उन्होंने सूक्ष्म अध्ययन किया था, जो उनकी रचना नाटक' से सिद्ध है। साथ ही उन्होंने अपने नाटको के अभिनय की भी व्यवस्था की थी तथा उन्होंने अभिनय म भाग भी लिया था। इस प्रकार नाट्य-कला के सभी अगो का उन्हे पूरा ज्ञान और अनुभव था। यदि हम एक ऐसा नाटककार ढूढें, जिसने नाट्य-शास्त्र के गभीर अध्ययन के आधार पर नाट्य-कला पर सद्धान्तिक आलोचना लिखी हो जिसने प्राचीन और नवीन, स्वदेशी और विदेशी नाटको का अध्ययन व अनुवाद किया हो जिसने वयक्तिक, सामाजिक एव राष्ट्रीय समस्याओ का लेकर अनेक पौराणिक एतिहासिक एव मौलिक नाटको की रचना की हो और जिसने नाटको की रचना ही नहा अपितु उन्हे रगमच पर खेलकर भी दिखाया हो—इन सब विशेषताओ से सम्पन्न नाटककार हिन्दी म ही नहा—समस्त विश्व-साहित्य म केवल दो-चार ही मिलेंगे, और उन सबम भारतेन्दु का स्थान सबसे ऊँचा होगा। उनके नाटको म जीवन और कला, सौन्दर्य और शिव, मनोरजन और लोक-सेवा का सुन्दर समन्वय मिलता है। उनकी शली सरलता, रोचकता एव स्वाभाविकता के गुणो से परिपूर्ण है। यह आश्चर्य की बात है कि ऐसे उच्चकोटि के नाटककार की केवल कुछ उपेक्षणीय दोषो के आधार पर डॉ० श्यामसुन्दर दास जसे आलोचक ने भर्त्सना की है। भारतेन्दु द्वारा लिखे गए गम्भीर आलोचनात्मक ग्रथ—'नाटक' को उन्होंने किसी अन्य व्यक्ति द्वारा रचित घोषित कर दिया, जबकि इस ग्रथ की भूमिका म भारतेन्दु ने स्पष्ट रूप से इसे स्वरचित स्वीकार किया है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रेरणा व उनके प्रभाव से उस युग के अनेक लेखक नाट्य-रचना म प्रवृत्त हुए। श्री निवासदास ने 'रणधीर और प्रेम मोहिनी', राधा-कृष्णदास ने दु खिनी बाला' और महाराणा प्रताप', खगबहादुरलाल ने भारत-ललना', बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन ने भारत-सौभाग्य' तोताराम वर्मा ने विवाह विडम्बन' प्रतापनारायण मिश्र ने भारत-दुर्दशा रूपक' और राधाचरण गोस्वामी ने तन-मन धन श्री गोसाइजी के अर्पण' आदि नाटक लिखे। इन नाटको म भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की ही प्रवृत्तियो का अनुकरण हुआ है। प्राय सभी म समाज-सुधार देश प्रेम या हास्य विनोद की प्रवृत्ति मिलती है। इनम गद्य खडीबोली म तथा पद्य ब्रजभाषा म प्रयुक्त हुआ है। सस्कृत नाटको के अनेक शास्त्रीय-लक्षणो की इनम उपेक्षा की गई है। भाषा पात्रो के अनुरूप रखी गई है। शली म सरलता स्वाभाविकता एव रोचकता के दर्शन होते हैं। वस्तुत भारतेन्दु-युग का नाटक-साहित्य जनता के बहुत समीप था तथा वह लोक रजन' एव लोक रक्षण' —दोनो के तत्त्वो से युक्त रहा है। उसने पाठ्य और दृश्य—दोनो रूपो म तत्कालीन लोक हृदय का अनुरजन किया।

(ख) प्रसाद-युग—आधुनिक हिन्दी नाट्य-साहित्य के द्वार प्रभावशाली नेता जयशंकर प्रसाद हुए। यद्यपि भारतेन्दु युग की समाप्ति एवं जयशंकर प्रसाद के आगमन से पूर्व हिन्दी में अनेक नाटक लिखे गए जिनमें अधिकांश संस्कृत, बंगला व अंग्रेजी से अनुवादित हैं किन्तु वे अधिक महत्वपूर्ण नहीं माने जाते। अनुवाद के माध्यम से बंगला के द्विजेन्द्रलाल राय और रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रभाव हिन्दी के नाटककारों पर पड़ा जिससे उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। पहले जहाँ पौराणिक एवं काल्पनिक कथानकों का ग्रहण किया जाता था वहाँ नए युग में ऐतिहासिक विषयों को अपनाया गया। पूर्ववर्ती समाज-सुधारक एवं राष्ट्रीय दृष्टिकोण के स्थान पर सांस्कृतिक एवं दार्शनिक चित्रण को अधिक महत्व प्राप्त हुआ। अस्तु इस परिवर्तन की सूचना सबसे पूर्व जयशंकर प्रसाद के नाटकों में मिलती है।

श्री जयशंकर प्रसाद ने एक दर्जन से अधिक नाटकों की रचना की—सज्जन (१९१० ई०) कल्याणी-परिणय (१९१२) करुणालय (१९१३) प्रायश्चित्त (१९१४) राज्यश्री (१९१५) विशाख (१९२१) अजातशत्रु (१९२२) कामना (१९२३-२४) जनमेजय का नाग-यज्ञ (१९२३) स्कन्दगुप्त (१९२८) एक घूँट (१९२०) चन्द्रगुप्त (१९३१) और ध्रुव-स्वामिनी (१९३३)। भारतेन्दु-युग के कवियों ने देश की दुर्दशा का वर्णन बारम्बार अपनी रचनाओं में किया जिसके प्रभाव से भारतवासियों में करुणा ग्लानि दैन्य एवं अवसाद की भावना का विकास हो जाना स्वाभाविक था। ऐसी मन स्थिति में समाज एवं राष्ट्र विदेशी-शक्तियों से संघर्ष करने की क्षमता से शून्य हो जाता है। अतः प्रसाद जी ने अपने देशवासियों में आत्मगौरव उत्साह बल एवं प्रेरणा का संचार करने के लिए अतीत के गौरवपूर्ण दृश्यों को अपनी रचनाओं में चित्रित किया। यही कारण है कि उनके अधिकांश नाटकों का कथानक उस बौद्ध-युग से सम्बन्धित है जब कि भारत की सांस्कृतिक पताका विश्व के विभिन्न भागों में फहरा रही थी। प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति को प्रसाद ने बड़ी सूक्ष्मता से प्रस्तुत किया है उसमें केवल उस युग की स्थूल रसाएं ही नहीं मिलती तत्कालीन वातावरण के सजीव अंकन की रंगीनी भी मिलती है। धर्म की बाह्य परिस्थितियों की अपेक्षा उन्होंने दर्शन की अन्तरंग गुत्थियों का स्पष्ट करना अधिक उचित समझा है। पात्रों के चरित्र चित्रण में भी उन्होंने मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करते हुए उनमें परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन व विकास दिखाया है। मानव चरित्र के सत् और असत् दोनों पक्षों का पूर्ण प्रतिनिधित्व उन्होंने प्रदान किया है। नारी रूप को जैसी महानता सूक्ष्मता शालीनता एवं गम्भीरता कवि प्रसाद के हाथों प्राप्त हुई है उससे भी अधिक सक्रिय एवं तेजस्वी रूप उस नाटककार प्रसाद ने प्रदान किया। प्रसाद के प्राय सभी नाटकों में किसी न किसी ऐसे नारी पात्र की अवतारणा हुई है जो धरती के दुःखपूर्ण अन्धकार के बीच प्रसन्नता की ज्योति की भांति उद्दीप्त है जो पाशविकता दनुजता और क्रूरता के बीच क्षमा करुणा एवं प्रेम के दिव्य सदेश की प्रतिष्ठा करती है जो अपने प्रभाव से दुर्जनों को सज्जन दुराचारियों को सदाचारी और नृशंस अत्याचारियों को उदार लोक-सेवी बना देती है। नारी तुम केवल श्रद्धा हो की उक्ति प्रसाद की इन दिव्य नायिकाओं पर पूर्णत लागू होती है।

नाट्य-शिल्प की दृष्टि से प्रसाद जी के नाटकों में पूर्वी और पश्चिमी तत्वों का सम्मिश्रण मिलता है। जहाँ उनके नाटकों में कथावस्तु का नायक धीरोदात्त विद्रूप, फल-निरूपण, सत्य और न्याय की विजय में भारतीय नाट्य-साहित्य की परम्पराओं का पालन हुआ है, वहाँ पाश्चात्य नाटकों की संघर्ष एवं व्यक्ति-वैचित्र्य का विकास भी उनकी रचनाओं में हुआ है। भारतीय नाटकों की रसात्मकता इनमें भरपूर मिलती है, तो दूसरी ओर पाश्चात्य नाटकों की सी कार्य-व्यापार की गतिशीलता भी उनमें विद्यमान है। भारतीय नाटककार सुखान्त को पसंद करते हैं—पश्चिम के कलाकार दुःखान्त को, प्रसाद ने अपने नाटकों का अन्त इस ढंग से किया है कि हम उन्हें सुखान्त भी कह सकते हैं और दुःखान्त भी। न उन्हें सुखान्त कह सकते हैं और न दुःखान्त ही। वस्तुतः उनका अन्त एक ऐसी करुणापूर्ण भावना के साथ होता है, जिसमें नायक की विजय तो हो जाती है, किन्तु वह फल का उपभोग स्वयं नहीं करता, उसे वह प्रतिनायक को ही लौटा देता है। इस प्रकार के विचित्र अन्त को 'प्रसादान्त' की संज्ञा दी गई है।

रंगमंच व अभिनेयता की दृष्टि से प्रसाद के नाटकों में अनेक दोष मिलते हैं। उनका कथानक इतना विस्तृत एवं अविश्रृंखलित सा है कि उससे उनमें शिथिलता आ जाती है। उन्होंने अनेक ऐसी घटनाओं एवं दृश्यों का आयोजन किया है, जो रंग-मंच की दृष्टि से उपयुक्त एवं उचित नहीं। लम्बे-लम्बे स्वगत कथन एवं वार्तालाप, गीतों का अत्यधिक प्रयोग, दर्शन शास्त्र की गूढ़ एवं जटिल उक्तियों का समावेश, सर्वत्र संस्कृत-गर्भित भाषा का प्रयोग, वातावरण की गम्भीरता आदि बातें उनके नाटकों की अभिनेयता में बाधक सिद्ध होती हैं। वस्तुतः अपने नाटकों में प्रसाद कवि-दार्शनिक अधिक हैं, नाटककार कम हैं। उनके नाटक विद्वानों द्वारा गम्भीर मनन की वस्तु हैं, जन-साधारण के सामने उनका सफल प्रदर्शन नहीं किया जा सकता।

प्रसाद-युग के अन्य नाटककारों में माखनलाल चतुर्वेदी (कृष्णार्जुन युद्ध), पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त (वरमाला, राजमुकुट आदि), पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र (महात्मा ईसा), मुंशी प्रेमचन्द (कर्बला, संग्राम) आदि उल्लेखनीय हैं। यह ध्यान रहे कि विषय एवं शैली की दृष्टि से इन नाटककारों में परस्पर थोड़ा-बहुत अन्तर है तथा ये सभी नाटकों के अतिरिक्त साहित्य के अन्य अंगों की भी पूर्ति करते रहे हैं, अतः नाटककार के रूप में इनकी कोई विशिष्टता नहीं मिलती।

प्रसादोत्तर नाटक साहित्य

(क) ऐतिहासिक नाटक—प्रसादोत्तर युग में ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा का पर्याप्त विकास हुआ। इस क्षेत्र में हरिकृष्ण प्रेमी, वृन्दावनलाल वर्मा, गोविन्दवल्लभ पंत, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट तथा अन्य कतिपय नाटककारों ने महत्वपूर्ण योग दिया। हरिकृष्ण प्रेमी के ऐतिहासिक नाटकों में 'रक्षाबंधन' (१९३८) 'शिवा-साधना' (१९३७), 'प्रतिशोध' (१९३७), 'स्वप्न भंग' (१९४०), 'आहुति' (१९४०) 'उद्धार' (१९४९), 'शपथ' (१९५१) 'भग्न प्राचीर' (१९५८), 'प्रकाश-स्तम्भ' (५४), 'कीर्ति-स्तम्भ' (५५), 'संरक्षक' (५८) 'विदा' (५८), 'संवत् प्रवर्तन'

(५०) [illegible] की सृष्टि' (५०) [illegible] का [illegible] (१९५१) आदि को लिया जा सकता है। प्रेमी जी ने अपने नाटकों में अधिकतर मुगल युग के इतिहास को न लेकर प्राय मध्ययुगकालीन भारतीय इतिहास को [illegible] उनके नाटकों में [illegible] युग की [illegible] राजनीतिक [illegible] एवं राष्ट्रीय [illegible] का [illegible] करने का [illegible] प्रयास किया है। उनके विभिन्न नाटकों में [illegible], [illegible] वर्तमान हिन्दू-मुस्लिम एकता आदि भावों एव प्रवृत्तियों को [illegible] है। उन्होंने इतिहास का उपयोग [illegible] की पुष्टि के [illegible] की स्थापना के लिए किया है। नाट्य-कला एवं शिल्प की दृष्टि से भी उनकी रचनाएँ [illegible] निर्दोष एव सफल सिद्ध होती है।

वृन्दावनलाल वर्मा इतिहास के विशेषज्ञ हैं उनकी यह विशेषता उपन्यास और नाटक—दोनों के माध्यम से व्यक्त हुई है। उनके ऐतिहासिक नाटकों में झाँसी की रानी' (१९४८) पूर्व की ओर' (५०) बीरबल (५०) ललित विक्रम (५३) आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त वर्माजी ने सामाजिक नाटक भी लिखे हैं जिनकी चर्चा अन्यत्र की जायगी। वर्माजी के नाटकों में कथावस्तु एव घटनाओं पर विशेष बल मिलता है तथा कहीं-कहीं वे अति घटना प्रधान हो गए हैं। फिर भी दृश्य विधान की सरलता चरित्र चित्रण की स्पष्टता भाषा की उपयुक्तता एव गतिशीलता तथा संवादों की संक्षिप्तता के कारण इनके नाटक अभिनय की दृष्टि से सफल हैं।

गोविन्दवल्लभ पंत ने अनेक सामाजिक एव ऐतिहासिक नाटकों की रचना की है। उनके 'राज-मुकुट' (१९३५) अन्तःपुर का छिद्र (१९४०) आदि ऐतिहासिक नाटक हैं। पहले नाटक में मेवाड़ की पन्ना धाय का पुत्र-बलिदान तथा दूसरे में वत्सराज उदयन के अन्तःपुर की कलह का चित्रण प्रभावोत्पादक रूप में किया गया है। पन्तजी के नाटकों पर संस्कृत अंग्रेजी पारसी आदि विभिन्न परम्पराओं का प्रभाव परिलक्षित होता है। अभिनेयता का उन्होंने अत्यधिक ध्यान रखा है।

मूलत अन्य क्षेत्रों से संबद्ध होते हुए भी ऐतिहासिक नाटकों के क्षेत्र में यदा-कदा प्रवेश करनेवाले लेखकों की कृतियों में से यहाँ ये उल्लेखनीय हैं—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के अशोक' (१९३५) रेवा' (३८) सेठ गोविन्ददास के हर्ष (४२) शशि गुप्त' (४२) कुलीनता' (४१) उदयशंकर भट्ट का मुक्ति-पथ ('४४) दाहर' ('३३), शक विजय ('४९), सियारामशरण गुप्त का पुण्य-पर्व (३३) लक्ष्मीनारायण मिश्र के गरुड़ ध्वज (४८) वत्सराज (५०) वितस्ता की लहरें (५३) उपेन्द्र नाथ अश्क का जय-पराजय' ('३७), सत्येन्द्र का मुक्ति-यज्ञ' (३७) सुदर्शन का सिकन्दर'(४७) बैकुण्ठनाथ दुग्गल का समुद्रगुप्त' (४९) जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द' का गौतम नन्द', बनारसीदास करुणाकर का सिद्धार्थ बुद्ध (५५), जगदीशचन्द्र माथुर का कोणार्क ('५१) देवराज दिनेश के यशस्वी भोज' और मानव प्रताप' (५२), चतुरसेन शास्त्री का 'छत्रसाल (५४) आदि। कुछ लेखकों ने जीवनी-परक नाटक भी लिखे हैं, यथा—लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'कवि भारतेन्दु' (५५) तथा सेठ गोविन्ददास ने

भारतेन्दु' ('५५), 'रहीम' ('५५) आदि की रचना की है। इन्हें भी हम ऐतिहासिक नाटकों में स्थान दे सकते हैं।

ऐतिहासिक नाटकों की उपयुक्त सूची से इनकी प्रगति एवं अभिवृद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है। यद्यपि यहाँ इनके विस्तृत विश्लेषण व विवेचन के लिए अवकाश नहीं है किन्तु सामान्य रूप में कहा जा सकता है कि इनमें इतिहास और कल्पना का सन्तुलित संयोग मिलता है। अधिकांश नाटकों में इतिहास की केवल घटनाओं को ही नहीं, अपितु उनके सांस्कृतिक वातावरण को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व युगीन चेतना एवं तात्त्विक सत्य को उद्घाटित करने का प्रयास भी अनेक नाटककारों ने किया है। कला शिल्प और रंगमंच की दृष्टि से भी इनमें पूर्ववर्ती नाटकों की तुलना में विकास दृष्टिगोचर होता है। पर कहीं-कहीं ऐतिहासिक ज्ञान, विचार एवं प्रयोग की नूतनता पर अधिक बल दिये जाने के कारण रोचकता एवं प्रभावोत्पादकता में भी न्यूनता आ गई है।

(ख) पौराणिक नाटक—इस युग में पौराणिक नाटकों की परंपरा का भी विकास हुआ। विभिन्न लेखकों ने पौराणिक आधार को ग्रहण करते हुए अनेक उत्कृष्ट नाटक प्रस्तुत किए, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है : सेठ गोविन्ददास का 'कर्तव्य' (१९३५), चतुरसेन शास्त्री का 'मेघनाद' ('३६) पृथ्वीनाथ शर्मा का 'उर्मिला' ('५०), सद्गुरुशरण अवस्थी का 'मझली रानी', रामवृक्ष बेनीपुरी का 'सीता की माँ', गोकुलचन्द्र शर्मा का 'अभिनय रामायण', किशोरीदास वाजपेयी का 'सुदामा' (१९३९), चतुरसेन शास्त्री का 'राधाकृष्ण', वीरेन्द्रकुमार गुप्त का 'सुभद्रा-परिणय', कलानाथ नटनागर के 'भीष्म प्रतिज्ञा' (१९३४), और 'श्री वत्स' (१९४१), उदयशंकर भट्ट के 'विद्रोहिणी अम्बा' (१९३५) और 'सगर विजय' (१९३७), पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'गंगा का बेटा' ('४०) डा० लक्ष्मणस्वरूप का 'नल-दमयन्ती' ('४१), प्रभुदत्त ब्रह्मचारी का 'श्री शुक' ('४४) तारा मिश्र का 'देवयानी' ('४४) गोविन्ददास का 'कर्ण' ('४६), प्रेमनिधि शास्त्री का 'प्रणपूर्ति' ('५०), उमाशंकर बहादुर का 'वचन का मोल' ('५१) गोविन्दवल्लभ पंत का 'ययाति' ('५१), डा० कृष्णदत्त भारद्वाज का 'अज्ञातवास' ('५२), मोहनलाल जिज्ञासु का 'पर्वदान' ('५२), हरिशंकर सिनहा 'श्रीवास' का 'माँ दुर्गे' ('५३), लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'नारद की वीणा' ('४६), और 'चक्र-व्यूह' ('५४), रांगेय राघव का 'स्वर्गभूमि का यात्री' ('५१), मुखर्जी गुप्त का 'शक्तिपूजा' ('५२), जगदीश का 'प्रादुर्भाव' ('५५) सूर्यनारायण मूर्ति का 'महानाश की ओर' ('६०) आदि। डा० देवर्षि सनाढ्य शास्त्री ने अपने शोध प्रबन्ध में इनकी सामान्य विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए प्रतिपादित किया है कि इनका कथानक पौराणिक होते हुए भी उनके ब्याज से आज की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। पौराणिक चरित्रों द्वारा किसी ने कर्तव्य के आदर्श को पाठकों के सम्मुख रक्खा है, किसी ने किसी उपेक्षित पात्र के साथ सहानुभूति के दो आँसू बहाए हैं। किसी ने जाति-पाँति के भेद की समस्या का समाधान ढूंढा है तो किसी ने नारी के गौरव के प्रति अपनी श्रद्धा के फूल अर्पित किए हैं। अधिकांश नाटककार इन पौराणिक नाटकों द्वारा आज के जीवन को देखने लगे हैं।

विषयों के अतिरिक्त सामाजिक समस्याओं का चित्रण भी अपने अनेक नाटकों में किया है जिनमें से 'कुलीनता' ('४०), सेवा-पथ ('४०), 'दुख क्या?' ('४६), सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य' (३८), 'त्याग या ग्रहण' ('४३), संतोष कहाँ' ('४५), 'पाकिस्तान' ('४६) 'महत्त्व किसे' (४७), गरीबी और अमीरी' (४७) 'बड़ा पापी कौन' (४८) आदि उल्लेखनीय हैं। सेठजी ने आधुनिक युग की विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं का चित्रण सफलतापूर्वक किया है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' को न तो लक्ष्मीनारायण मिश्र की भांति विशुद्ध यथार्थवादी कहा जा सकता है और न ही सेठजी की भाँति आदर्शवादी। वे इन दोनों के बीच की स्थिति में हैं, अतः उन्हें आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कहना उचित होगा। उन्होंने व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की विभिन्न समस्याओं का चित्रण जहाँ यथार्थ के स्तर पर किया है, वहाँ उनके मूल में सुधार या क्रान्ति की भावना भी निहित है, जो आदर्शवाद की सूचक है। उनके प्रमुख नाटकों में स्वर्ग की झलक' (३९), कैद' ('४५), 'उड़ान' ('४९), 'छठा बेटा' ('४९), अलग-अलग रास्ते (५५) आदि उल्लेखनीय हैं। इन्होंने अपने नाटकों में नारी-शिक्षा, नारी-स्वातन्त्र्य, विवाह-समस्या संयुक्त-परिवार आदि से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों पर सामाजिक दृष्टि से तीखे व्यंग्य किए हैं। अनेक नाटकों में उन्होंने आधुनिक समाज की स्वार्थपरता, धन-लोलुपता, कामुकता, अनैतिकता आदि का भी चित्रण यथार्थवादी शैली में किया है। पर अश्क की नाट्य-कला की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे समस्याओं और समाधानों को उपदेशात्मक एवं गम्भीर रूप में प्रस्तुत नहीं करते, अपितु उनका निदर्शन हास्य-व्यंग्यमयी शैली में करते हैं, जिससे उनका प्रभाव और अधिक तीखा हो जाता है। रंग-मंच और शैली की दृष्टि से तो उनकी तुलना किसी भी अन्य नाटककार से करना कठिन है।

वृन्दावनलाल वर्मा ने ऐतिहासिक उपन्यासों और नाटकों के अतिरिक्त सामाजिक नाटकों के क्षेत्र में भी सफलता प्राप्त की है। उनके इस वर्ग के नाटकों में से राखी की लाज' (१९४३) बाँस की फाँस' (४७), खिलौने की खोज' ('५०) केवट' (५१), 'नीलकंठ' (५१) 'मंगुन' (५१), निस्तार' (५६), 'देखा-देखी' (५६) आदि प्रमुख हैं। वर्माजी ने इन नाटकों में विवाह, जाति-पाँति, ऊँच-नीच, सामाजिक वैषम्य नेताओं की स्वार्थ-परायणता आदि से सम्बन्धित विभिन्न प्रवृत्तियों एवं समस्याओं का अंकन प्रस्तुत किया है।

गोविन्दवल्लभ पंत के सामाजिक नाटकों में 'अंगूर की बेटी' (१९३७) सिन्दूर की बिन्दी' आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से पहली रचना में मदिरा-पान के विषम एवं भयंकर परिणामों का दिग्दर्शन कराते हुए अन्त में इस व्यसन से मुक्ति पाने की विधि पर प्रकाश डाला गया है। सिन्दूर-बिन्दी' में भ्रष्ट एवं परित्यक्त नारी की समस्या का चित्रण अत्यन्त सहानुभूतिपूर्वक प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार पंतजी के नाटकों में सर्वत्र समाज-सुधार की भावना परिलक्षित होती है, किन्तु साथ ही उनमें रोचकता और कलात्मकता का भी अभाव नहीं है।

पृथ्वीनाथ शर्मा ने दुविधा' (१९३८), 'अपराधी' (३९), साध' (४४)

आदि सामाजिक नाटकों की रचना की है जिनमें उन्मुक्त प्रेम, विवाह तथा सामाजिक न्याय से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नों को प्रस्तुत किया गया है। 'दुविधा' की नायिका स्वच्छन्द प्रेम एवं विवाह में से किसी एक को चुनने की दुविधा से ग्रस्त दिखाई गई है। यही समस्या 'साध' में भी है। इस दृष्टि से वे लक्ष्मीनारायण मिश्र के समीप पड़ते हैं किन्तु उनका दृष्टिकोण मिश्रजी के दृष्टिकोण की भाँति अति बौद्धिकतावादी एवं अति यथार्थवादी नहीं है।

इस युग के अन्य सामाजिक नाटकों में उदयशंकर भट्ट के द्वारा रचित 'कमला' ('३९) 'मुक्ति-पथ' ('४४) 'क्रान्तिकारी' ('५३) हरिकृष्ण 'प्रेमी' का 'छाया', प्रेमचन्द का 'प्रेम की वेदी' ('३३), चन्द्रशेखर पाण्डेय का 'जीत में हार' ('४२) जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द का 'समर्पण' ('५०) चतुरसेन शास्त्री का 'पग ध्वनि' ('५२) दयानाथ झा का 'कर्मपथ' ('५३) जयनाथ नलिन का 'अवसान' शम्भूनाथ सिंह का 'धरती और आकाश' ('५४) अभयकुमार 'यौधेय' का 'नारी की साधना' ('५४) रघुवीरशरण मित्र का 'भारत माता' ('५४) श्री सतोष का 'मृत्यु की ओर' तुलसी भाटिया का 'मर्यादा', रामनरेश त्रिपाठी का 'पैसा परमेश्वर' आदि उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन लेखकों में से अधिकांश मूलतः नाटककार न होकर कवि या उपन्यासकार हैं, किन्तु फिर भी इन्होंने अपने युग समाज और राष्ट्र की विभिन्न परिस्थितियों प्रवृत्तियों एवं समस्याओं का अंकन इनमें कुशलतापूर्वक किया है। विषय प्रतिपादन एवं नाट्य शिल्प की दृष्टि से अधिकांश रचनाएँ सफल एवं रोचक हैं।

कल्पनाश्रित नाटकों का दूसरा वर्ग 'भावप्रधान नाटकों' का है, जिन्हें शैली की दृष्टि से सामान्यतः 'गीति नाटक' नाम भी दिया जाता है। इस वर्ग के नाटकों के लिए भाव की प्रमुखता के साथ-साथ पद्य का माध्यम भी अपेक्षित होता है। आधुनिक युग में रचित हिन्दी का पहला गीति-नाटक जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित 'करुणालय' (१९१२) माना जाता है। इसमें पौराणिक आधार पर राजा हरिश्चन्द्र तथा शुनःशेप की बलि की कथा प्रस्तुत की गई है। प्रसाद के अनन्तर एक दीर्घ समय तक गीति-नाटकों के क्षेत्र में कोई नया प्रयास नहीं हुआ, किन्तु परवर्ती युग में अनेक गीति-नाटक लिखे गए, यथा—मैथिली शरण गुप्त के द्वारा 'अनघ' (१९२५), हरिकृष्ण प्रेमी द्वारा 'स्वर्ण विहान' उदयशंकर भट्ट के द्वारा 'मत्स्यगंधा' 'विश्वामित्र' 'राधा' आदि सेठ गोविन्ददास के द्वारा 'स्नेह या स्वर्ग' (१९४६) भगवतीचरण वर्मा द्वारा 'तारा' आदि। इस क्षेत्र में सर्वाधिक सफलता उदयशंकर भट्ट को मिली है। उन्होंने अपने पात्रों की विभिन्न भावनाओं एवं उनके अन्तर्द्वन्द्व को अत्यन्त सशक्त एवं संगीतात्मक शैली में प्रस्तुत किया है। इनमें पात्रों के संवाद भी प्रायः लय और संगीत से परिपूर्ण शब्दों में प्रस्तुत हुए हैं।

विगत दशाब्दी में और भी कई गीति-नाटक प्रकाश में आये हैं जिनमें से सुमित्रानन्दन पन्त के 'रजत शिखर' और 'शिल्पी' (जिनमें उनके नौ गीति-नाट्य संगृहीत हैं) धर्मवीर भारती का 'अंधा युग' सिद्धकुमार का 'लौह देवता' आदि उल्लेखनीय हैं।

प्रतीकवादी नाटकों की परम्परा का नवोत्थान प्रसाद के 'कामना' (१९२७) नाटक से होता है। उनके अनन्तर लिखे गए प्रतीकवादी नाटकों में से ये उल्लेखनीय हैं—

सुमित्रानन्दन पंत का 'ज्योत्स्ना' (१९३४) भगवतीप्रसाद वाजपेयी का 'छलना' ('३९) सेठ गोविन्ददास का 'नव रस', कुमार हृदय का नक्शे का रंग (४१) आदि। डा० लक्ष्मीनारायण लाल द्वारा रचित 'मादा कैक्टस' एवं 'सुन्दर रस' (१९५९) भी सुन्दर प्रतीकात्मक नाटक हैं। इस वर्ग के नाटकों में विभिन्न पात्र विभिन्न विचारों या तत्त्वों के प्रतीक रूप में प्रस्तुत हुए हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी नाटक का विकास अनेक रूपों और अनेक दिशाओं में हुआ है किन्तु हिन्दी रंगमंच के अभाव तथा एकांकी रेडियो रूपकों तथा फिल्मादि की प्रतियोगिता के कारण इनके विकास की गति मंद हो गई है। वस्तुतः अब आवश्यकता इस बात की है कि फिल्मों को भी दृश्य-काव्य या नाटक का एक रूप माना जाय तथा उनके माध्यम से साहित्यिक नाटकों को प्रस्तुत किया जाय। यदि फिल्मों को साहित्यिक रूप दिया जा सके, तो उससे फिल्मों का स्तर ऊंचा उठने के साथ-साथ नाटक की लोकप्रियता भी बनी रह सकती है। पर ऐसा होना तभी संभव है, जबकि साहित्यिक संस्थाएँ इस ओर ध्यान दें।

१७ | हिन्दी उपन्यास : स्वरूप और विकास

१ उपन्यास शब्द की व्याख्या ।
२ उपन्यास शब्द का प्रचलित अर्थ ।
३ उपन्यास के तत्त्व ।
४ उपन्यास के भेद या प्रकार ।
५ उपन्यास का उद्भव और विकास ।
६ हिन्दी उपन्यास—(क) भारतेन्दु युग (ख) प्रतीक-गहमरी-खत्री आदि (ग) प्रेमचन्द और उनके अनुयायी (घ) जैनेन्द्र जोशी भगवतीचरण (ङ) राहुल यशपाल, (च) हजारीप्रसाद, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा, (छ) अन्य ।
७ उपसंहार ।

उपन्यास शब्द का मूल अर्थ है—निकट रखी हुई वस्तु, (उप—निकट न्यास—रखी हुई) किन्तु आधुनिक युग में इसका प्रयोग साहित्य के एक ऐसे रूप विशेष के लिए होता है जिसमें एक दीर्घ कथा का वर्णन गद्य में किया जाता है। यद्यपि मूल अर्थ से प्रचलित अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है फिर भी कुछ विद्वानों ने दोनों में संगति बैठाने का प्रयत्न किया है। एक लेखक महोदय का विचार है कि उपन्यास में जीवन को बहुत निकट प्रस्तुत कर दिया जाता है अतः इसका यह नाम सर्वथा उचित है किन्तु वे भूल गए हैं कि साहित्य के कुछ अन्य अंगों—जैसे कहानी नाटक एकांकी आदि—में भी जीवन को उपन्यास की ही भाँति बहुत समीप उपस्थित कर दिया जाता है। प्राचीन काव्य शास्त्र में इस शब्द का प्रयोग नाटक की 'प्रतिमुख-संधि' के एक उपभेद के रूप में किया गया है। भरत-मुनि ने इसके लिए 'उपपत्तिकृतो ह्यर्थ' तथा 'प्रसादनम्' आदि विशेषण प्रस्तुत किए हैं जिनका अर्थ होता है—किसी अर्थ को युक्तिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करनेवाला तथा प्रसन्नता प्रदान करनेवाला' किन्तु यह बात साहित्य के अन्य अंगों पर भी लागू होती है। अस्तु, 'उपन्यास' शब्द का कथा-साहित्य के अंग विशेष के लिए क्यों प्रयोग होने लग गया तथा सबसे पूर्व किस व्यक्ति ने ऐसा किया—यह एक अनुसंधान का विषय है।

आधुनिक युग में उपन्यास शब्द अंग्रेजी के 'नावल' (novel) के अर्थ में प्रयुक्त होता है जिसका अर्थ जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है एक दीर्घ कथात्मक गद्य रचना है। वह बृहत् आकार का गद्य आख्यान या वृत्तान्त जिसके अन्तर्गत वास्तविक जीवन के प्रतिनिधित्व का दावा करनेवाले पात्रों और कार्यों का चित्रण किया जाता है। गुजराती में 'नवल-कथा' मराठी में 'कादम्बरी' एवं बंगला में 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग भी अंग्रेजी के 'नावल' के अर्थ में ही किया जाता है। सम्भवतः हिन्दी में भी इस शब्द का प्रयोग

बगला के अनुकरण पर ही होने लगा है। खैर यह अनुकरण चाहे ठीक हो या न हो किन्तु अब इसका प्रचलन इतना अधिक हो गया है कि इसे हटाना, परिवर्तित करना या संशोधित करना सम्भव नहीं।

उपन्यास के तत्त्व

पाश्चात्य विद्वानों ने उपन्यास के मुख्यतः छः तत्त्व निर्धारित किए हैं—(१) कथा-वस्तु (२) पात्र या चरित्र चित्रण (३) कथोपकथन (४) देश-काल, (५) शैली और (६) उद्देश्य। हमारे विचार से इस विश्लेषण में उपन्यास के एक बड़े महत्त्वपूर्ण तत्त्व की उपेक्षा की गई है और वह तत्त्व है—भाव या रस। साहित्य का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व—भाव माना गया है तथा साहित्य और दर्शन, साहित्य और विज्ञान को पृथक् करने वाला तत्त्व भाव ही है। साहित्य का कोई भी अंग या कोई भी रूप—कविता नाटक उपन्यास—इस भाव-तत्त्व से शून्य नहीं रह सकता वह साहित्य की श्रेणी में ही नहीं आ सकता। वृन्दावनलाल के उपन्यासों में से भाव-तत्त्व को निकाल दीजिए वे उपन्यास न रहकर इतिहास बन जाएंगे जैनेन्द्र अज्ञेय जोशी के उपन्यासों को मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण से पृथक करनेवाला तत्त्व, भावनाओं का चित्रण ही है। आचार्य गुलाब राय जी ने एक बार इस तत्त्व की ओर संकेत भी किया था किन्तु विदेशी विद्वानों का विचार शक्ति से हमारा दिमाग इस तरह अवरुद्ध रहता है कि उसमें स्वदेशी आचार्यों की मौलिक धारणाएँ कठिनता से प्रवेश पा सकती हैं।

उपन्यास की कथावस्तु में प्रमुख कथानक के साथ-साथ कुछ प्रासंगिक कथाएं भी चल सकती हैं किन्तु दोनों परस्पर सुसम्बद्ध होनी चाहिए। उसके कथानक का आधार वास्तविक जीवन होना चाहिए जिससे कि उसमें स्वाभाविकता रहे किन्तु जिन उपन्यासों का लक्ष्य ही विचित्र घटनाओं द्वारा आश्चर्यजनक बातों का निरूपण करना हो, वहाँ यह नियम लागू नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए अंग्रेजी के एच० जी० वेल्स ने अपने कथा-साहित्य में जान-बूझकर ही काल्पनिक चमत्कारपूर्ण घटनाओं का वर्णन किया है अतः यदि इस ढंग से उपन्यास लिखे जायें तो उनमें ऐसा होना स्वाभाविक है। श्री प्रेमचन्द जी ने अपने कायाकल्प में 'पुनर्जन्म' को ही उद्देश्य माना है अतः उसमें एक ही पात्र के तीन जीवनों की घटनाओं का समावेश होना स्वाभाविक है, भले ही वे पाठक जो पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास नहीं रखते इसे एक दोष बतावें।

उपन्यास के कथानक के तीन आवश्यक गुण हैं—रोचकता, स्वाभाविकता एवं प्रवाह या गतिशीलता। उपन्यास के प्रथम पृष्ठ में ही ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि पाठक के हृदय में ऐसा कौतूहल जागृत कर दे कि वह पूरी रचना को पढ़ने के लिए विवश हो जाय। यदि कोई पाठक किसी उपन्यास को जान-बूझकर अधूरा छोड़ देता है तो यह दोष पाठक का नहीं, अपितु लेखक का है जो अपने उपन्यास के कथानक में प्राण नहीं फूंक सका।

पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी स्वाभाविकता, सजीवता एवं क्रमिक विकास का होना आवश्यक है। प्राचीन महाकाव्यों की भाँति उपन्यास के पात्र न तो अति मानवीय होते हैं और न ही उनका चरित्र प्रारम्भ से लेकर अन्त तक एक जैसा होता है। पात्रों में

वर्गगत विशिष्टताओं के साथ-साथ वैयक्तिक विशेषताओं का भी समन्वय होना चाहिए, अन्यथा उनके व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाएगा। गोदान में होरी, हीरा और शोभा— तीनों एक ही परिवार और एक ही वर्ग से सम्बन्धित हैं किन्तु फिर भी तीनों में इतना सूक्ष्म अन्तर रखा गया है जिससे हम एक-दूसरे को पहचान सकें अलग कर सकें। पात्रों के चरित्र में परिवर्तन या विकास परिस्थितियों व वातावरण के प्रभाव से क्रमशः दिखाया जाना चाहिए। कथोपकथन, देश-काल और शैली पर भी स्वाभाविकता और सजीवता की बात लागू होती है। विचार, समस्या और उद्देश्य की व्यंजना इस ढंग से होनी चाहिए कि वह रचना की स्वाभाविकता एवं रोचकता में बाधक सिद्ध न हो। इन सभी तत्त्वों का लक्ष्य मुख्यतः पाठक को भावानुभूति प्रदान करना है अतः इनका समन्वय भाव-तत्त्व के अनुकूल होना चाहिए न कि भाव-तत्त्व का इनके अनुकूल। प्रत्येक उपन्यास में किसी एक भावना की प्रमुखता होती है जैसे—प्रेमचन्दजी के 'निर्मला' और गोदान में करुणा की, वर्माजी के मृगनयनी में शौर्य या उत्साह की, जोशीजी के संन्यासी में रति या प्रेम की। उपन्यास के भाव तत्त्व की आयोजना एवं उसका विश्लेषण रस सिद्धान्त के आधार पर किया जाना उचित है। यदि हमारे लेखक और आलोचक इस ओर ध्यान दें तो नवीनतम उपन्यास-साहित्य में विकसित होनेवाली अति बौद्धिकता व शुष्कता की प्रवृत्ति को नियन्त्रित किया जा सकता है। जो विद्वान् विशुद्ध विचारात्मकता या शुष्क सिद्धान्त प्रतिपादन में रुचि रखते हैं उन्हें चाहिए कि वे उपन्यास को छोड़कर दर्शन, मनोविज्ञान या तर्क शास्त्र' के ग्रन्थों में प्रवृत्त हों अन्यथा उपन्यास साहित्य, उपन्यास साहित्य न रहकर उपन्यास शास्त्र बन जायगा।

भेद

हिन्दी के आलोचकों ने उपन्यास के अनेक भेद किए हैं जैसे घटना प्रधान, चरित्र प्रधान, सामाजिक, ऐतिहासिक, मनोविश्लेषणात्मक आदि। यह वर्गीकरण वैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा असंगत एवं अव्यावहारिक है। क्या सामाजिक उपन्यासों में घटनाओं की प्रधानता नहीं होती? अथवा मनोविश्लेषणात्मक में चरित्र की प्रधानता नहीं होती? पहले दो वर्गों का सम्बन्ध उपन्यास के तत्त्वों से है जब कि सामाजिक और ऐतिहासिक का सम्बन्ध उनकी विषय-वस्तु से है। उपन्यासों का वर्गीकरण या तो उनके विषय के आधार पर अथवा तात्त्विक या शैलीगत विशेषताओं के अनुसार होना चाहिए किन्तु उपर्युक्त वर्गीकरण में दोनों को अनुचित ढंग से मिला दिया गया है। विषय वस्तु की दृष्टि से उपन्यास के क्षेत्र की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती है— वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक आदि अनेक विषयों का समावेश उपन्यासों में किया जा सकता है। ज्यों-ज्यों देश और काल के अनुसार मानव जाति की रुचि में परिवर्तन होता रहेगा त्यों-त्यों उपन्यास का विषय भी बदलता रहेगा अतः विषय-वस्तु के आधार पर किए गए वर्गीकरण को भी प्रत्येक युग में परिवर्तित करना पड़ेगा। इसी प्रकार उपन्यास-साहित्य के विकास के साथ-साथ उसमें नयी-नयी शैलियों का प्रयोग तथा नवीन शिल्पगत प्रवृत्तियों का विकास भी सदा होता

रहेगा अत इनके आधार पर भी उपन्यास के भेदापद को स्थायी रूप स निर्धारित नहा किया जा सकता। हम उपन्यास के तत्वा की प्रमुखता के आधार पर ही उस इन सात वर्गों म विभाजित करना अधिक उचित समझत हैं—(१) कथावस्तु प्रधान या घटना प्रधान, (२) चरित्र प्रधान (३) कथोपकथन प्रधान या सवादात्मक, (४) देश-काल प्रधान या वातावरण प्रधान, (५) शली प्रधान, (६) उद्देश्य प्रधान या विचारात्मक अथवा समस्या प्रधान और (७) रस प्रधान अथवा भावात्मक। यद्यपि प्रत्यक उपन्यास म उपर्युक्त सभी तत्व किसी न किसी मात्रा म विद्यमान रहत हैं किन्तु फिर भी लेखक के दष्टिकोण, युग की प्रवत्ति आधारभूत विषय के अनुसार प्रत्यक उपन्यास म कोइ एक तत्त्व प्रमुखता प्राप्त कर लेता है। हिन्दी के प्रारम्भिक तिल्स्मी ऐयारी एव जासूसी उपन्यासा म घटनाआ का प्रधानता था, ता अयोध्यासिंह उपाध्याय के ठेठ हिन्दी का ठाठ म कोरी शली का ठाठ था। प्रेमचन्दजी के उपन्यासा म समस्याआ का प्रमुखता थी तो वृन्दावनलाल वर्मा की रचनाआ म वातावरण या देश-काल की प्रमुखता है। इसी प्रकार जनद्र इलाचद्र जोशी आदि लखका की रचनाआ म जिह 'मनोविश्लेषणात्मक' कहा गया है मुख्यत पात्रा के चरित्र क विश्लेषण को सर्वाधिक महत्व दिया जाता है। कुछ एसे उपन्यास भी रचे गए हैं और रच जा सकत हैं जिनम कथोपकथन का बाहुल्य हो या जिनम विचारात्मकता की अपेक्षा भावात्मक उद्गारा की प्रधानता हो। अत हम समझत हैं कि इस प्रकार का वर्गीकरण उपन्यास-कला के स्वरूप एव उसकी प्रवत्तिया का स्पष्ट करन म भी सहायक सिद्ध हागा।

उपन्यास का उद्भव और विकास

आधुनिक उपन्यास-साहित्य के रूप विधान का विकास सबसे पहले यूरोप म माना जाता है किन्तु इसका यह तात्पय नहा कि प्राचीन भारत म उपन्यास जसी किसी विधि का प्रचार ही नही रहा। सस्कृत गद्य म लिखे गए पचतन्त्र, हितोपदेश, बताल पर्चविशति बहृत्कथा मजरी, वासवदत्ता, कादम्बरी और दशकुमार-चरित म हम क्रमश औपन्यासिकता का विकास मिलता है। पचतन्त्र और हितापदेश म पशु-पक्षिया का इतिवत्त है बताल-पर्चविंशति और बहत्कथा-मजरी म मानवीय घटनाआ का वणन है, किन्तु उनम अस्वाभाविकता आ गइ है अत आधुनिक उपन्यास से इनम बहुत अन्तर है। कुछ विद्वाना न कादम्बरी' को भारत का पहला उपन्यास माना है यहाँ तक कि मराठी साहित्य म उपन्यास का पर्यायवाची ही 'कादम्बरी है, किन्तु हमारे विचार से यह ठीक नहा। 'कादम्बरी' म अलौकिकता भावात्मकता एव आलकारिकता का आग्रह इतना अधिक है कि उस उपन्यास कहना उपन्यास' शब्द के साथ अन्याय हागा। वस्तुत मानवीय चरित्र के स्वाभाविक चित्रण मनावज्ञानिक तथ्या के उद्घाटन यथार्थवादी दष्टिकोण एव शली की स्वाभाविकता की दष्टि स दशकुमार चरित का हम भारत का पहला सफल उपन्यास कह सकत हैं। इसम अनेक स्वतन्त्र कथानका को मूल कथावस्तु के क्षीण तन्तुआ के द्वारा परस्पर सम्बद्ध किया गया है जो आधुनिक उपन्यास की दष्टि से इसका यह एक बडा भारी दाष है किन्तु इसके अन्य गुणा को देखत हुए यह दोष उपेक्षणीय कहा जा सकता है।

संस्कृत के कथा-साहित्य का प्रचार अरब, ईरान तथा यूरोप के अनेक देशों में होता हुआ ठेठ यूनान तक हो गया। संस्कृत की अनेक कथाओं का अनुवाद मध्य-एशिया और यूरोप की विभिन्न भाषाओं में हुआ जिसके आधार पर अनेक पाश्चात्य विद्वान् ये यूरोप के रोमांटिक-कथा साहित्य का मूल उद्गम भारतीय कथा-साहित्य को मानते हैं। जिस प्रकार भारत से भेजी हुई रुई और ऊन को यूरोपवाले कपड़े के बढ़िया थानों में परिवर्तित करके लौटाते हैं, ठीक वैसे ही भारत का प्राचीन कथा-साहित्य यूरोप से क्रमशः रोमांटिक कथा-साहित्य एवं उपन्यास का रूप धारण करके लौटा।

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है उपन्यास का उद्भव यूरोप में रोमांटिक कथा साहित्य से हुआ जो मूलतः भारतीय प्रेमाख्यानों से प्रेरित था। रोमांटिक का अर्थ है जिसमें प्रेम और साहस का निरूपण हो। संस्कृत के 'वासवदत्ता' 'कादम्बरी' और 'दशकुमार चरित' में प्रेम, साहस और भय का ही चित्रण किया गया है। इस युग के भारतीय कथा साहित्य में इन तत्त्वों की इतनी प्रधानता थी कि आचार्य रुद्रट ने कथा-साहित्य के लक्षण निर्धारित करते समय प्रेम और साहस को उसका आवश्यक लक्षण माना है। यूरोप में रोमांटिक उपन्यासों का प्रचार सर्वप्रथम इटली में माना जाता है। चौदहवीं शताब्दी के मध्य में इटली के उत्तर बोकेशियो ने 'डी कैमरान' की रचना की जो व्यंग्य और विनोद से ओत-प्रोत था। सत्रहवीं शती में स्पेन के लेखक सरवन्टे ने 'डान क्विक्जोट' की रचना की। आगे चलकर फ्रान्स में रोमानी और यथार्थवादी कथा-साहित्य की बहुत उन्नति हुई। दूसरी ओर *सत्रहवीं अठारहवीं शती में इंग्लैण्ड में अनेक महत्त्वपूर्ण उपन्यासों की रचना हुई जैसे*— सर फिलिप सिडनी कृत 'आर्केडिया' (१५९०) जॉन बुनियन का 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' (१६८८) डेनियल डिफो का 'राबिन्सन क्रूसो' (१७१९) जोनाथन स्विफ्ट का 'गुलीवर्स ट्रेवल्स' (१७२६) आदि। आगे चलकर इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी व रूस में अनेक उच्च कोटि के उपन्यासों की रचनाएँ हुई, जिनमें सेम्युअल रिचर्डसन का 'पामेला' (१७४०) हेनरी फील्डिंग का 'टाम जोन्स' (१७४९), आलिवर गोल्ड स्मिथ का 'विकार ऑफ वेक फील्ड', जेन आस्टिन का 'प्राइड एण्ड प्रेजुडिस' सर वाल्टर स्काट का 'ववर्ली नावल्स', चार्ल्स डिकेन्स का 'डेविड कॉपर फील्ड' ब्राण्टी का 'जेन आयर' थैकरे का 'वेनिटी फेयर' जार्ज इलियट का 'एडम बीड' आदि इंगलैंड में प्रकाशित हुए। फ्रांस के उपन्यास-लेखकों में वाल्तेयर, विक्टर ह्यूगो, बाल्जक, जार्ज सैण्ड, जोला, फ्लाबेयर, *अनातोले फ्रांस आदि* उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त जर्मनी में गेटे तथा रूस में पुश्किन, गोगोल, लर्मन्तोफ, तुर्गनेव, दोस्तोवस्की, टालस्टाय जैसे महान् लेखकों का आविर्भाव हुआ।

उपर्युक्त नामावली से स्पष्ट है कि अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक यूरोप के विभिन्न भागों में उपन्यास साहित्य का पर्याप्त विकास हो चुका था, किन्तु हिन्दी में इसका आविर्भाव उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में हुआ। आधुनिक युगीन भारतीय साहित्य में उपन्यासों का विकास अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क में हुआ, अतः जिन भाषा भाषियों का अंग्रेजी से अधिक सम्पर्क था उनमें उपन्यासों का प्रचार पहले होना स्वाभाविक था। यही कारण था कि बंगाल में उपन्यासों की रचना हिन्दी से पूर्व आरम्भ हो गई थी। बंगला

के अनेक उपन्यासों—बंकिमचन्द्र, शरत्, रवीन्द्र आदि—का हिन्दी उपन्यास साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा।

हिन्दी उपन्यास

हिन्दी साहित्य के सभी अंगों के विकास की ओर ध्यान देनेवाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की दृष्टि उपन्यास-साहित्य पर भी पड़ी। उन्होंने 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' नामक एक उपन्यास का अनुवाद किया तथा एक मौलिक उपन्यास की भी रचना आरम्भ की जो दुर्भाग्य से पूरा नहीं हो सका। हिन्दी में सबसे पहला मौलिक उपन्यास 'परीक्षा-गुरु' भारतेन्दु के जीवन काल में ही—सन् १८८२ में—प्रकाशित हो गया था, जिसकी रचना का श्रेय लाला श्रीनिवासदास को है। लेखक ने भूमिका में स्पष्ट किया है कि इसके रचने में महाभारतादि संस्कृत, गुलिस्ताँ वगैरह फारसी, स्पेक्टेटर, लार्ड बेकन, गोल्डस्मिथ, विलियम कूपर आदि के पुराने लेखों और स्त्रीबोध आदि के वर्तमान रिसालों से बड़ी सहायता मिली है। इससे तथा इसके ढाँचे से पता चलता है कि इसकी रचना बंगला उपन्यासों के आधार पर न होकर सीधे अंग्रेजी के उपन्यासों की प्रेरणा से हुई। परीक्षा-गुरु में दिल्ली के एक सेठ-पुत्र की कहानी है, जो कुसंगति में पड़ गया था तथा जिसका उद्धार अन्त में एक सज्जन मित्र द्वारा हुआ। लेखक में उपदेशात्मक की प्रवृत्ति अधिक होने के कारण यह रचना एक सफल उपन्यास का रूप धारण नहीं कर सकी।

भारतेन्दु-युग के अन्य कई लेखकों ने भी उपन्यासों की रचना की जिनमें श्रद्धाराम फिल्लौरी का 'भाग्यवती', रत्नचंद प्लीडर का 'नूतन चरित्र' (१८८३), बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रह्मचारी' (१८८६) और 'सौ अजान एक सुजान' (१८९२), राधाकृष्ण दास का 'निस्सहाय हिन्दू' (१८९०), राधाचरण गोस्वामी का 'विधवा विपत्ति' (१८८८), कार्तिकप्रसाद खत्री का 'जया' (१८९६), बालमुकुन्द गुप्त का 'कामिनी' आदि उल्लेखनीय हैं। डा० विजयशंकर मल्ल ने श्रद्धाराम फिल्लौरी जी के 'भाग्यवती' को हिन्दी का पहला उपन्यास घोषित किया है किन्तु उन्होंने अपनी घोषणा की पुष्टि अपेक्षित प्रमाणों से नहीं की। इन लेखकों ने मौलिक उपन्यासों के अतिरिक्त बंगला के उपन्यासों के भी हिन्दी में अनुवाद किए। बाबू गदाधर सिंह ने 'बंग विजेता' और 'दुर्गेशनन्दिनी', राधाकृष्णदास ने 'स्वर्णलता', प्रतापनारायण मिश्र ने 'राजसिंह', 'इंदिरा', 'राधारानी' आदि, राधाचरण गोस्वामी ने 'विरजा', 'जावित्री', 'मृण्मयी' आदि का अनुवाद किया। बाबू रामकृष्ण वर्मा और कार्तिकप्रसाद खत्री ने उर्दू और अंग्रेजी के नाटक ने रोमांटिक और जासूसी उपन्यासों के अनुवाद प्रस्तुत किए। वस्तुतः भारतेन्दु-युग में अनूदित उपन्यासों की ही प्रधानता रही। मौलिक उपन्यासों में भी कला का विकास दृष्टिगोचर नहीं होता। उनमें इतिवृत्त एवं घटनाओं की प्रधानता, चरित्र चित्रण का अभाव, उपदेशात्मकता की भरमार एवं शैली की अपरिपक्वता दृष्टिगोचर होती है।

हिन्दी के मौलिक उपन्यासों के प्रचार में वृद्धि करने का श्रेय तीन लेखकों—देवकीनंदन खत्री, गोपालराम गहमरी और किशोरीलाल गोस्वामी का है। खत्रीजी ने सन् १८९१ में 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता-संतति' की रचना की जिनमें तिलस्मी और

एयारी का वर्णन है। ये उपन्यास इतने अधिक लोकप्रिय हुए कि कई लोगों ने केवल इन्हें पढ़ने के लिए ही हिन्दी सीखी। गहमरीजी ने एक 'जासूस' नामक पत्र निकाला, जिसमें पाँच दर्जन से भी अधिक जासूसी उपन्यास लिखकर प्रकाशित किए। उनके उपन्यासों का मूलाधार अंग्रेजी के जासूसी उपन्यास होते थे। गोस्वामीजी ने भी 'उपन्यास' पत्रिका निकाली जिसमें उनके ६५ छोटे-बड़े उपन्यास प्रकाशित हुए। गोस्वामीजी के उपन्यासों का विषय सामाजिक था। किंतु उनमें कामुकता और विलासिता का चित्रण अत्यधिक था। अस्तु लेखक त्रय की ये रचनाएँ कलात्मक दृष्टि से अत्यन्त साधारण कोटि की हैं। इनमें प्रायः अस्वाभाविक घटनाओं की भरमार है।

खत्री गहमरी और गोस्वामी की सम्मिलित त्रिवेणी और प्रेमचंद के बीच की सीमा को मिलानेवाली थी हरिऔध, लज्जाराम मेहता एवं कुछ अनुवादक हैं। हरिऔधजी ने ठेठ हिन्दी का ठाठ और अधखिला फूल लिखकर आई० सी० एस० के विद्यार्थियों के लिए हिन्दी मुहावरों की पाठ्य-पुस्तक का अभाव पूरा किया तो दूसरी ओर मेहताजी ने आदर्श हिन्दू और हिन्दू गृहस्थ लिखकर सुधारवाद की पताका लहराई।

प्रेमचन्द (१८८०-१९३६ ई०) के पदार्पण के पूर्व तक हिन्दी उपन्यास मानो किसी अविकसित कलिका की भाँति मौन, निस्पंद एवं चेतना-हीन सा हो रहा था। दिवाकर की प्रथम रश्मियों की भाँति प्रेमचन्द की पावन कला का पुनीत स्पर्श पाकर मानो वह जग उठा, खिल उठा और मुस्कराने लगा। राजा रानियों और सेठ-सेठानियों के महलों की चार-दीवारी में बन्द रहनेवाले कथानक जनसाधारण की लोक-भूमि में उन्मुक्त रूप से विचरण करने लगा। लौह मूर्तियों की भाँति स्थिर रहनेवाले या कठपुतलियों की भाँति लेखकों के मौन-सकेतों पर अस्वाभाविक गति से दौड़ने फुदकनेवाले पात्र मांसल सजीव और व्यक्तित्व-सम्पन्न होकर सामान्य मनुष्यों के रूप में आत्म प्रेरणा से परिचालित होते दिखाई पड़ने लगे। इसी प्रकार कथोपकथन, देश-काल, शैली, उद्देश्य, रस आदि अन्य औपन्यासिक तत्वों का विकास प्रथम बार प्रेमचन्दजी की कृतियों में हुआ। उन्होंने केवल सस्ते मनोरंजन के स्थान पर जीवन की ज्वलन्त समस्याओं को अपनी कला का लक्ष्य बनाया। यही कारण है कि उनके प्रत्येक उपन्यास में किसी न किसी सामयिक समस्या का चित्रण मार्मिक रूप में हुआ है, जैसे सेवा सदन (१९१८) में वेश्याओं की, रंगभूमि (१९२८) में शासक वर्ग के अत्याचारों की, प्रेमाश्रम (१९२१) में किसानों की, कर्म-भूमि (१९३२) में हरिजनों की, निर्मला (१९२२) में दहेज और वृद्ध विवाह की, गबन (१९३१) में मध्यवर्ग की आर्थिक विषमता का और गोदान (१९३६) में पुनः किसान मजदूर के शोषण का। प्रेमचन्दजी के प्रारम्भिक उपन्यासों में आदर्शवादिता अधिक होने के कारण उनमें कहीं कहीं काल्पनिकता और अस्वाभाविकता अधिक आ गई है किन्तु आगे चलकर वे पूर्ण यथार्थवादी बन गए, जिसका प्रमाण गोदान में मिलता है। जहाँ प्रारम्भिक रचनाओं में उन्होंने समस्याओं के समाधान का आदर्शवादी ढंग से प्रयत्न किया है वहाँ उनके अन्तिम उपन्यासों—निर्मला, गोदान आदि में केवल समस्या को प्रस्तुत करके ही सन्तोष कर लिया गया है।

प्रेमचन्दजी के अनन्तर हिन्दी में सर्वाधिक उच्चकोटि के उपन्यासकारों का प्रादु-

के साथ-साथ बौद्धिकता आवश्यकता से अधिक है।

श्री इलाचन्द्र जोशी ने भी 'सन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'सुबह के भूले', 'मुक्ति-पथ' आदि में चारित्रिक प्रवृत्तियों एवं व्यक्तिगत परिस्थितियों का हो सूक्ष्म विश्लेषण किया है किन्तु जैनेन्द्रजी का शक्ति-पूर्ण स्थान नहीं रहा है। जैनेन्द्र प्रत्येक उपन्यास में प्रस्तुत करने के लिए नये-नये स्थान हैं नये-नये समस्याएँ हैं अतः उन्हें एक ही वस्तु का बार-बार दोहराने की आवश्यकता नहीं पड़ती। एक ओर उनके पास कल्पना का वैभव है तो दूसरी ओर अनुभूतियों का संचित कोष—जिसके बल पर वे अपनी रचनाओं को सौन्दर्य और रस से भरपूर करने में समर्थ हैं। जैनेन्द्रजी के उपन्यास यदि पत्थर से बनाए हुए एक स्वच्छ मन्दिर हैं तो जोशीजी की रचनाएँ रंग बिरंगे सूक्ष्म रेखाओं से सजे हुए सुन्दर चित्र हैं। जिस जटिल दार्शनिकता पर जैनेन्द्रजी गर्व कर सकते हैं उससे जोशीजी के उपन्यास शून्य हैं किन्तु जोशीजी की भावनाओं का तारल्य भाषा का प्रवाह और शैली की प्रौढ़ता आज के किसी भी उपन्यासकार के लिए स्पर्धा की वस्तु बन सकती है। किन्तु अपनी कुछ रचनाओं में वे दार्शनिकता प्रिय आलोचकों से प्रशंसा पाने के निमित्त या उन्हें केवल विद्यार्थियों के काम की वस्तु बनाने के लोभ से उस शुष्क सिद्धान्त निरूपण में भी पड़ गए हैं, जो उपन्यास की औपन्यासिकता का ह्रास करते हैं—सुबह के भूले, मुक्ति-पथ आदि रचनाएँ ऐसी ही हैं।

भगवतीचरण वर्मा ने 'तीन वर्ष', 'आखिरी दाँव', 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' में सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का ध्यान में रखते हुए भी मनोविश्लेषण को प्रमुखता दी है। दूसरी ओर अज्ञेय जी ने 'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' में यौन प्रवृत्तियों का चित्रण सूक्ष्म, जटिल एवं गम्भीर शैली में किया है जो सामान्य पाठक के हृदय को शान्ति प्रदान करने की अपेक्षा उसके मस्तिष्क को कुरेदने में सहायक सिद्ध होता है।

तृतीय वर्ग में साम्यवादी दृष्टिकोण से लिखे गए उपन्यासों को स्थान दिया जा सकता है। श्री राहुल सांकृत्यायन की 'सिंह सेनापति', 'वोल्गा से गंगा' और श्री यशपाल की 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'मनुष्य के रूप' आदि रचनाओं में वर्ग-वैषम्य का चित्रण करते हुए सामाजिक क्रान्ति का समर्थन किया गया है।

चतुर्थ वर्ग में देशकाल प्रधान या ऐतिहासिक उपन्यास आते हैं। यद्यपि ऐतिहासिक कथानकों की ओर हिन्दी लेखकों का ध्यान बहुत पहले चला गया था, किशोरी लाल गोस्वामी ने कुछ ऐतिहासिक उपन्यास लिखे थे किन्तु उनमें ऐतिहासिकता का निर्वाह नहीं मिलता। इस क्षेत्र की उत्कृष्ट रचनाओं में आचार्य चतुरसेन शास्त्री की 'वैशाली की नगरवधू', श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' और नारचन्द्र यशपाल की 'दिव्या' आदि हैं जिनमें सम्बन्धित युग के सम्पूर्ण वातावरण को प्रस्तुत करने का पूरा प्रयास किया गया है। ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा को चरम विकास तक पहुँचाने का श्रेय श्री वृन्दावनलाल वर्मा को है। आपने 'गढ़-कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी', 'झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई' और 'मृगनयनी' का प्रणयन किया है जिनमें इतिहास के अनेक विस्मृत प्रसंगों को नव-जीवन प्राप्त हुआ है। विशेषतः 'मृगनयनी' में ऐतिहासिकता और औपन्यासिकता, तथ्य और कल्पना, भाव और शैली का सुन्दर समन्वय मिलता है। नवीनतम

ऐतिहासिक उपन्यासों में डॉ० रांगेय राघव का 'अंधा रास्ता' मुनामी का 'भगवान् एकलिंग' आदि उल्लेखनीय हैं।

इनके अतिरिक्त हिन्दी उपन्यासों का एक नया वर्ग आंचलिक उपन्यासों का भी और विकसित हो रहा है। इनमें किसी अंचल या प्रदेश विशेष के वातावरण को सजीव रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार के उपन्यासों में फणीश्वरनाथ रेणु का मैला आंचल और परती परिकथा' उदयशंकर भट्ट का लोक परलोक' बलभद्र ठाकुर के 'आदित्यनाथ, मुक्तावली, नेपाल की वो बेटी, न्यामू सन्यासी का उत्थान तरन-तारन का हिमालय के आंचल' आदि उल्लेखनीय है। इनमें लोक-संस्कृति लोक-गीतों एवं लोक शब्दावली का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है।

इस प्रकार हिन्दी का उपन्यास साहित्य अनेक धाराओं में बँटकर विभिन्न रंग-रूपों में विकसित हो रहा है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के अनन्तर पिछले दस वर्षों में अनेक ऐसे उच्चकोटि के उपन्यासों का प्रकाशन हुआ है जिनमें नये-नये विषयों शिल्प विधियों और शैलियों का प्रयोग मिलता है। यज्ञदत्तजी के 'इंसान' और 'अंतिम चरण' अंचल का चढ़ती धूप, देवेन्द्र सत्यार्थी का रथ का पहिया, धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवा घोड़ा राजेन्द्र यादव का प्रेत बोलते हैं और टूटे हुए लोग डा० सत्यकेतु का मैंने होटल चलाया अमृतलाल नागर का बूंद और समुद्र और शतरंज के मोहरे लक्ष्मीनारायण लाल का 'बया का घोंसला और सांप' आचार्य चतुरसेन शास्त्री का स्वग्राम, भगवतीचरण वर्मा का भूले बिसरे चित्र' कृष्णचन्द्र शर्मा का नागफनी, रांगेय राघव का छोटी सी बात और राई और पर्वत' सत्यकाम विद्यालंकार का बड़ी मछली और छोटी मछली, यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र का अनावृत', अनन्तगोपाल शेवड़े का मंगल मंदिर यशपाल का झूठा सच देवराज का 'अजय की डायरी, जीवनप्रकाश जोशी का विवाह की मंजिलें, मोहन राकेश का अंधेरे बन्द कमरे'—आदि इस दशाब्दी के उत्कृष्ट उपन्यासों में से कुछ हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दी में और भी अनेक—उदयशंकर भट्ट दवीदयाल चतुर्वेदी मस्त बलवन्त सिंह उषादेवी मित्रा कंचनलता सब्बरवाल, गुरुदत्त नागार्जुन पहाड़ी प्रतापनारायण श्रीवास्तव, भगवतीप्रसाद वाजपेयी डा० सत्यप्रकाश संगर, यादवेन्द्र नाथ शर्मा चन्द्र', हेमराज निर्मम आदि ने भी उच्च कोटि के उपन्यासों की रचना की है।

मौलिक उपन्यासों के अतिरिक्त हिन्दी में विदेशी एवं भारतीय भाषाओं के उच्च कोटि के उपन्यासों में सुन्दर अनुवाद भी भारी संख्या में प्रस्तुत हुए हैं। इनमें हेमसन का आग जो बुझी नहीं स्टीफेन ज्विग का विराट मावी डिक का लहरों के बीच' ल्यूमा का तलवार कथा बालजक का क्या वह पागल था आदि उल्लेखनीय हैं। भारतीय लेखकों में से आरिगपूडि के अपने पराये, भवानी भट्टाचार्य का शेर की सवारी मान्टर का यवनि' विमल मित्र का 'साहब बीवी गुलाम' आदि महत्वपूर्ण हैं।

उपलब्धियाँ और अभाव—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि हिन्दी का उपन्यास साहित्य आज अनेक दिशाओं में बड़ी तेजी से आगे बढ़ रहा है। हिन्दी का उपन्यास-साहित्य प्रत्येक दृष्टि से विशाल व्यापक एवं वैविध्यपूर्ण है। अतः अब तक की प्राप्ति पर हम सन्तोष कर सकते हैं, किन्तु भविष्य की ओर देखने पर थोड़ा आशंका भी होती है। स्वतन्त्रता के

वाद से हमारे साहित्यकार अतियथार्थवादिता प्रयोगशीलता एवं नूतनता की प्रवृत्तियों से बुरी तरह ग्रस्त होते जा रहे हैं। यह बात कथा साहित्य के रचयिताओं पर भी लागू होती है। हमारे विचार से अतियथार्थवाद या नग्न यथार्थवाद उस रंगीन मिठाई की तरह से आकर्षक, लुभावना एवं स्वादिष्ट है जिसे खाने के बाद हैजा हो जाने का भय रहता है। अवश्य ही नग्नता अश्लीलता और कामुकता भी जीवन का एक पक्ष है किन्तु हमें अपनी दृष्टि उसी तक सीमित नहीं कर लेनी चाहिए। यदि हमारे साहित्यकार अपने युग और समाज की नग्न तस्वीर देने के साथ साथ स्वस्थ जीवन-दृष्टि, संतुलित दृष्टिकोण एवं व्यापक जीवन-दर्शन भी दे सकें तो इससे उनकी कला में सौन्दर्य के साथ-साथ औदात्य का भी संचार हो सकता है। यह ठीक है कि हमारे आज के कई उपन्यासकारों से स्वस्थ जीवन दर्शन एवं व्यापक विचार धारा की आशा नहीं की जा सकती क्योंकि वे बेचारे स्वयं यौन कुंठाओं से पीड़ित, असफलताओं एवं असंतुलन से जर्जरित तथा पाश्चात्य भोगवादी सभ्यता के आकर्षण में भटके हुए हैं तथा वे साहित्य रचना किसी को कुछ देने के लिए नहीं अपितु अपनी ही कुंठाओं से मुक्ति पाने के लिए कर रहे हैं। ऐसे लेखक हमारी दया के पात्र हैं, पर जो इस स्थिति से ऊँचे उठ सकते हैं उन्हें अवश्य ही इसका प्रयास करना चाहिए। यदि वे जीवन को केवल भोगने के साथ-साथ खुली दृष्टि से उसे देखने-पढ़ने का भी विचार करें तथा अपने-आपको काफी-हाउस के वातावरण से बाहर निकालकर अतीत की महान परम्पराओं एवं वर्तमान की समस्याओं पर भी थोड़ी नजर डालें तो इससे उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व में अधिक संतुलन आ सकता है।

आज के उपन्यास-साहित्य पर यह आक्षेप भी लगाया जा सकता है कि उसका क्षेत्र केवल सुशिक्षित समाज एवं शहरी जीवन तक सीमित हो गया है। आंचलिक उपन्यासों में ग्रामीण जीवन की भी झलकियाँ दी गई हैं पर अनेक उपन्यासकारों ने आंचलिकता को फैशन के रूप में ग्रहण किया है। ग्रामीण जीवन की परिस्थितियों एवं समस्याओं का यथार्थ बोध बहुत कम रचनाओं में उपलब्ध होता है। इस प्रसंग में नवोदित लेखिका सोमावीरा की यह चुनौती ध्यान देने योग्य है—"हमारा आधुनिक साहित्य नगर साहित्य इसलिए है क्योंकि हमारे अधिकांश साहित्यकार केवल मध्यवर्गीय नगर के हैं और केवल इसी वर्ग के लिए लिखते हैं। थोड़ा विचार करने से ही यह बात भली भाँति सामने आ सकती है। पिछले दस वर्षों में कितनी कहानियाँ या उपन्यास गाँव की वास्तविक जिन्दगी को लेकर लिखे गए हैं? आदिवासियों के जीवन पर, किसी राजनैतिक पृष्ठभूमि पर, कारखानों की जिन्दगी पर, रात की सड़क पर, ... की जिन्दगी पर, मिनारियों पर, मानवाधिकार और दिन में ... कारीगरों पर, मछुआरों पर, अछूतों पर, जवान मध्यवर्ग के अतिरिक्त समाज के अन्य अंगों से सम्बन्धित विषयों पर कितने साहित्यकारों ने अपनी कलम उठाई है?" (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, नवम्बर ८) वस्तुतः हमारे उपन्यास-साहित्य का विषय-क्षेत्र सीमित एवं जीवन-दृष्टि संकुचित होता जा रहा है, जो ठीक नहीं। आशा है हमारे साहित्यकार स्वस्थ दृष्टिकोण, व्यापक मुक्तिबोध एवं संतुलित जीवन-दर्शन का उपयोग करते हुए इस अभाव की पूर्ति का प्रयत्न करेंगे।

●

१८ | हिन्दी कहानी : स्वरूप और विकास

१ 'कहानी' शब्द की व्याख्या।
२ कहानी के सामान्य लक्षण।
३ कहानी के तत्व।
४ कहानी के स्वरूप।
५ कहानी का उद्भव और विकास—(क) प्राचीन कहानी (ख) आधुनिक कहानी।
६ हिन्दी में कहानी का विकास—(क) प्रारम्भिक कहानीकार, (ख) प्रथम युग, (ग) द्वितीय युग, (घ) तृतीय युग, (ङ) महिला लेखिकाएं।
७ उपसंहार।

कहानी या 'कथा' शब्द का शाब्दिक अर्थ है—कहना। इस अर्थ के अनुसार जो कुछ भी कहा जाय कहानी है, किन्तु विशिष्ट अर्थ में हम किसी विशेष घटना के रोचक ढंग से वर्णन को 'कहानी' कहते हैं। 'कथा' और 'कहानी' पर्यायवाची होते हुए भी अब दोनों के अर्थ में सूक्ष्म अन्तर आ गया है। कथा व्यापक है, इसमें सभी प्रकार की कहानियों तथा उपन्यासों का समावेश किया जाता है जबकि कहानी के अन्तर्गत लघु कथाओं को ही लिया जाता है। कहानी के अनिवार्य लक्षण हैं—(१) गद्य में रचित होना। (२) मनोरंजक या कौतूहलवर्द्धक होना। (३) अन्त में किसी चमत्कारपूर्ण घटना की योजना। हिन्दी के एक प्राध्यापक महोदय लिखते हैं— कहानी में कथानक का होना आवश्यक तो है लेकिन अनिवार्य नहीं। हमारे विचार से कहानी में किसी कथानक या घटना का होना अनिवार्य है अन्यथा रेखा चित्र और कहानी में कोई अन्तर नहीं रह जायगा।

कहानी के तत्वों की विवेचना करते समय प्रायः उन्हीं छः तत्वों का उल्लेख किया जाता है जो उपन्यास के माने गए हैं जैसे—कथावस्तु, चरित्र चित्रण, कथोपकथन, देश-काल, शैली और उद्देश्य। इसका तात्पर्य है कि तात्विक दृष्टि से कहानी और उपन्यास में कोई अन्तर नहीं है किन्तु ऐसी बात नहीं है। उपन्यास में इन सभी तत्वों का प्रयोग किसी न किसी मात्रा में किया जाता है किन्तु कहानी का क्षेत्र इतना सीमित होता है कि उसमें कुछ तत्वों का छूट जाना स्वाभाविक है। दूसरे उपन्यास और कहानी में तत्वों का प्रयोग विधि में अन्तर है। सभी प्रकार के मिष्टान्नों में मैदा, चीनी, घृत आदि का प्रयोग सामान्यतः किया जाता है किन्तु उनके प्रयोग की मात्रा एवं विधि में अन्तर होता है ठीक यही अन्तर उपन्यास और कहानी में है। उपन्यास की कथावस्तु में एक से अधिक कथानकों का गुम्फन किया जाता है किन्तु कहानी में केवल एक ही कथानक रहता है। उपन्यासकार के कथानक का मार्ग लम्बा होता है, उसके बीच-बीच में अनेक मोड़, अनेक विश्राम-

स्थल एवं अनेक घटना-स्थल उपस्थित होते हैं जबकि कहानीकार की यात्रा छोटी-सी होती है जिसमें विभिन्न मोडों, विश्राम-स्थलों और घटना-स्थलों की सम्भावना ही नहीं होती। इसके अतिरिक्त उपन्यासकार की गति शिथिल होती है, बैलगाडी में बैठे हुए राहगीर की भाँति वह अपने दाएँ-बाएँ ताकता हुआ धीरे-धीरे आगे बढता है जब कि कहानीकार वायुयान की चाल से अपने लक्ष्य की ओर सीधा दौडता है, उसके दाएँ-बाएँ क्या हो रहा है इसे देखने का अवकाश उसे नहीं रहता। उपन्यास में पात्रों की संख्या कहानी से कई गुणा अधिक होती है और वह सभी के व्यक्तित्व की प्रायः सभी विशेषताओं का चित्रण करता है जबकि कहानीकार कुछ पात्रों को लेकर उनकी कुछ विशेषताओं का या किसी एक प्रमुख प्रवृत्ति का ही उद्घाटन कर पाता है। कहानी के कथोपकथन में लम्बे-लम्बे व्याख्यानों या दीर्घ बहसबाजी के लिए स्थान नहीं होता। सभी कहानीकार अपने देश-काल के समस्त वातावरण को प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं समझते। उपन्यासकार की भाँति कहानीकार अपनी रचना में अनेक समस्याओं का या अनेक सिद्धान्तों का चित्रण नहीं करता अपितु वह अपना सारा ध्यान किसी एक विचार, सिद्धान्त या समस्या पर ही केंद्रित करता है।

इनके अतिरिक्त कहानी में भाव-तत्त्व की भी स्थिति होती है। पीछे हमने उपन्यास के प्रसंग में प्रमाणित किया है कि साहित्य के प्रत्येक अंग में भाव-तत्त्व का होना अनिवार्य है, यह बात कहानी पर भी लागू होती है। कहानी में अनेक स्थायी भावों एवं संचारियों का ही प्रस्फुटन हो पाता है। मुक्तककार की भाँति कहानीकार भी रस के सभी अवयवों का प्रत्यक्ष रूप में चित्रण न करके उन्हें व्यंजना के द्वारा व्यक्त करता है। जिन कहानियों में शुष्क इतिवृत्त या कोरा मनोविश्लेषण होता है जिनमें मानवीय भावनाओं को उद्बुद्ध करने की क्षमता नहीं होती वे चौपड, ताश या शतरंज के खेल की भाँति पाठक के मस्तिष्क को थोडी देर तक उलझाए रखने में तो समर्थ होती हैं किन्तु हृदय की सच्ची भावानुभूति उनसे प्राप्त नहीं हो सकती। ऐसी कहानियों का स्थान साहित्य में वृन्द, गिरिधर, बैताल जैसे मुक्तककारों की सूक्तियों के तुल्य ही है।

कहानी के स्वरूप का परिचय देनेवाली एक पुस्तक हिन्दी में बहुत सुन्दर आवरण पृष्ठ के साथ प्रकाशित हुई है जिसमें कहानी के छः उपकरण निर्धारित किए गए हैं—(१) कल्पना और भाव (२) प्रेम (३) सौन्दर्य (४) कथानक का आधार (५) करुणा और (६) हास्य। यहाँ लेखक के दृष्टिकोण की मौलिकता का अच्छा परिचय मिलता है—क्योंकि हमारा विश्वास है कि किसी भी अन्य लेखक या विद्वान आलोचक ने ऐसा विवेचन नहीं किया होगा किन्तु साथ ही इसमें अनेक असंगतियाँ भी विद्यमान हैं। क्या प्रेम, करुणा और हास्य का समावेश प्रथम उपकरण 'भाव' में नहीं हो जाता? इसके अतिरिक्त यह भी प्रश्न उठता है कि क्या कहानी में प्रेम, करुणा और हास्य के अतिरिक्त अन्य मानवीय भावनाओं का चित्रण सम्भव नहीं? कल्पना के उपकरणों में 'कथानक के आधार' को स्थान दिया गया, किन्तु स्वयं कथानक को नहीं और यदि 'कथानक के आधार' को लिया जाता है तो सौन्दर्य और प्रेम के आधार को क्यों नहीं? वस्तुतः कहानी के तत्त्वों का यह विवेचन सर्वथा अनुपयुक्त एवं असंगत है।

कहानी का उद्भव और विकास

मानव-सभ्यता के आदि-काल से ही कहानी कहने की परम्परा किसी-न किसी रूप में रही है, अतः विश्व के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ ऋग्वेद में भी यम-यमी, पुरुरवा उर्वशी आदि संवादात्मक आख्यानों का मिलना स्वाभाविक है। आगे चलकर हमारे विभिन्न ब्राह्मणों उपनिषदों महाकाव्यों पुराणों जैन-बौद्ध साहित्य तथा अवदान और जातक साहित्य में कहानियों का अगाध भंडार मिलता है। संस्कृत में रचित पंचतंत्र और हितोपदेश की कहानियों का प्रचार दूर-दूर तक हुआ। पंचतंत्र का अनुवाद छठी शती में ईरान के शाह खुसरो नौशरवाँ ने पहलवी भाषा में करवाया। तदनन्तर ईसाई पादरी बुद ने सीरियन भाषा में तथा कुछ अन्य विद्वानों ने अरबी, लैटिन, ग्रीक, जर्मन, फ्रेंच स्पेनिश और अंग्रेजी में इसके अनुवाद किए। भारतीय कथा साहित्य के कुछ अन्य ग्रन्थों का भी पाश्चात्य देशों में पर्याप्त प्रचार हुआ। इस प्रकार कहा जा सकता है कि विश्व के कथा-साहित्य के विकास में भारतीय कथा-साहित्य ने पर्याप्त योग दिया।

आधुनिक कहानी का आरम्भ यूरोप के विभिन्न लेखक-समूहों के द्वारा १९वीं शती में हुआ। इस लेखक-समूह में सर्वप्रथम उल्लेखनीय हैं जर्मनी के ई० टी० डब्ल्यू० हॉफमन जिनके कहानी संग्रह १८१४ और १८२१ के बीच प्रकाशित हुए। दूसरी ओर जैकब और विल्हेल्म ग्रिम ने परियों और पुराणों की कथाओं के संग्रह इसी काल में प्रकाशित करवाए। किन्तु इस युग में सर्वोत्कृष्ट कहानियाँ एडगर एलन पो के द्वारा लिखी गई। पो ने न केवल कहानियाँ लिखीं अपितु उसने कहानी-कला का विवेचन भी किया। उसके अनुसार कहानी में पूर्व निश्चित प्रभावान्विति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। लेखक इस प्रभावान्विति को ध्यान में रखकर सारी कहानी को एक सूत्र में गूँथता है। आगे चलकर मोपासाँ चेखव ओ० हेनरी आदि ने कहानी-कला के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक रूप की ओर भी अधिक विकास किया। यूरोप में विकसित कहानी का स्वरूप अंग्रेजी और बंगला के माध्यम से बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हिन्दी में पहुँचा।

यहाँ हम प्राचीन कहानी और आधुनिक कहानी के स्वरूप का अन्तर स्पष्ट कर लेना चाहिए। प्राचीन कहानियों का क्षेत्र इतना व्यापक होता था कि उसमें पशु-पक्षियों तक को भी पात्रों के रूप में समावेश होता था, किन्तु आधुनिक कहानी सामान्यतः मनुष्यों तक सीमित है। दूसरे प्राचीन कहानी में उच्च-वर्ग—राजा रानी सेठ-सेठानी आदि—के जीवन की काल्पनिक घटनाओं का वर्णन अधिक होता था जबकि आधुनिक युग में जन-साधारण के जीवन की यथार्थ परिस्थितियों का अंकन होता है। प्राचीन कहानियों में पात्रों के चरित्र का विश्लेषण नहीं होता था और न ही उनके चरित्र में क्रमिक विकास प्रस्तुत किया जाता था जबकि आधुनिक कहानियों में ऐसा होता है। उनमें देश-काल के वातावरण का भी चित्रण अपेक्षित नहीं था। वस्तुतः प्राचीन कहानी में अलौकिकता, अस्वाभाविकता आदर्शवादिता एवं काल्पनिकता का आग्रह अधिक था, जबकि आधुनिक कहानी में लौकिकता स्वाभाविकता, यथार्थवादिता एवं विचारात्मकता पर अधिक बल दिया जाता है। प्राचीन कहानी स्वर्ग-लोक की कल्पना थी जबकि आधुनिक कहानी हमें धरती के सुख-दुख का स्मरण कराती है।

हिन्दी में विकास

हिन्दी गद्य में 'कहानी' शीर्षक से प्रकाशित होनेवाली सबसे पहली रचना 'रानी केतकी की कहानी' है जो सन् १८०३ ई० में लिखी गई। इसके अनन्तर राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के 'राजा भोज का सपना' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'अद्भुत-अपूर्व स्वप्न' का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें कहानी की सी रोचकता मिलती है। आधुनिक ढंग की कहानियों का आरम्भ आचार्य शुक्ल ने 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन-काल में माना है। इन्होंने प्रारम्भिक कहानियों का विवरण इस प्रकार दिया है—(१) इन्दुमती—किशोरीलाल गोस्वामी (१९०० ई०) (२) गुलबहार—किशोरीलाल गोस्वामी (१९०२) (३) प्लेग की चुड़ैल—मास्टर भगवानदास (१९०२) (४) ग्यारह वर्ष का समय—रामचन्द्र शुक्ल (१९०) (५) पण्डित और पण्डितानी—गिरजादत्त बाजपेयी (१९०३) (६) दुलाईवाली—बंग महिला (१९०७)। ये सभी कहानियाँ सरस्वती में प्रकाशित हुई थीं। इस प्रकार हिन्दी के प्रथम कहानीकार श्री किशोरीलाल गोस्वामी सिद्ध होते हैं।

उपर्युक्त प्रारम्भिक कहानीकारों के अनन्तर हिंदी में अनेक उच्चकोटि के कहानीकार—जयशंकर प्रसाद प्रेमचन्द चन्द्रधर शर्मा गुलेरी विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक सुदर्शन, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र आचार्य चतुरसेन शास्त्री आदि का आविर्भाव हुआ। प्रसाद जी (१८८९ १९ ७) की प्रथम कहानी 'ग्राम' सन् १९०० ई० में प्रकाशित हुई थी। इसके पश्चात् आपने समय-समय पर अनेक कहानियाँ लिखीं। आपके कहानी-संग्रह छाया प्रतिध्वनि आकाशदीप आँधी और इन्द्रजाल प्रकाशित हुए हैं। आपकी आरम्भिक कहानियों पर बंगला का प्रभाव है किन्तु बाद में वे अपना स्वतन्त्र शैली का विकास कर गये।

मारथा 'अरग्याया' ईदगाह, पूस की रात, 'सुजान भक्त, कफन' प० माटराम' आदि अधिक विख्यात है।

प्रेमचन्दजी की कहानियों में जन-साधारण के जीवन की सामान्य परिस्थितियों, मनोवृत्तियों एवं समस्याओं का चित्रण मार्मिक रूप से हुआ। वे साधारण से-साधारण बात को भी मर्म-स्पर्शी रूप में प्रस्तुत करने की कला में सिद्ध हस्त थे। प्रसादजी की रहस्यात्मकता जटिलता एवं दार्शनिकता से वे मुक्त हैं। उनकी शैली में ऐसी सरलता स्वाभाविकता एवं रोचकता मिलती है जो पाठक के हृदय को उद्वेलित करने में समर्थ हो सके। उनकी सभी कहानियाँ सोद्देश्य हैं—उनमें किसी-न किसी विचार या समस्या का अंकन हुआ है किन्तु इससे उनकी रागात्मकता में कोई न्यूनता नहीं आई। भाव और विचार कला और प्रचार का सुन्दर समन्वय किस प्रकार किया जा सकता है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण प्रेमचन्द का कहानी-साहित्य है।

केवल तीन कहानियाँ लिखकर ही अमर हो जानेवाले कहानीकार श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का हिन्दी कहानी-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान है। उनकी प्रथम कहानी 'उसने कहा था' सन् १९१५ में प्रकाशित हुई थी जो अपने ढंग की अनूठी रचना है। इसमें किशोरावस्था के प्रेमांकुर का विकास, त्याग और बलिदान में ओत प्रोत पवित्र भावना के रूप में किया गया है। कहानी का अन्त गम्भीर एवं शोकपूर्ण होते हुए भी इसमें हास्य और व्यंग्य का समन्वय इस ढंग से किया गया है कि उसमें मूल स्थायी भाव को कोई ठेस नहीं पहुँचती। विभिन्न दृश्यों के चित्रण में सजीवता घटनाओं के आयोजन में स्वाभाविकता एवं शैली की रोचकता—सभी विशेषताएँ एक-से-एक बढ़कर हैं। कहानी की प्रथम पंक्ति ही पाठक के हृदय को पकड़कर बैठ जाती है और जब तक वह पूरी कहानी नहीं पढ़ लेता उसे छोड़ती नहीं तथा जिसने एक बार कहानी को पढ़ लिया, वह 'उसने कहा था' वाक्य को कदाचित् जीवन भर भूल नहीं पाता। क्या भाव, क्या विचार क्या शिल्प और क्या शैली—सभी की दृष्टि से यह कहानी एक अमर कहानी है। गुलेरीजी की दूसरी कहानी 'सुखमय जीवन' भी पर्याप्त रोचक एवं भावोत्तेजक है। इसमें एक अविवाहित युवक के द्वारा विवाहित जीवन पर लिखी गई पुस्तक को लेकर अच्छा विवाद खड़ा किया गया है जिसकी परिणति एक अत्यन्त रोचक प्रसंग में हो जाती है। 'बुद्धू का काँटा' भी अच्छी कहानी है।

उर्दू से हिन्दी में आनेवाले लेखकों में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' (१८९१-१९४६) भी उल्लेखनीय हैं। उनकी प्रथम कहानी 'रक्षा-बन्धन' सन १९१३ में प्रकाशित हुई थी। विचारधारा की दृष्टि से 'कौशिक' जी प्रेमचन्द की परम्परा में आते हैं, उन्होंने भी समाज-सुधार को अपनी कहानी-कला का लक्ष्य बनाया। उनकी कहानियों की शैली अत्यन्त सरस सरल एवं रोचक है। उनकी हास्य और विनोद से परिपूर्ण कहानियाँ 'चाँद' में 'दुबे जी की चिट्ठियाँ' के रूप में प्रकाशित हुई थीं। उन्होंने लगभग ३०० कहानियाँ लिखी जो 'कल्प-मंदिर', 'चित्रशाला' आदि में संगृहीत हैं। प० बद्रीनाथ भट्ट 'सुदर्शन' (जन्म—१८९६) का भी महत्व कहानी-कला के क्षेत्र में 'कौशिक' जी के तुल्य माना जाता है। उनकी प्रथम कहानी 'हार की जीत' सन् १९२० में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई,

तब से आपके अनेक कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जैसे—'सुदर्शन-सुधा', 'सुदर्शन सुमन', 'तीर्थ-यात्रा', 'पुष्प-लता', 'गल्प-मंजरी', 'सुप्रभात', 'चार कहानियाँ', 'नगीना', 'पनघट' आदि। उन्होंने अपनी कहानियों में भावनाओं एवं मनोवृत्तियों का चित्रण अत्यन्त सरल और रोचक शैली में किया है।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' का प्रवेश हिंदी कहानी जगत् में सन् १९२२ में हुआ। आपकी उग्रता के प्रभाव को आलोचकों ने 'उल्कापात', 'धूमकेतु', 'तूफान' या 'बवंडर' की उपमा दी है, इसी से आपकी कला के विद्रोही रूप का अनुमान किया जा सकता है। उन्होंने अपनी रचनाओं में राजनीतिक परिस्थितियों, सामाजिक रूढ़ियों और राष्ट्र को हानि पहुँचानेवाली प्रवृत्तियों के प्रति गहरा विद्रोह व्यक्त किया। उनमें वीभत्सता एवं अश्लीलता भी आ गई है, किन्तु उनका उद्देश्य जीवन की इस कुरूपता का प्रचार करना नहीं, अपितु उसका अन्त करना है। उनके कहानी-संग्रह 'दोजख की आग', 'चिनगारियाँ', 'बलात्कार', 'सनकी अमीर' आदि प्रकाशित हुए हैं।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने भी अपनी कहानियों में सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण किया है, किन्तु उनकी शैली में 'उग्र' जी की सी उग्रता नहीं है। उग्र जी की सी यथार्थवादिता भी उनमें नहीं मिलती। उनकी कहानियों के संग्रह 'रजकण' और 'अक्षत' आदि प्रकाशित हुए हैं। उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी', 'दे खुदा की राह पर', 'भिक्षुराज', 'ककड़ी की कीमत' आदि हैं।

हिंदी कहानी-साहित्य का दूसरा युग जैनेन्द्रकुमार के आगमन से आरम्भ

श्री गोविन्दवल्लभ पन्त की कहानियों में यथार्थ की कटुता और कल्पना की दोनों का सुन्दर समन्वय मिलता है। उनमें प्रणय भावनाओं का चित्रण मधुर रूप में हुआ है। उधर सियारामशरण गुप्त ने कविता की भाँति कहानी के क्षेत्र में भी अच्छी सफलता प्राप्त की है। उनकी सबसे अच्छी कहानी झूठ-सच है जिसमें आधुनिक युगीन यथार्थवादी लेखकों पर तीखा व्यंग्य किया गया है। कहानी-कला की दृष्टि से भी यह रचना बेजोड़ है। उनकी कहानियाँ 'मानुषी' में संगृहीत हैं।

श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने कहानी की अपेक्षा उपन्यास के क्षेत्र में अधिक ख्याति अर्जित की है। उनकी कहानियों में भी कल्पना और इतिहास का समन्वय मिलता है। 'कलाकार का दंड' संग्रह में उनकी कई कहानियाँ संगृहीत हैं। वर्माजी की शैली में सरलता और स्वाभाविकता होती है।

हिन्दी कहानी के तीसरे युग में जैनेन्द्रजी द्वारा प्रवर्तित मनोविश्लेषण की परम्परा का विकास हुआ। श्री भगवतीप्रसाद बाजपेयी ने अपनी कहानियों में मनोवैज्ञानिक सत्यों का उद्घाटन किया है। उनके अनेक कहानी-संग्रह—'हिलोर', 'पुष्करिणी', 'खाली बोतल' आदि प्रकाशित हुए हैं। उनकी कहानियों में 'मिठाईवाला', 'बाकी', 'त्याग', 'वंशी-वादन' आदि उत्कृष्ट कोटि की मानी गई हैं। श्री भगवतीचरण वर्मा ने कहानी के क्षेत्र में असाधारण सफलता प्राप्त की है। उनमें विश्लेषण की गम्भीरता के साथ-साथ मार्मिकता और रोचकता का गुण भी मिलता है। उनके कहानी-संग्रह 'खिलते फूल', 'इन्स्टालमेंट', 'दो बाँके' आदि उल्लेखनीय हैं। श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने अपने साहित्य में मनोविश्लेषण की परम्परा को और भी आगे बढ़ाया है। 'विपथगा', 'परम्परा', 'कोठरी की बात', 'जयदोल' आदि उनके सुन्दर कहानी-संग्रह हैं। इसी परम्परा में इलाचन्द्र जोशी के 'रोमांटिक छाया', 'आहुति', 'दीवाली और होली' आदि कहानी-संग्रह आते हैं। जोशीजी ने मनोविज्ञान के सत्यों का उद्घाटन अन्य लेखकों से अधिक मर्मस्पर्शी रूप में किया है।

सामाजिक विषयों को लेकर कहानी लिखनेवाले लेखकों में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का नाम उल्लेखनीय है। उनकी कहानियों में 'पिंजरा', 'पाषाण', 'माता', 'डूला', 'मरुस्थल', 'गोखरू', 'छिलौने', 'चट्टान', 'जादूगरनी', 'चित्रकार की मौत' आदि बहुत लोकप्रिय हुई हैं। 'अश्क' जी विषय-वस्तु, शैली एवं रोचकता की दृष्टि से प्रेमचन्दजी की परम्परा को आगे बढ़ाते हैं। श्री यशपाल ने अपनी कहानियों में आधुनिक समाज की विषमताओं पर व्यंग्य किया है। उनकी कहानियों में 'पराया सुख', 'हलाल का टुकड़ा', 'खानदान', 'कुछ न समझ सका', 'जबरदस्ती', 'बदनाम' आदि उल्लेखनीय हैं।

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार और रमाप्रसाद 'पहाड़ी' का हिन्दी कहानी के क्षेत्र में बहुत ऊँचा स्थान है। आपकी कहानियों के द्वारा कहानी-कला का विकास हुआ है। विद्यालंकार जी के कहानी-संग्रह 'चन्द्रकला', 'अमावस' तथा पहाड़ीजी के 'सड़क पर', 'मौली', 'बरगद की जड़ें' आदि उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी में हास्य रस की कहानियाँ लिखनेवालों में श्री जी० पी० श्रीवास्तव, हरिशंकर शर्मा, कृष्णदेवप्रसाद गौड़ 'बेढब बनारसी', अन्नपूर्णानन्द, मिर्जा अजीम बेग

किया जा सकता है। पहले वर्ग में राजेन्द्र यादव (कहानी संग्रह— जहाँ लक्ष्मी कैद है, 'छोटे-छोटे ताजमहल', 'एक पुरुष एक नारी' आदि), मोहन राकेश (संग्रह—'नये बादल', 'जानवर और जानवर', 'एक और जिन्दगी' आदि), धर्मवीर भारती, निर्मल वर्मा, मार्कण्डेय, कमलेश्वर, अमरकान्त (जिन्दगी और जोंक), डा० लक्ष्मीनारायण लाल, रमेश बक्षी, शैलेश मटियानी, नरेश मेहता, मन्नू भंडारी, प्रभृति कहानीकार आते हैं जिन्होंने मुख्यतः शहरी मध्यवर्गीय जीवन की आन्तरिक परिस्थितियों का चित्रण किया है। इनका दृष्टिकोण अति यथार्थवादी, तथा लक्ष्य यौन विकृतियों कुंठाओं अभावों आदि के चित्रण का रहा है। शिल्प और शैली के क्षेत्र में भी इन्होंने नूतनता पर बल दिया है। दूसरे वर्ग में फणीश्वरनाथ 'रेणु' (संग्रह—ठुमरी'), राजेन्द्र अवस्थी तृषित (संग्रह—गंगा की लहरें'), मार्कण्डेय (महुआ आम के जंगल) शिवप्रसाद सिंह (इन्हें भी इन्तजार है) शेखर जोशी आदि को स्थान दिया जा सकता है। इन्होंने आंचलिक पृष्ठभूमि पर ग्रामीण जीवन को अंकित करने का प्रयास किया है। तीसरे वर्ग में हास्य-व्यंग्यमयी कहानियों के लेखकों को स्थान दिया जा सकता है जिनमें केशवचन्द्र वर्मा श्रीलाल शुक्ल हरिशंकर परसाई शरद जोशी रवीन्द्रनाथ त्यागी शान्ति मेहरोत्रा आदि का नाम उल्लेखनीय है। चतुर्थ वर्ग ऐसे लेखकों का है जिन्होंने व्यापक प्रगतिशील दृष्टि से जीवन के विभिन्न पक्षों का चित्रण किया है। इस वर्ग में कृष्णचन्द्र (संग्रह 'गरजन की एक शाम' 'काला सूरज' घूंघट में गोरी जले'), अमृतराय (संग्रह— भोर से पहले', तिरंगे कफन', नूतन आलोक, भैरवप्रसाद गुप्त प्रभृति को स्थान दिया जा सकता है। इनके अतिरिक्त अनेक कहानीकार ऐसे भी हैं जिन्हें किसी एक विशिष्ट वर्ग में स्थान नहीं दिया जा सकता यथा—विष्णु प्रभाकर, सत्यपाल आनन्द कृष्ण बलदेव वैद्य आदि।

इधर नये कहानीकारों की अति सूक्ष्मता, अति वैयक्तिकता, संकीर्णता एवं निष्प्राणता की प्रवृत्तियों के विरुद्ध संगठित मोर्चा स्थापित करने एवं जीवन के व्यापक एवं स्वस्थ रूप को कहानी में प्रतिष्ठित करने के लक्ष्य से अनेक कहानीकारों ने सचेतन कहानी नाम से नये वर्ग की स्थापना की है। इस वर्ग में डा० महीपसिंह मनहर चौहान कुलभूषण, रमेश गौड़ हिमांशु जोशी सुदर्शन चोपड़ा, सुरेन्द्र मल्होत्रा जगदीश चतुर्वेदी वेद राही धर्मेन्द्र गुप्त देवेन गुप्त (स्वर्गीय) योगेन्द्रकुमार लल्ला राजीव सक्सेना देवेन्द्र सत्यार्थी जैसे अनेक प्रतिभाशाली लेखक सम्मिलित हैं। यदि इन लेखकों ने केवल मात्र वर्ग-विशेष के विरोध को ही अपना लक्ष्य न बनाकर युग की व्यापक समस्याओं एवं जीवन की गंभीर अनुभूतियों के आधार पर जीवन के स्वस्थ व्यापक एवं उदात्त मूल्यों की प्रतिष्ठा का प्रयास किया तो वे अवश्य ही कहानी साहित्य को सही दिशा देने में सफल हो सकेंगे, अन्यथा सचेतन कहानी भी नयी कहानी की भाँति एक फैशन मात्र बनकर रह जायगी।

हिन्दी कहानी-क्षेत्र में अवतीर्ण होनेवाली अन्य नयी प्रतिभाओं में कृष्णा सोबती रजनी पनिकर पुष्पा जायसवाल उषा प्रियम्वदा, विजय चौहान सल्मा सिद्दीकी सोमा वीरा मेहरुन्निसा परवेज शान्ति मेहरोत्रा इन्दुबाला प्रभृति लेखिकाओं तथा डा० वीरेन्द्र मेहेंदीरत्ता (संग्रह— निमले की क्रीम, पुरानी मिट्टी नये साँचे) प्रयाग शुक्ल रघुवीर सहाय दूधनाथ सिंह सुरेन्द्र पाल, गिरिराज, धर्मेन्द्र गुप्त, रवीन्द्र कालिया, मृत्युञ्जय

उपाध्याय, अमरकान्त, निर्मल वर्मा, शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय, [illegible] आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

अस्तु, अब यह स्पष्ट हो चला है कि हिन्दी कहानी के क्षेत्र में अनेक संभावनाओं का उदय हुआ है किन्तु आज के [illegible] एवं उच्च मूल्यों के अभाव में उन्माद की भाँति [illegible] भी [illegible] एवं सीमित होता जा रहा है। उच्च मूल्यों, मध्य वर्गीय शहरी जीवन की विकृति, अवसरवादिता, कुण्ठा आदि का ही प्रदर्शन अधिक हो रहा है अतः इस ओर [illegible] होता जा रहा है। आंचलिक कहानी के क्षेत्र में अनेक कहानीकारों ने ग्रामीण जीवन की ओर आकर्षित किया है किन्तु जैसा कि उन्होंने अपना [illegible] स्पष्ट किया है, ग्रामीण जीवन के वास्तविक अनुभवों के अभाव में उनकी कहानियों के चित्रण में बहुत कम सफलता मिली है। वास्तव में गाँव में रहकर ही कुछ यथार्थता से इन कथाकारों का [illegible] नहीं था। वहाँ वे केवल [illegible] ही रहे हैं, इससे भी दृढ़ [illegible] नहीं थी। देहात की उस धरती में उन्होंने शहर के पत्थर लाकर बसा दिए। वस्तुतः विषय-वस्तु की दृष्टि से तथाकथित नयी कहानी एक ऐसे वर्ग के कहानीकारों के व्यक्तिगत चरित्र एवं जीवन-दर्शन का प्रतिनिधित्व करती है, जिनका जीवन घर के बन्द दरवाजों, कालेज की दीवारों, शहर की गलियों और नगर के मदिरालयों में बीता है, जिनकी जीवन-यात्रा काफी हाउसों से लेकर पत्र-सम्पादकों के कार्यालयों तक सीमित है, जिनकी सबसे बड़ी समस्या दमित वासना, शहर की सूनी सुन्दर प्रेयसियों की राह और भागी हुई पत्नियों का इन्तजार है, जिनका आदर्श सार्त्र और कामू है, जो रहते हैं भारत में किन्तु स्वप्न लन्दन की रातों या पेरिस के मध्याह्न का देखते हैं तथा काफी का प्याला, सिगरेट का धुआँ और सम्पादक का मनीआर्डर ही जिनकी रचनाओं का सबसे बड़ा प्रेरणा-स्रोत है। ऐसी स्थिति में उनसे किसी गंभीर अनुभूति, व्यापक अनुभव एवं बड़े सत्य की आशा करना व्यर्थ है।

विषय-क्षेत्र की भाँति शैली की दृष्टि से भी नयी कहानी में अनेक ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियाँ उभर रही हैं। साहित्य की अन्य विधाओं से कहानी के सबसे बड़े वैशिष्ट्य कथातत्त्व का ह्रास होता जा रहा है। जिस प्रकार रस विहीन कविताएँ और सिद्धान्त शून्य आलोचनाएँ लिखी जा रही हैं उसी प्रकार कथाशून्य कहानियाँ लिखने के भी प्रयोग किए जा रहे हैं। वे कहानी कम एवं रेखा चित्र, डायरी, पत्र या निबन्ध अधिक दिखाई देती हैं। रचना शैली में कलात्मक चातुर्य, साज-सज्जा एवं परिष्कार को त्याज्य घोषित करते हुए स्वच्छन्द एवं निर्बाध अभिव्यक्ति को विशेष महत्त्व दिया जा रहा है। सरल उपमाओं के स्थान पर अस्पष्ट बिम्बों, दुरूह प्रतीकों तथा अप्रचलित शब्दों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। ये सब प्रवृत्तियाँ कहानी को प्रगति की ओर ले जा रही हैं या दुर्गति की ओर, यह चिन्तनीय है। फिलहाल इन सारी दूषित प्रवृत्तियों का समर्थन करने के लिए 'आधुनिकता', 'नूतनता', 'कलात्मकता', 'नयी संवेदना', 'आधुनिक बोध' जैसे लुभावने विशेषणों का आश्रय लिया जा रहा है, पर दूसरी ओर अनेक प्रतिभाशाली एवं प्रगतिशील कहानीकार, आलोचक एवं पत्र-सम्पादक इस स्थिति के प्रति सावधान भी हैं—अतः आशा की जा सकती है कि इसमें शीघ्र ही सुधार होगा।

●

१९ | हिन्दी निबन्ध · स्वरूप और विकास

१ 'निबन्ध —परिभाषा।
२ निबन्ध—स्वरूप एव लक्षण।
३ निबन्ध के भेदोपभेद।
४ निबन्ध की शैली के भेद
५ हिन्दी में विकास—(अ) भारतेन्दु युग, (आ) द्विवेदी युग, (इ) शुक्ल युग, (ई) शुक्लोत्तर युग।
६ उपसंहार।

मूलत निबन्ध शब्द का अर्थ 'रोकना' या बाधना है तथा इसके पर्यायवाची के रूप म 'लेख सदर्भ' 'रचना' प्रस्ताव' आदि का उल्लेख किया जाता है किन्तु आजकल इसका प्रयोग लैटिन के एग्जीजियर (निश्चितापूर्वक परीक्षण करना) से व्युत्पन्न ऐसाइ' (फ्रेंच) व 'ऐसे (अग्रेजी Essay) के अर्थ म होता है। आधुनिक साहित्य म निबन्ध' की विधा का विकास भी बहुत कुछ पाश्चात्य साहित्य की प्रेरणा स हुआ है अत इसके स्वरूप को स्पष्ट रूप म हृदयगम करने के लिए पाश्चात्य विद्वानो द्वारा प्रस्तुत की गई विभिन्न परिभाषाओ पर दृष्टिपात कर लेना उपयोगी सिद्ध होगा। आधुनिक निबन्ध के जन्मदाता मौनतन महोदय का कथन है— निबन्ध विचारो उद्धरणो और कथाओ का मिश्रण है। दूसरी ओर जानसन महोदय के मत म निबन्ध मन का आकस्मिक और उच्छृखल आवेग—असम्बद्ध और चिन्तनहीन बुद्धि विलास मात्र" है। केवल नामक एक पाश्चात्य विद्वान् ने निबन्ध की उपहासपूर्ण ढग से व्याख्या करते हुए लिखा है— निबन्ध लेखन-कला का बहुत प्रिय साधन है। जिस लेखन म न प्रतिभा है और न ज्ञान-वृद्धि की जिज्ञासा वही निबन्ध लेखन म प्रवृत्त होता है तथा विविधता तथा हल्की रचनाओ म आनन्द लेनेवाला पाठक ही उसे पढता है। वस्तुत प्रारम्भिक निबन्धो म असम्बद्धता उच्छृखलता एव हल्कापन होता था जिसका उल्लेख इन परिभाषाओ म किया गया है किन्तु आगे चलकर निबन्ध भी एक विचार प्रधान, सुसम्बद्ध एव प्रौढ रचना के रूप म विकसित हो गया इसीलिए बेकन लौकस व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे विचार प्रकाशन का एक गम्भीर साधन माना है।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि निबन्ध म दो रूप मिलते है—एक असम्बद्ध और चिन्तनहीन विचारो स समन्वित और दूसरा गम्भीर विचारो की प्रौढ अभिव्यक्ति के रूप में। अत इनम स किस रूप को स्वीकार किया जाय—यह विचारणीय है। हमारे विचार से उपर्युक्त दोनो ही दृष्टिकोण अतिवादी हैं। यदि निबन्ध सर्वथा असम्बद्ध और उच्छृ-

सल विचारा स समन्वित हुआ ता पागत न प्रकार म और उसम कोई अन्तर नहीं रह जायगा दूसरा ओर गूढ़ विचारा का ग्रहण ता ग्रिथित निबन्ध और ज्ञान-शास्त्र म भा माह न न रह जायगा। व्यापक अथ म राजनीतिक सामाजिक अथशास्त्रीय एव धार्मिक विषया क प्रतिपादन प्रथम की निबन्ध कहा है किन्तु क्या उन निबन्ध क सकुचित अथ—साहित्यिक निबन्ध—क अन्तगत स्थान द सकत थ? निबन्ध का हम साहित्य (सकुचित अथ म काव्य) का एक अग मानत हैं और साहित्य का एक अनिवाय तत्त्व है—भाव तत्त्व। इसी भाव तत्त्व क आधार पर ही हम इतिहास और साहित्य म अन्तर मानत हैं। अत साहित्य निबन्ध म विचारा का प्रतिपादन करत हुए भी उनम भावों सजना की क्षमता होनी आवश्यक है। निबन्धा म भावात्तजना का यह गुण तभी आ सकता है जबकि उनम रचयिता क व्यक्तित्व का जाविक स्पर्श हो उनम उसकी अनुभूतिया का प्रकाशन हो और उसकी भावना म रागात्मकता हो। निबन्ध म विचार होत हैं किन्तु व मस्तिष्क क शुष्क चिन्तन पर हा आधारित नहीं होत। उनक पीछे हृदय की तरल रागात्मकता भी होनी है। अस्तु साहित्यिक निबन्ध क लिए तीन बाता का होना आवश्यक है—(१) वयक्तिक अनुभूतिया म समन्वित विचारा का प्रतिपादन (२) पाठक क मस्तिष्क को ही नहा उसक हृदय को गुदगुदान की क्षमता (३) साहित्यिक गुणा म समन्वित शली। कुछ लागा का विचार है कि गम्भीर निबन्ध कवल मस्तिष्क को ही छूत हैं हृदय को नहीं, किन्तु एसी बात नहा। साहित्य की श्रणी म आनवाल निबन्ध चाहे कितने हा गम्भीर या गम्भीर विषय पर क्या न हो व हमार हृदय की भाव-वीचियो का अवश्य उद्वलित करते है। व औत्सुक्य चिंता विस्मय विषाद हर्ष आदि सचारियो का उद्दीप्त करत हुए उस भाव दशा का विकास करत हैं जिस रस सिद्धान्त के आचार्यों न शात रस कहा है। बौद्धिक विषया की भावात्मक अनुभूति या पूर्ण तन्मयता का नाम ही शात रस है, जो उत्कृष्ट साहित्यिक निबन्धो के द्वारा प्राप्य है।

प्रश्न है क्या साहित्यिक निबन्धो का विषय भी साहित्यिक होना आवश्यक है? इसके उत्तर म हम कहेंगे कि यदि निबन्ध लेखक विषय का प्रतिपादन साहित्यिक ढग से करता है तो साहित्येतर विषयो पर लिखे गए निबन्ध भी साहित्यिक बन सकते हैं जबकि शुष्क वैज्ञानिक शली म लिखे गए साहित्यिक विषयो के लेख भी साहित्यिक नही कहे जा सकते। स्वर्गीय बालमुकुन्द गुप्त द्वारा लिखे गए 'शिव शभु के चिट्ठे' का मूल प्रेरणा राजनीति होत हुए भी विशुद्ध साहित्य क अतगत लिये जा सकते हैं जबकि हमारे कुछ विद्वानो द्वारा शुष्क शली म लिखे गए अनेक जटिल साहित्यिक निबन्ध भी साहित्यिकता से शून्य हैं।

यद्यपि निबन्ध को किसी परिभाषा म बाधना या उसके लिए कुछ नियमों का निर्धारित करना सभव नहीं फिर भी विद्वानो न उसके सामान्य लक्षण निश्चित करने का प्रयास किया है। डाक्टर गुलाबराय जी ने निबन्ध के ये पाच लक्षण निश्चित किए है—(१) निबन्ध एक गद्य रचना क रूप म लिखा जाता है। (२) निबन्ध म लेखक के निजीपन और व्यक्तित्व की झलक होती है। (३) निबन्ध म अपूर्णता और स्वच्छन्दता के होते हुए भी वह स्वत पूर्ण होता है। (४) निबन्ध म व्यक्ति के एक दृष्टिकोण का प्रतिपादन

होता है। (५) निबन्ध साधारण गद्य की अपेक्षा अधिक रोचक और सजीव होता है। निबन्ध के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए प्रो० जयनाथ 'नलिन' ने अपने ग्रंथ 'हिन्दी निबन्धकार' में लिखा है कि निबन्ध का कोई निश्चित विषय नहीं होता। सभी स्थानों पर निबन्ध स्वतन्त्रता से विचरण कर सकता है। 'सबै भूमि गोपाल की जा में अटक कहाँ' वाली बात निबन्ध के विषय में स्वतः सिद्ध है। निबन्ध में महत्त्व विषय का नहीं, उस आत्मा का है जो व्याप्त रही है उन प्राणों का है जो उसमें सक्रिय है। निबन्ध नमक मिर्च पर भी लिखा जा सकता है और कृष्ण महाराज की कपड़े की कंगाली पर भी जो फुटपाथों पर पड़ी अनेक द्रौपदियों को एक दुच कपड़ा भी नहीं दे सकता। निबन्ध के स्वरूप की दूसरी विशेषता है—आकारलघुता। निबन्ध सामान्यतः पन्द्रह-बीस पृष्ठों के आकार का होता है। अधिक बड़ा निबन्ध निबन्ध न होकर प्रबन्ध हो जायगा। तीसरी विशेषता है—निबन्ध मन के स्वाधीन विचरण एवं चिन्तन पर आधारित होता है। इसी को दूसरे शब्दों में लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यंजना कह सकते हैं। चौथी विशेषता है—निबन्ध की शैली में संक्षिप्तता, रोचकता एवं व्यंग्यात्मकता का होना। वस्तुतः डॉ० गुलाबराय जी के निर्धारित लक्षणों व प्रो० नलिन द्वारा उल्लिखित विशेषताओं में अंतर नहीं है। अतः निबन्ध की ये विशेषताएँ बहुमत से स्वीकृत मानी जा सकती हैं।

निबन्ध का विषय वस्तु के वर्णन, विवेचन, प्रकटीकरण आदि के आधार पर उसके सामान्यतः चार भेद किए जाते हैं—(१) वर्णनात्मक (२) विवरणात्मक, (३) विचारात्मक और (४) भावात्मक। वर्णनात्मक निबन्धों में प्राय: भूगोल, यात्रा, वातावरण, ऋतु, तीर्थ, दर्शनीय स्थान, मेले-तमाशे, पर्व-त्योहार, सभा-सम्मेलन आदि विषयों का वर्णन होता है जबकि विवरणात्मक में किसी वृत्तान्त या घटना का विवरण प्रस्तुत किया जाता है। वर्णनात्मक निबन्धों में दृश्यों का चित्रण अधिक होता है, जबकि *विवरणात्मक में घटनाओं का। वर्णनात्मक में स्थानगत वर्णन होता है* जबकि *विवरणात्मक* में कालगत। दूसरे शब्दों में वर्णनात्मक निबन्ध में अधिकतर स्थिर क्रियाहीन पदार्थ का चित्र रहेगा, जबकि विवरणात्मक में क्रियाशीलता का। अतः वर्णनात्मक और विवरणात्मक में मोटा भेद घटनात्मकता या कथात्मकता का होता है। विचारात्मक निबन्धों में किसी विचारधारा सामाजिक, साहित्यिक या राजनीतिक समस्या का अथवा किसी नवीन तथ्य आदि का प्रतिपादन, विवेचन, विश्लेषण या स्पष्टीकरण होता है। भावात्मक निबन्धों में लेखक की शैली में भावुकता अधिक होती है। वैसे विचारात्मक एवं भावात्मक दोनों में ही विचार और भावना का अंश किसी न किसी रूप में अवश्य होता है किन्तु एक में बौद्धिकता अधिक होती है जबकि दूसरे में उसकी हार्दिकता का प्रमुखता प्राप्त होती है। इन चारों प्रकार के ही निबन्धों में क्रमशः लेखक से सम्बन्धित किसी दृश्य, घटना, विचार या भावना का चित्रण होता है और यही विशेषता इन सबको एक ही शीर्षक के नीचे बाँधे रखने के लिए विवश करता है।

निबन्धों में प्रयुक्त की जानेवाली शैली के भी अनेक भेद किए गए हैं, जैसे—समास शैली, व्यास शैली, धारा-शैली, तरंग शैली, विक्षेप शैली आदि। सामान्यतः वर्णनात्मक एवं विवरणात्मक निबन्धों में व्यास शैली का, विचारात्मक में समास शैली का

तथा भावात्मक में धारा शैली, तरंग शैली एवं विक्षेप शैली का प्रयोग होता है। किन्तु यह नियम दृढ़ता से लागू नहीं होता।

हिंदी में विकास

हिन्दी में निबन्ध का आविर्भाव आधुनिक युग में ही हुआ। इसके कारण स्पष्ट हैं। एक तो इससे पूर्व गद्य का ही विकास नहीं हुआ था। दूसरे, पूर्ववर्ती साहित्यकारों का लक्ष्य मुख्यतः अपनी भावानुभूतियों का ही प्रकाशन था, विचारों की अभिव्यंजना करना कम था। तीसरे निबन्धों के प्रचार के साधनों—मुद्रण-यन्त्र, समाचार-पत्र आदि का भी प्रचलन आधुनिक युग में हुआ और चौथे मध्ययुग में उस सामाजिक और राजनीतिक चेतना का भी उन्मेष नहीं हुआ था जिसने भारतेन्दु युग के निबन्धों में प्राण फूंके। भारतेन्दु युग में हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, ब्राह्मण, सार-सुधा निधि, प्रदीप आदि पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ, जिनसे हिन्दी निबन्ध के विकास में योग मिला। भारतेन्दु-युग से लेकर अब तक के निबन्ध-साहित्य को प्रा० जयनाथ नलिन ने चार युगों में बांटा है—(१) भारतेन्दु युग (२) द्विवेदी युग (३) प्रसाद युग और (४) शुक्लोत्तर-युग। हमारे विचार से अंतिम दो युगों का यह नामकरण ठीक नहीं है। प्रसाद जी ने कुछ निबन्ध अवश्य लिखे थे, किन्तु फिर भी निबन्धकार के रूप में उनका महत्व अधिक नहीं। वस्तुतः प्रसाद युग को 'शुक्ल युग' एवं प्रगतिवाद-युग को शुक्लोत्तर युग कहना ही निबन्ध साहित्य के क्षेत्र में अधिक उपयुक्त होगा।

भारतेन्दु युग (१९३० ६० वि०) के प्रमुख निबन्धकारों में स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी प्रेम घन, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, राधाचरण गोस्वामी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एक साहित्यकार नहीं थे अपितु साहित्यकार के विराट रूप थे। उन्होंने कविता, नाटक, निबन्ध, आलोचना आदि सभी रूपों का विकास ही नहीं किया अपितु उनमें उन विशेषताओं और प्रवृत्तियों का समन्वय भी किया जो उस युग में सम्भव था। कविता और नाटक की भांति उनके निबन्धों का क्षेत्र भी बहुत व्यापक है। इतिहास, धर्म, समाज, राजनीति, आलोचना, खोज, यात्रा, प्रकृति-वर्णन, आत्मचरित, व्यंग्य विनोद आदि सभी विषयों पर इस महामानव ने कलम उठाई है। काश्मीर-कुसुम, उदयपुरोदय, कालचक्र, बादशाह-दर्पण-आदि निबन्धों में उस युगावतार की सूक्ष्म ऐतिहासिक दृष्टि का परिचय मिलता है तो वैद्यनाथ धाम, हरिद्वार और सरयूपार की यात्रा सम्बन्धी लेखों में उनका भारतीय संस्कृति एवं भारत भूमि के प्रति अनुराग छलक रहा है। आचार्य शुक्ल ने एक बार घोषित किया था कि भारतेन्दु में प्रकृति प्रेम नहीं है किन्तु यदि वे इनके प्रकृति-सम्बन्धी निबन्धों का ध्यान में रखते तो उन्हें ऐसा बात कहने का साहस नहीं होता। पूरा निबन्ध नहीं, उसकी कुछ पंक्तियाँ मात्र इस भ्रम का निराकरण कर देंगी— ठण्डी हवा मन की कली खिलाती हुई बहने लगी। दूर से धानी और काही रंग के पर्वतों पर सुनहरापन आ चला। कहीं आधे पर्वत बादलों से घिरे हुए, कहीं एक साथ वाष्प निकलने से उनकी चोटियाँ छिपी हुई और कहीं चारों ओर से उन पर जलधारा-पात से बुक्के की होली खेलते हुए बड़े ही

सुहावने मालूम पडत थे।" यात्रा-सम्बन्धी निबन्धो मे भी उनकी भारतीय जनता के प्रति सहानुभूति का स्रोत बीच-बीच म फूट पडा है— गाडी भी ऐसी टूटी फूटी जसे हिन्दुओ की किस्मत और हिम्मत। अब तो तपस्या करके गोरी-गोरी कोख से जन्म ल तब ही ससार म सुख मिले।'

भारतेन्दु जी ने अनेक निबन्धो म तत्कालीन धार्मिक सामाजिक एव राजनीतिक समस्याओ पर तीक्ष्ण व्यग्य किया है, लेवी प्राण लेवी', स्वग म विचार सभा का अधि-वशन' जाति विवेकिनी सभा', पाचवें पगम्बर', अग्रेज स्तोत्र ककड स्तोत्र' आदि निबन्ध इसी कोटि के हैं। ककड स्तोत्र की कुछ पक्तियाँ द्रष्टव्य हैं— ककड को प्रणाम है। देव नही महादेव क्योकि काशी के ककड शिव शकर के समान हैं। आप अग्रेजी राज्य म भी गणेश चतुर्दशी की रात को स्वच्छन्द रूप स नगर म भडाभड लोगो के सिर पर पडकर रुधिरधारा स नियम और शान्ति का अस्तित्व बहा देत हो। अतएव हे अग्रेजी राज्य म नवाबी स्थापक ! तुमको नमस्कार है। यहा हिन्दुओ की मूर्तिपूजा बहुदेवो-पासना पर जो व्यग्य किया गया है, वह मीठा होता हुआ भी कबीर की उक्तियो से अधिक प्रभावशाली है।

भारतेन्दु के निबन्धो म विषय के अनुरूप विभिन्न प्रकार की भाषा-शलियो का प्रयोग हुआ है। उनकी भाषा म मार्मिक अभिव्यजना विदग्ध वाग्मिता सजीव अनेक-रूपता और मन-मोहक स्वच्छता मिलती है। उसम कहा स्वाभाविक अलकार-योजना है तो कहीं गोष्ठी-वार्तालाप का ढग अपनाया गया है। उनके आलोचनात्मक निबन्धो नाटक' वष्णवता और भारतवर्ष' की भाषा अत्यन्त प्रौढ है किन्तु फिर भी उसम दुरूहता दुर्बो धता कृत्रिमता और समासात्मकता दष्टिगोचर नहा होती। अस्तु, विषय और शली— दोनो की ही दृष्टि से भारतेन्दु का निबन्ध-साहित्य महत्वपूण है।

भारतेन्दु युग के अन्य निबन्धकारो म बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र एव बालमुकुन्द गुप्त का बहुत ऊचा स्थान है। भट्टजी हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक थे और उनकी लेखनी स वणनात्मक, विवरणात्मक, भावात्मक और विचारात्मक सभी प्रकार के निबन्ध प्रसूत हुए हैं। कुछ निबन्धो के शीषक से ही उनके विषय-क्षेत्र की व्यापकता का अनुमान लगाया जा सकता है— मेला-ठेला' वकील' सहानुभूति' आशा' खटका' इगलिश पढे तो बाबू होय ! रोटी तो किसी भाति कमा खाय मुछन्दर' 'आत्म निभरता' 'माधुय' शब्द की आकषण शक्ति' आदि। भट्टजी के निबन्धो म विचारो की मौलि-कता, विषय की व्यापकता, शली की रोचकता आदि सभी गुण विद्यमान हैं।

ब्राह्मण' के सम्पादक प्रतापनारायण मिश्र ने भी विभिन्न विषयो पर लेख लिखे। कभी 'भौ दांत' 'पेट' मुच्छ' नाक' आदि पर मिश्रजी की विनोदिनी लेखनी चली तो कभी उसने 'वृद्ध प्रताप चरित' दान' 'जुआ' अपव्यय' जसे विषयों पर प्रकाश डाला। एक ओर उन्होंने नास्तिक' ईश्वर की मूर्ति' शिव मूर्त्ति' सोने का डडा', मनोयोग' आदि विषयो पर लिखा, तो दूसरी ओर समझदार की मौत है' ढ़ जान शाका सब कोहू', घूर क लत्ता बिन, 'कनातन क डौल बाँध' होली है अथवा होरा है' जसी उक्तियो पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला। मिश्रजी के निबन्धो म मुहावरो का प्रयोग भी अत्यधिक

भाषा म हुआ है जहाँ-तहाँ ता ४ एए बाबर म हो अरद महावरा की झडी लगा दी ०— गवगान अथवा तारघर क महाग त बात का बात म बात यहाँ सा जा यहा हो जान सकते हैं। बात अतिरिक्त बात बनता है बात बिगड़ता है बात आ जा पड़ता है बात जाती रहता है बात जमता है बात उखड़ता है बात सुनता है बात छिनता है बात चलती है बात अडती है।

एक विद्वान् ने लिखा है— भाषा म स्वकत ैगी म परसान और ग्रामाता चचलता और उछल-कूद मिजाज का किनारा है। भाषा सम्बन्धी लाप जहाँ-तहाँ लगकर वाही म बिखरे पड़े हैं। कहा कहीं वाक्य का निर्माण और दुर्बोध रूप भी मिलता है। उर्दू के एक-ना न भी परस्ती की तरह डर रह स दाग पडन हैं। तब-जब जमाने जब निहायत आदि म म मिल जायेंगे। पर केवल न्हा न ता म दूसर को कुछ नहीं, फिर क्या इनकी निन्दा की जाय ' या अब ऐसी ओर है। विराम चिन्ह तव प्रयुक्त ही अधिक नहा हान थ। इन्होंने तो उनका जग बहिष्कार ही कर रखा हो। इनके इमार म वाक्य कभी इतना लम्बा हो जाता है कि समझन म उसे बार-बार पढ़ना पड़ता है। (हिन्दी निबधकार प० ८७)

भारतेन्दु के मित्र चौधरी बदरीनारायण प्रेमघन ना पत्रा— आनन्द कादम्बिनी (मासिक) और नागरी-नीरद (साप्ताहिक)—के सपादक थ। इन पत्रा म उनके अनेक निबध प्रकाशित हुए जसे— हिन्दी भाषा का विकास परिपूर्ण प्रवास उत्साह-आलम्बन आदि। प्रेमघन जी की भाषा म आलकारिकता कृत्रिमता और चमत्कारोत्पत्ति का प्रयास मिलता है। एक बार उन्होंने गवरजी की एक पक्ति का सुधारकर यह रूप दिया था— दोनो दलो की दल-दली म दलपति का विचार भी दलदल म फसा रहा। दलपति का विचार दलदल म फसा या नहा किन्तु इसम कोइ सन्देह नहा कि प्रेमघन' जी की भाषा सदा इस कृत्रिमता के दलदल म फसी रही।

बालमुकुन्द गुप्त एव राधाचरण गोस्वामी—भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग को मिलानेवाली दो कड़ियो के सदृश हैं। गुप्तजी ने बगवासी भारत मित्र आदि का सपादन करते हुए अनेक निबध लिखे। उनके निबधो म विदेशी शासको की नीति पर मीठा व्यग्य किया गया। शिव शम्भु' के उपनाम से उन्होंने अनेक निबध लिखे जो शिव शभु का चिट्ठा प्रसिद्ध है। इनम लार्ड कर्जन को सम्बोधित करके भारतवासियों की राजनीतिक विवशता को अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। कहीं-कहीं उनका व्यग्य बडा तीखा हो गया है। होली के अवसर पर लिखे गए चिट्ठे म वे लिखते हैं— कृष्ण हैं उद्धव हैं पर ब्रजवासी उनके निकट भी नहीं फटकने पाते। सूर्य है धूप नहा चन्द्र है चाँदनी नहीं। माइ लार्ड नगर म ही है पर शिव शभु उनके द्वार तक नहा फटक सकता है उनके घर चल होली खेलना तो विचार ही दूसरा है। माइ लार्ड के घर तक बात की हवा तक नहा पहुच सकती। माइ लार्ड के मुख चन्द्र के उदय के लिए कोई समय भी नियत नहा है। इसी प्रकार राधाचरण गोस्वामी के निबध भी व्यग्य स ओत प्रोत है। उन्होंने अपने युग की सामाजिक कुरीतियो पर तीखा व्यग्य किया है। जब राधाचरण धार्मिक अधविश्वास पर चोट करते हैं तो उनकी वाणी म कबीर के प्राण बजते दीखते है। कबीर के व्यग्य म

कटु तीखापन है, गले से उतरते हुए ट कीर-सा खिंचता है गोस्वामीजी का व्यंग्य शहद में डूबा, हँसी में लिपटा और कल्पना से रंगीन है। यमपुर की यात्रा' लेख में वैतरणी पार करते समय लेखक को वहाँ के प्रधान ने रोक लिया पूछा क्या तुमने गोदान किया है ? तब लेखक उत्तर देता है— साहब प्रथम प्रश्न तो सुन लीजिए, गोदान का कारण क्या ? यदि गौ की पूँछ पकड़कर पार उतर जाते हैं तो क्या बैल से नहीं उतर सकते ? जब बैल से उतर सकते हैं, तो कुत्ते ने क्या चोरी की है ? लेखक ने किसी साहब का कुत्ता दान में दिया था इसी से वह वैतरणी-पार' का पास-पोर्ट बनवा लेना चाहता है।

वस्तुत भारतेन्दु युग के सभी निबन्धकारों में वैयक्तिकता के साथ-साथ सामाजिकता का समन्वय मिलता है। उनके विषय क्षेत्र में व्यापकता और विविधता मिलती है। हास्य और व्यंग्य का पुट उन्होंने दिया है किन्तु वह हास्य और व्यंग्य सोद्देश्य है—उसका उद्देश्य किसी सामाजिक या राजनीतिक विषमता पर चोट करना है। गूढ़ से गूढ़ विषयों को भी इस युग के लेखकों ने सरल सुबोध एवं मनोरंजक शैली में प्रस्तुत किया है। उनकी भाषा-शैली में व्याकरण की दृष्टि से स्वच्छता या शुद्धता भले ही न हो किन्तु पाठक के हृदय को गुदगुदाने उसके मस्तिष्क का मन्थन करने व उनकी आत्मा को स्पर्श करने में वह पूर्णत समर्थ है। उनके निबन्ध शुष्क वर्णनात्मक निबन्ध नहीं अपितु वे आदर्श साहित्यिक निबन्ध हैं जिनमें विचारों के साथ-साथ भावनाओं का भी उद्वेलन होता है जिनसे केवल ज्ञान की ही वृद्धि नहीं होती रसानुभूति की प्राप्ति भी होती है।

द्विवेदी-युग—द्विवेदी युग का आरम्भ हम श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'सरस्वती' के सम्पादन का कार्य-भार सँभालने के समय (सन् १९०३ ई० या १९६० वि०) से ही मान सकते हैं। सरस्वती में आते ही द्विवेदीजी ने सबसे पहला कार्य तत्कालीन लेखकों की भाषा को संस्कारित एवं परिमार्जित करने का किया। वे व्याकरण सम्बन्धी भूलों की आलोचना करते हुए विराम चिन्हों के प्रयोग एवं उपयोग पर प्रकाश डालने लगे। वे भाषा के गठन और स्वरूप का समाधान का प्रयत्न करते थे। भाषा के सम्बन्ध में उनकी नीति थी कि हिन्दी को अन्य भाषाओं के शब्दों से सर्वथा अछूता न रखा जाय। किन्तु प्रयत्नपूर्वक तत्सम शब्दों का भी बहिष्कार न किया जाय। उनकी इस नीति का प्रभाव तत्कालीन सभी प्रमुख निबन्धकारों की भाषा शैली पर पड़ा।

निबन्धकार द्विवेदी का आदर्श बेकन था। उन्होंने बेकन के निबन्धों का अनुवाद 'बेकन विचार रत्नावली' के रूप में किया। बेकन की भाँति द्विवेदीजी भी निबन्धों में विचारों की प्रमुखता देते हैं। उनके निबन्ध—'कवि और कविता' 'प्रतिभा' 'कविता' 'मानित्य की महत्ता' 'क्रोध', 'लोभ आदि—नये-नये विचारों से गुम्फित हैं। भारतेन्दु युगीन निबन्धों की-सी वैयक्तिकता का प्रदर्शन सजीवता, रोचकता एवं सहज उच्छृंखलता का द्विवेदीजी के निबन्धों में अभाव सा है। उनके निबन्धों में भाषा की शुद्धता सार्थकता एकरूपता शब्द प्रयोग-पटुता आदि गुण तो मिलते हैं किन्तु पदबन्धों की सूक्ष्मता विश्लेषण की गम्भीरता चिन्तन की मौलिकता उनमें बहुत कम है। फिर भी उनके निबन्धों में व्यास-शैली के कारण पर्याप्त सरसता आ गई है तथा कहीं-कहीं हास्य-व्यंग्य व भावात्मकता का भी प्रस्फुटन हुआ है जैसे— कास में प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने

किया है? पादाघात इटली का मस्तक किसने ऊंचा उठाया? साहित्य ने! साहित्य ने! साहित्य ने!!! आजकल के छायावादी कवि और कविता पर भी उनकी राय द्रष्टव्य है— छायावादियों की रचना तो कभी-कभी समझ में भी नहीं आती। ये बहुधा बड़े ही विलक्षण छन्दों या वृत्तों का भी प्रयोग करते हैं। कोई चौपदे लिखते हैं, कोई छः पदे, कोई ग्यारह पदे तो कोई तेरह पदे। किसी की चार सतरें गज-गज लम्बी तो दो सतरें दो ही अंगुल की! फिर ये लोग बेतुकी पद्यावली भी लिखने की बहुधा कृपा करते हैं। इस दशा में इनकी रचना एक अजीब गोरखधंधा हो जाती है। न ये शास्त्र की आज्ञा के कायल, न ये पूर्ववर्ती कवियों की प्रणाली के अनुवर्ती, न ये सत्समालोचकों के परामर्श की परवाह करनेवाले। इनका मूल मन्त्र है— हम चुनी दीगरे नेस्त।

सम्भवतः उपयुक्त पंक्तियों में थोड़े हल्केपन का आभास हो, किन्तु ऐसा सर्वत्र ही नहीं हुआ है। विषय के अनुरूप उनकी शैली में गम्भीरता भी दृष्टिगोचर होगी। मेघदूत निबन्ध की कुछ पंक्तियाँ हमारे कथन की सार्थकता प्रमाणित करेंगी। कविता कामिनी के कमनीय नगर में कालिदास का मेघदूत एक ऐसे भव्य भवन के सदृश है जिसमें पद्य रूपी अनमोल रत्न जुड़े हुए हैं—ऐसे रत्न जिनका मोल ताजमहल में लगे हुए रत्नों से भी कहीं अधिक है। वस्तुतः द्विवेदीजी के प्रमुख संग्रह रसज्ञ रंजन में सचमुच रसज्ञ पाठकों के रंजन की पूर्ण क्षमता है।

द्विवेदी-युग के अन्य निबन्धकारों में माधवप्रसाद मिश्र, गोविन्दनारायण मिश्र, श्यामसुन्दर दास, पद्मसिंह शर्मा, अध्यापक पूर्णसिंह एवं गुलेरी का नाम उल्लेखनीय है। विषय-वस्तु की दृष्टि से उन्होंने द्विवेदीजी का ही अनुकरण करते हुए विचारात्मक निबन्ध भी लिखे हैं, किन्तु फिर भी इनमें कहीं-कहीं शैली की विशिष्टता दृष्टिगोचर होती है। माधवप्रसादजी ने धृति, सत्य जैसे विषयों पर गम्भीर शैली में प्रकाश डाला है। गोविन्द नारायण मिश्र की शैली में अलंकारों की छटा मिलती है। संस्कृत की शब्दावली के अतिशय प्रयोग के कारण उनके निबन्ध जटिल से हो गए हैं। उदाहरण के लिए उनके द्वारा प्रस्तुत साहित्य की परिभाषा देखिए— मुक्ताहारी नीर क्षीर विचार सुचतुर-कवि कोविद राज हिय सिंहासनासिनी मंदहासिनी त्रिलोक प्रकाशिनी सरस्वती माता के अति दुलारे प्राणों से प्यारे पुत्रों की अनुपम अनोखी अतुलवाली परम प्रभावशाली सुजन मन-मोहिनी नवरस भरी सरस सुखद विचित्र वचन रचना का नाम ही साहित्य है। इस परिभाषा को पढ़कर साहित्य तो दूर रहा स्वयं इस परिभाषा का समझना ही टेढ़ी खीर है।

बाबू श्यामसुन्दरदास उच्च कोटि के आलोचक होने के साथ साथ सफल निबन्धकार भी थे। उन्होंने प्रायः आलोचनात्मक गम्भीर विषयों पर ही लेख लिखे—जैसे भारतीय साहित्य की विशेषताएं, समाज और साहित्य, हमारे साहित्योदय की प्राचीन कथा, कर्त्तव्य और सभ्यता आदि। उनके निबन्धों में विचारों का संग्रह और समन्वय ही मिलता है, आत्मानुभूतियों का प्रकाशन या भावात्मकता के दर्शन उनमें नहीं होते। उनकी शैली प्रौढ़ होते हुए भी सरल थी, उसमें कहीं भी अस्पष्टता या जटिलता दृष्टिगोचर नहीं होती। किन्तु भारतेन्दु युग की सी रोचकता या द्विवेदीजी की सी सुबोधता

का भी उनके निबन्धों में अभाव है। बाबूजी के समकालीन ही तुलनात्मक समालोचना के जन्मदाता पद्मसिंह शर्मा थे। शर्माजी के निबन्धों के दो संग्रह—'पद्मपराग' और 'प्रबन्ध मंजरी' प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने अपने निबन्धों में महापुरुषों के जीवन का चित्रण, समकालीन व्यक्तियों के संस्मरण या उनको श्रद्धांजलि, साहित्य समीक्षा आदि विषयों को ग्रहण किया है। उनकी शैली में वैयक्तिकता भावात्मकता एवं सरसता का पुट मिलता है। गणपति शर्मा को दी गई श्रद्धांजलि की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—हा! पंडित गणपति शर्मा जी हमको व्याकुल छोड़ गए। हाय हाय! क्या हो गया। यह वज्रपात, यह विपत्ति का पहाड़ अचानक कैसे टूट पड़ा। यह किसकी वियोगाग्नि से हृदय छिन्न भिन्न हो गया। यह किसके वियोग-बाण ने कलेजे को बींध दिया यह किसके शोकानल की ज्वालाएँ प्राण पखेरू के पंख जलाए डालती हैं। हा! निर्दय काल-यवन के एक ही निष्ठुर प्रहार ने किस भव्य मूर्ति को तोड़कर हृदय-मंदिर सूना कर दिया।

अध्यापक पूर्णसिंह और पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी अपनी शैली की विशिष्टता के लिए प्रसिद्ध हैं। अध्यापक पूर्णसिंह के निबन्धों में स्वाधीन चिंतन निर्भय विचार प्रकाशन एवं प्रगतिशील तत्त्व मिलते हैं। उनकी शैली में अनूठी लाक्षणिकता और अपूर्व व्यंग मिलता है। "बादल गरज-गरजकर ऐसे ही चले जाते हैं, परन्तु बरसनेवाले बादल जरा-सी देर में बारह इंच तक बरस जाते हैं।' या पुस्तकों या अखबारों के पढ़ने से या विद्वानों के व्याख्यानों को सुनने से तो बस ड्राइंग हाल्न के वीर पैदा होते हैं।' "आजकल भारतवर्ष में परोपकार का बुखार फैल रहा है।, 'पुस्तकों के लिखे नुस्खों से तो और भी बदहजमी हो जाती है। जैसे वाक्य उनकी शैली की रोचकता का नमूना प्रस्तुत करते हैं।

गुलेरी जी के निबन्ध संख्या में कम हैं, किन्तु गुणों की दृष्टि से वे बहुत महत्वपूर्ण हैं। उनमें गम्भीरता के साथ मनोविनोद पांडित्य के साथ चुलबुलापन, प्राचीनता के साथ नवीनता सांस्कृतिकता के साथ प्रगतिशीलता का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है। उनकी शैली में सरलता, सरसता व्यंग्यात्मकता, एवं रोचकता का गुण प्रभूत मात्रा में विद्यमान है। कछुआ धर्म' से कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—'पुराने से पुराने आर्यों की अपने भाई असुरों से अनबन हुई। असुर असुरिया में रहना चाहते थे, आर्य सप्तसिंधु को आर्यावर्त बनाना चाहते थे। आगे ये चल दिये पीछे वे दबाते आये पर ईरान के अंगूरों और गुलों का मुन्जवत पहाड़ की सोमलता का चस्का पड़ा हुआ था लेने जाते तो वे पुराने गन्धर्व मारने दौड़ते है। हाँ, उनमें से कोई-कोई उस समय का चिलकौआ नक्द नारायण लेकर बदले में सोमलता बेचने को राजी हो जाते थे। उस समय का सिक्का गौएँ थीं। मोल ठहराने में बड़ी हुज्जत होती थी, जैसी कि तरकारियों का भाव करने में कुंजड़ियों से हुआ करती है। ये कहते कि गौ की एक कला में सोम बेच दो। वह कहता वाह! सोम राजा का दाम इससे कहीं बढ़कर है। इधर ये गौ के गुण बखानते। जैसे बुड्ढे चौबेजी ने अपने कंधे पर चढ़ी बाल-वधू के लिए कहा था कि या ही में बेटी बेस ये भी कहते कि 'इस गौ से दूध होता है, मक्खन होता है दही होता है यह होता है वह होता है। वस्तुतः गुलेरी जी के निबन्ध उनके व्यक्तित्व की सजीवता से ओत-प्रोत हैं उनकी शैली पर सर्वत्र उनका व्यक्तित्व अंकित है।

पर विचार करते-करते वे लिखने लगते हैं— 'लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई उपासक सब पत्थर के हो गए। आजकल तो बहुत सी बात घात के ठीकरों पर ठहरा दी गई है। राजधर्म, आचार्य धर्म वीर धर्म, सब पर सान चढ़ा पानी फिर गया, सब टका धर्म हो गए। सबकी टकटकी टक की ओर लगी हुई है। तो कहाँ वे चाटुकार लोगों की खबर लेते हुए कह बैठते हैं— इसी बात का विचार करके सलाम-साधक लोग हाकिमों से मुलाकात करने में पहले अर्दलियों से उनका मिजाज पूछ लिया करते हैं।' वस्तुतः शुक्लजी के निबंधों में वे सभी गुण मिलते हैं, जो गम्भीर विषयों के निबंधों के लिए अपेक्षित हैं। हाँ, उनके कुछ निबंध अति गम्भीरता, अति प्रौढ़ता एवं अति सूक्ष्मता के कारण साधारण पाठक के लिए पहेलियाँ के तुल्य जटिल दुरूह एवं शुष्क अवश्य बन गए हैं।

शुक्ल-युग के अन्य निबंधकारों में डा० गुलाबराय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी माखनलाल चतुर्वेदी वियोगी हरि रायकृष्णदास वासुदेवशरण अग्रवाल, शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि उल्लेखनीय हैं। गुलाबरायजी के अनेक निबंध-संग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनमें 'फिर निराशा क्यों?', 'मेरी असफलताएँ', 'मेरे निबंध' आदि लोकप्रिय हैं। आपके निबंधों में व्यक्तित्व की सरसता, अनुभूति का सम्मिश्रण विचारों की स्पष्टता एवं शैली की सुबोधता मिलती है। 'मेरी असफलताएं' में आपने वैयक्तिक विषयों को रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। उनके निबंधों में व्यंग्य भी स्थान-स्थान पर मिलता है, किन्तु उसका लक्ष्य कोई और नहीं वे स्वयं ही हैं। 'मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ' की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं— खैर, आजकल उन (भैंस) का दूध कम हो जाने पर भी और अपने मित्रों को छाछ भी पिला न सकने की विवशता को भुगतने के होते हुए भी उसके लिए भूसा लाना अनिवार्य हो जाता है। कहाँ साधारणीकरण और अभिव्यंजनावाद की चर्चा और कहाँ भूसे का भाव! भूसा खरीदकर मुझे भी गधे के पीछे ऐसे ही चलना पड़ता है, जैसे बहुत से लोग अक्ल के पीछे लाठी लेकर चलते हैं। लेकिन मुझे गधे के पीछे चलने में उतना ही आनन्द आता है जितना कि पलायनवादी को जीवन से भागने में। आचार्यजी ने अपने अनेक निबंधों में साहित्य और मनोविज्ञान की अनेक समस्याओं का भी समाधान प्रस्तुत किया है।

बख्शी पदुमलाल पुन्नालालजी ने अपने निबंधों में मौलिक विचार एवं नूतन शैली का आदर्श उपस्थित किया है। उनके निबंधों के विषय हैं—जैसे 'उत्सव', 'रामलाल पंडित' नाम 'समाज-सेवा', 'विज्ञान' आदि। उनकी शैली में कुछ ऐसी विशिष्टता परिलक्षित होती है जो अन्यत्र सुलभ नहीं। राय कृष्णदास, वियोगी हरि एवं शान्तिप्रिय द्विवेदी के निबंधों में विचारों की अपेक्षा निजी अनुभूतियों एवं भावनाओं की अधिक अभिव्यक्ति हुई है। वस्तुतः हिन्दी में भावात्मक निबंधों या गद्य-काव्य के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करने का श्रेय इन्हीं लेखकों को है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने प्रायः सांस्कृतिक विषयों पर कलम उठाई है तो दूसरी ओर डा० रघुवीरसिंह ने इतिहास के धूमिल दृश्यों को नया रंग-रूप प्रदान किया है। इन सभी निबंधकारों की शैली में निजी विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्ल-युग में निबंधों के विषय-क्षेत्र में और अधिक

गम्भीरता एव सू मता आद। इस यु न निबधा म मुख्या साहित्य, मनोविज्ञान, सस्कृति इतिहास जस विषया की गम्भीर समस्याओ पर नय-नय दृष्टिकोणा स मौलिक विचा प्रस्तुत किए गए। साथ हा निजी अनुभूतियो एव भावनाओ को प्रधानता भी अनेक निबध कारा न दिया है। भाषा-शैली की दृष्टि स भी द्विवेदी-युग स इस युग का निबध-साहित्य बहुत अधिक विकसित एव प्रौढ़ दिखाई पड़ता है।

शुक्लोत्तर युग—शुक्ल-परवर्ती निबधकारा म आचाय हजारीप्रसाद द्विवेदी नददुलार वाजपयी वासुदवशरण अग्रवाल शान्तिप्रिय द्विवेदी डा० नगेन्द्र, जनेन्द्र कुमार डा० सत्येन्द्र डा० विनयमोहन शर्मा डा० रामविलास शर्मा प्रभाकर माचवे, इलाचन्द्र जोशी चद्रबली पाडे रामवृक्ष बेनीपुरी रामधारीसिंह दिनकर 'शिवदानसिंह चौहान प्रकाशचन्द्र गुप्त देवेन्द्र सत्यार्थी कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर डा० भगवतशरण उपाध्याय डा० भगीरथ मिश्र डा० पद्मसिंह शर्मा कमलेश' विश्वम्भर मानव' डा० रामरतन भटनागर आदि प्रमुख रूप स उल्लेखनीय हैं।

शुक्लोत्तर निबधकारा म आचाय हजारीप्रसाद द्विवेदी का शीर्षस्थ स्थान है। उनके अनेक निबध-सग्रह प्रकाशित हुए हैं यथा—'अशोक के फूल' 'कल्पलता' 'विचार और वितक' 'विचार प्रवाह' 'कुटज' आदि। आपके निबधा का विषय-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है उनम भारतीय साहित्य भारतीय सस्कृति एव परपरागत ज्ञान विज्ञान के साथ आधुनिक युग की विभिन्न परिस्थितियो प्रवत्तियो एव समस्याओ का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है। जहा उनके निबध अध्ययन-क्षेत्र की व्यापकता एव चिन्तन की गम्भीरता स युक्त हैं वहा वे उनके व्यक्तित्व की सरलता सहजता एव सरसता से भी समन्वित हैं। वस्तुत व्यक्ति और विषय का गूढ़ तादात्म्य उनम परिलक्षित होता है। इसीलिए उनके गम्भीर से गम्भीर निबध भी पाठक को उबाते नही अपितु व उसका अनुरजन करते हुए रसानुभूति प्रदान करते है। अवश्य ही उनके कुछ निबध इसके अप वाद भी है जिनम लखक का मन रमा नहीं है पर उनके अधिकाश निबध ललित या कलात्मक निबध के उत्कृष्ट उदाहरणो के रूप म प्रस्तुत किए जा सकते है।

आचाय द्विवेदी के निबधो की शैली लखक के मनोभाव एव विषय की प्रकृति के अनुकूल बदलती रहती है। कालिदास युगीन वातावरण का चित्रण करत समय जहाँ उनकी शब्दावली सहज ही संस्कृत-गर्भित हो जाती है, वहाँ ग्रामीण जीवन के प्रसगो मे मे लोक भाषा के चलताऊ शब्द भी यत्र-तत्र आ टपकते है। आधुनिक जीवन की विकृतियो एव दूषित प्रवत्तियो का विश्लेषण करत समय व प्राय हास्य-व्यग्यमयी शैली का प्रयोग करते हैं। *यहा उनकी व्यग्यमयी शैली का एक नमूना प्रस्तुत है—'आसमान में निरन्तर* मुक्का मारने मे कम परिश्रम नही और मैं निश्चित जानता हूँ कि रहस्यवादी आलोचना लिखना कुछ हँसी-खेल नहीं है। पुस्तक को छुआ तक नही और आलोचना ऐसी लिखी कि त्रैलोक्य विकपित! यह क्या कम साधना है!'

आचाय नन्ददुलारे वाजपयी मूलत विचारक एव आलोचक हैं अत उन्होंने मुख्यत आलोचनात्मक निबध लिखे हैं। उनके निबधो के अनेक सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनम 'हिन्दी-साहित्य बीसवी शताब्दी', 'आधुनिक साहित्य', 'नया साहित्य

नये प्रश्न'। इन कृतियों को विषय-वस्तु की दृष्टि से जहाँ आलोचना में स्थान दिया जाता है वहाँ काव्य रूप एवं शैली की दृष्टि से निबंध के अन्तर्गत लिया जा सकता है। इनके निबंध विचार प्रधान वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। उनके विचार निजी चिन्तन-मनन पर आधारित हैं अतः इस दृष्टि से अवश्य उन पर व्यक्तित्व की छाप है, किन्तु उनकी प्रतिपादन-शैली विषय के साथ इस प्रकार बँधी हुई, विचारों में जकड़ी हुई है कि उसमें व्यक्तित्व की स्वतन्त्र सत्ता का आभास प्रायः नहीं मिलता। जहाँ उनका विचारक अत्यन्त गंभीर हो जाता है वहाँ उनकी शैली भी गूढ़ एवं बोझिल हो जाती है। वस्तुतः इस दृष्टि से वे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की परम्परा में आते हैं। उनकी शैली की प्रौढ़िकता एवं तार्किकता उच्च स्तरीय पाठकों को बौद्धिक आनन्द प्रदान करती है।

भारतीय संस्कृति एवं पुरातत्त्व सम्बन्धी विषयों पर निबंध-रचयिताओं में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इनके तत्सम्बन्धी अनेक निबंध-संग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनमें पृथ्वी-पुत्र मातृभूमि' कला और संस्कृति' आदि उल्लेखनीय हैं। डा० अग्रवाल के निबंधों में अध्ययन की गम्भीरता के साथ-साथ चिन्तन की मौलिकता के भी दर्शन होते हैं। वे प्राचीन तत्त्वों एवं गुत्थियों को अपनी व्याख्याओं द्वारा नया रूप प्रदान करते हुए उन्हें आधुनिक पाठक के लिए बोध-गम्य बना देते हैं। उनकी शैली में सरलता और स्पष्टता मिलती है, जो उनके निबंधों का अतिरिक्त गुण है।

आत्मानुभूतिपरक वैयक्तिक निबंध प्रस्तुत करने की दृष्टि से प० शान्तिप्रिय द्विवेदी का हिन्दी साहित्य में विशिष्ट स्थान है। इनके विभिन्न निबंध-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। यथा—'जीवन-यात्रा' साहित्यिकी, हमारे साहित्य निर्माता', कवि और काव्य' संचारिणी' 'युग और साहित्य' सामयिकी' आदि। इन्होंने प्रायः कला एवं साहित्य सम्बन्धी विषयों पर ही स्वानुभूतिमूलक विचार प्रस्तुत किए हैं किन्तु पथ चिन्ह', परिव्राजक की प्रजा आदि में वैयक्तिक प्रसंगों को भी लिया है। इनकी शैली अत्यन्त सरस एवं प्रभावोत्पादक है जो कहीं-कहीं करुणोत्पादक भी बन गई है यथा वे अपनी बहिन से सम्बन्धित संस्मरण में उसका परिचय प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं— छुटपन में ही वह विधवा हो गई थी। उस अबोध वय में उसने जाना ही नहीं कि उसके भाग्य क्षितिज में क्या पट-परिवर्तन हो गया। जन्मकाल से माँ का जो अंचल उसके मस्तक पर फैला हुआ था। सयानी होने पर उसने वही अंचल अपने मस्तक पर ज्यों का त्यों पाया, मानो शैशव ही उसके जीवन में अक्षुण्ण हो गया। अचानक एक दिन जब वह अंचल भी मस्तक पर से छाया की तरह तिरोहित हो गया तब उसके जीवन में मध्याह्न की प्रखर ज्वाला के सिवा और क्या शेष रह गया था।

डा० नगेन्द्र ने साहित्यिक आलोचनात्मक निबंधों की अभिवृद्धि में असाधारण योग दिया है। उनके निबंध-संग्रहों में से विचार और विवेचन' विचार और अनुभूति', विचार और विश्लेषण कामायनी के अध्ययन की समस्याएं आदि उल्लेखनीय हैं। इनके निबंधों का मूल स्वर विषय प्रधान है किन्तु अनेक निबंधों में व्यक्तित्व के दर्शन भी स्पष्ट रूप में होते हैं। फिर भी इनका प्रयास पाठक का ध्यान अपनी अपेक्षा विवेच्य विषय या मूल समस्या की ओर आकर्षित करने की ओर अधिक रहता है एक कुशल व्याख्याता

की भाँति वे किसी भी समस्या पर अपना समाधान प्रस्तुत करने से पूर्व उसे पाठक के हृदय में उतार देते हैं। यही कारण है कि गूढ़ से गूढ़ विषय को भी पाठक रुचिपूर्वक ग्रहण करता चलता है। उनका साधारणीकरण सम्बन्धी निबन्ध इस शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। कुछ निबन्धों में डा० नगेन्द्र ने व्याख्यात्मक एवं विश्लेषणात्मक शैली के स्थान पर रूपकात्मक या अप्रस्तुतात्मक शैली के भी प्रयोग किए हैं यथा—'वाणी पाणि के कम्पाउण्ड में' या 'हिन्दी उपन्यास' में किया गया है। वस्तुतः विचारों की गम्भीरता, चिन्तन की मौलिकता एवं शैली की रोचकता—इन तीनों का समन्वय इनके निबन्धों में परिलक्षित होता है।

जैनेन्द्रकुमार मूलतः [illegible] किन्तु निबन्धों के क्षेत्र में भी उन्होंने योगदान दिया है। उनके निबन्ध [illegible] में जड़ की बात, जैनेन्द्र के विचार, साहित्य का श्रेय और [illegible] प्रश्न, सोच विचार, मंथन आदि उल्लेखनीय हैं। जैनेन्द्रजी ने प्रायः दार्शनिक मनोवैज्ञानिक साहित्यिक आदि विभिन्न विषयों पर अपने विचार प्रकट किए हैं। उनकी चिन्तन प्रणाली स्पष्ट न होकर द्वन्द्वात्मक है। इसका प्रभाव उनकी शैली पर भी पड़ा है। उनके निबन्ध पाठक को एकाएक किसी सुस्पष्ट निर्णय तक नहीं पहुँचाते अपितु उसे चक्करदार मार्ग से ले जाकर एक संदिग्ध स्थिति में छोड़ देते हैं। वस्तुतः जैनेन्द्र पाठक पर अपना निर्णय नहीं थोपते अपितु उसकी निर्णय शक्ति को इस प्रकार उत्तेजित एवं आन्दोलित कर देते हैं कि जिसमें वह स्वयं ही उस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है जहाँ कि जैनेन्द्र पहुँचाना चाहते हैं। उदाहरण के लिए इनकी शैली का एक नमूना यहाँ प्रस्तुत है—"पर आँखों देखी बात है कि पैसा उठा लिया जाता है इन्सान को छोड़ दिया जाता है। उसका कीमत पैसे की नहीं है। मैं जानना चाहता हूँ कि यह अनर्थ कैसे होने में आया? क्या यह जरूरी नहीं है कि जैसे पैसे की तरफ प्रीति का हाथ बढ़ता है वैसे ही बल्कि उससे भी अधिक इन्सान की तरफ हमारे प्रेम का हाथ बढ़े? क्या यह जरूरी है कि आदमी दया की प्रतीक्षा करे और तब तक उस ओर से अपने को अछूता बनाए रखे? अगर पैसे को धूल में से उठा कर जेब में रखना [illegible] पर उपकार करना नहीं है तो रोगी को सड़क पर से उठाकर अस्पताल में रखने में भी [illegible]र की कहाँ आवश्यकता आ जाती है?"

डा० नगेन्द्र ने साहित्य एवं कला सम्बन्धी विषयों पर उत्कृष्ट निबन्ध प्रस्तुत किए हैं जो 'कला कल्पना और साहित्य', 'साहित्य की झाँकी' आदि में संगृहीत हैं। इनके निबन्धों में अध्ययन की गम्भीरता, ज्ञान-क्षेत्र की व्यापकता एवं चिन्तन की स्पष्टता परिलक्षित होती है। अपने तथ्य को वे तर्क एवं प्रमाण से भली भाँति पुष्ट करके प्रस्तुत करते हैं जिससे वह पाठक की बुद्धि को सहज ही ग्राह्य हो जाता है। इनकी शैली में भी स्पष्टता एवं रोचकता के दर्शन होते हैं।

डा० विनयमोहन शर्मा के निबन्ध 'साहित्यावलोकन', 'दृष्टिकोण' आदि में संगृहीत हैं। उन्होंने मुख्यतः सौन्दर्य शास्त्रीय एवं साहित्यिक विषयों को लिया है। इनके व्यक्तित्व की सरलता एवं उदारता के अनुरूप ही इनके निबन्धों में भी विचारों की स्पष्टता व शैली की ऋजुता मिलती है। किसी विषय का प्रतिपादन करने से पूर्व प्रायः वे उसके सम्बन्ध में पाठक की जिज्ञासा को इस प्रकार जागृत कर देते हैं कि जिससे वह इनके प्रति-

पाठ को सुनने व समझने में तत्कालीनतापूर्वक प्रवृत्त हो जाता है। उदाहरणार्थ 'कलाकार' और सौन्दर्य बोध' शीर्षक निबन्ध का यह अंश द्रष्टव्य है— सौन्दर्य क्या है, उसका 'बोध' कैसे होता है, और कवि या कलाकार पर उसकी किस प्रकार प्रतिक्रिया होती है? ये प्रश्न वर्षों से साहित्य और दर्शन में विवाद बने हुए हैं। इस प्रकार के प्रश्नों से पाठक की उत्सुकता का बढ़ जाना स्वाभाविक है।

अत्यन्त ताजी व्यंग्यपूर्ण एवं सशक्त शैली में निबन्ध रूप में अपने विषय को प्रस्तुत कर देनेवाले निबन्धकारों में डा० रामविलास शर्मा का विशेष स्थान है। उन्होंने साहित्य, कला, संस्कृति एवं राजनीति सम्बन्धी विषयों पर शताधिक निबन्ध प्रस्तुत किए हैं जो 'संस्कृति और साहित्य', प्रगति और परम्परा', 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ', स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य' आदि संग्रहों में संगृहीत हैं। डा० शर्मा का दृष्टिकोण मार्क्सवादी या प्रगतिवादी है अतः उन्होंने अपने निबन्धों में विभिन्न विषयों का प्रतिपादन इसी दृष्टिकोण से किया है। उनके अतिरिक्त प्रकाशचन्द्र गुप्त एवं शिवदानसिंह चौहान ने भी प्रगतिवादी दृष्टिकोण से विभिन्न निबन्ध प्रस्तुत किए हैं। प्रकाशचन्द्र गुप्त के निबन्ध 'नया हिन्दी साहित्य एक भूमिका' साहित्य धारा' आदि में तथा शिवदानसिंह चौहान के निबन्ध 'साहित्यानुशीलन' आलोचना के मान' आदि में संगृहीत हैं। इन दोनों की शैली में भी सरलता स्पष्टता एवं रोचकता मिलती है।

डा० भगवतशरण उपाध्याय ने ऐतिहासिक, सांस्कृतिक व सामाजिक विषयों पर उत्कृष्ट निबन्ध प्रस्तुत किए हैं। उनके निबन्धों में अध्ययन एवं चिन्तन की गम्भीरता परिलक्षित होती है। उनके निबन्ध-संग्रहों में 'भारत की संस्कृति का सामाजिक विश्लेषण', 'इतिहास के पृष्ठों पर', 'खून के धब्बे' सांस्कृतिक निबन्ध' आदि उल्लेखनीय हैं। डा० भगीरथ मिश्र, डा० रामरतन भटनागर, डा० रामधारी सिंह दिनकर प्रभृति ने साहित्य के विभिन्न पक्षों एवं विषयों को लेकर सुन्दर निबन्ध प्रस्तुत किए हैं। डा० भगीरथ मिश्र के निबन्ध 'कला और साहित्य' में डा० भटनागर के 'अध्ययन और आलोचना' में तथा डा० दिनकर के मिट्टी की ओर', 'अर्द्ध नारीश्वर 'रेती के फूल' आदि में संगृहीत हैं।

संस्मरणात्मक निबन्धों के क्षेत्र में महादेवी वर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी हरिवंशराय 'बच्चन' और देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। महादेवी वर्मा ने अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएँ, शृंखला की कड़ियाँ' आदि निबन्ध-संग्रह प्रस्तुत किए हैं। इनमें सामाजिक विषमता एवं दीन-हीन जनों की वेदना का चित्रण अनुभूति से ओत प्रोत शब्दों में किया गया है। जहाँ इनका विषय उदात्त है वहाँ इनकी शैली भी अत्यन्त सशक्त एवं प्रौढ है। उसमें दार्शनिक की अन्तर्दृष्टि कवि की वाणी चित्रकार की तूलिका एवं गद्यकार की लेखनी का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार बेनीपुरीजी ने भी अपने संस्मरणात्मक निबन्धों के रूप में समाज के विभिन्न वर्गों से सम्बन्धित व्यक्तियों के चित्र सहृदयतापूर्ण शैली में अंकित किए हैं, जो माटी की मूरतें' व गेहूँ और गुलाब में संगृहीत हैं। इनकी शैली कहीं कहीं अत्यन्त काव्यात्मक हो उठती है यथा—'कभी-कभी मालूम होता है किसी अन्य छोर को पकड़कर शत-सहस्र ज्योत्स्ना-कुमारियाँ चन्द्र-मंडल से एक-एक कर उतर रही

हैं और आधुनिकता का समुद्र की तरह मानवता के सम्मिन अन्तर को घूम-घूमकर अट्टहास कर उठता है। बच्चन ने क्या भूलूँ क्या याद करूँ में और नम्रता ने 'उराम' में अपने जीवन के मर्मस्पर्शी संस्मरण अंकित किए हैं।

आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय ने अनेक समीक्षात्मक एवं गवेषणात्मक निबन्ध लिखे थे, जो 'एकता' 'विचार विमर्श' आदि में संगृहीत हैं। इनके निबन्धों में गम्भीर अध्ययन एवं तर्कपूर्ण शैली का सामंजस्य परिलक्षित होता है। नलिनविलोचन शर्मा, रांगेय राघव, डा० देवराज प्रभृति ने विभिन्न साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विषयों पर उच्चकोटि के निबन्ध लिखे हैं। इलाचन्द्र जोशी के अनेक निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं यथा— 'साहित्य सर्जना' 'विवेचन' 'विश्लेषण' 'देखा-परखा' 'महापुरुषों की प्रेमकथाएं' आदि। जोशी जी ने साहित्य, मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण से सम्बन्धित विभिन्न विषयों का विवेचन प्रभावोत्पादक शैली में किया है। सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने भी साहित्यिक विषयों पर निबन्ध प्रस्तुत किए हैं जो उनके 'त्रिशंकु' में संगृहीत हैं। यशपाल ने कथा साहित्य के अतिरिक्त निबन्ध-साहित्य की अभिवृद्धि में भी असाधारण योग दिया है। 'देखा सोचा समझा' 'मार्क्सवाद' 'चक्कर क्लब' 'न्याय का संघर्ष' 'गांधीवाद की शव-परीक्षा', 'राज्य की कथा' आदि संग्रहों में उनके विभिन्न प्रकार के निबन्ध संगृहीत हैं। उनकी शैली में सरलता और विचारोत्तेजकता मिलती है। कहीं-कहीं वे स्वयं व्यंग्य का भी प्रहार करते हैं यथा—'कारतूसों की एक दुकान खोलो जिसमें 'क्लोरोमाइड कारतूस' मुसलमानों के लिए और झटकाइड कारतूस' सिखों के लिए रहें। अच्छा मुनाफा रहेगा।

हास्य-व्यंग्यपूर्ण निबन्धों के क्षेत्र में गोपालप्रसाद व्यास, प्रभाकर माचवे एवं बेढब बनारसी के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। व्यासजी के व्यंग्य विनोदपूर्ण निबन्ध 'कुछ सच कुछ झूठ' 'मन कहा' आदि में संगृहीत हैं। ये छोटी से छोटी बात को भी अत्यन्त रोचक एवं साहित्यिक ढंग से प्रस्तुत करने की कला में सिद्ध-हस्त हैं। उदाहरण के लिए स्नान घर में एक भैंस के घुस जाने की घटना को लेकर वे एक अनूठा निबन्ध रच देने के साथ-साथ यत्र-तत्र विभिन्न वर्गों के साहित्यकारों को भी भैंस के बहाने याद कर लेते हैं— एक दिन बाबूजी की पत्नी गुसलखाने में स्नान कर रही थी तो भैंस भी अपना अधिकार समझ कर उसमें घुस पड़ी। सँकरा दरवाजा छोटी जगह। भैंस घुस तो गई मगर अब निकले कैसे? एकदम नई उलझन थी। प्रगतिशील भैंस के बढ़े हुए कदम प्रतिक्रियावादी होने को कतई तयार न थे।

प्रभाकर माचवे ने भी साधारण विषयों—'मुँह' 'गला', 'गाली' 'बिल्ली' 'मकान' आदि—को लेकर अत्यन्त रोचक निबन्धों की रचना की है जो उनके 'खरगोश के सींग' में संगृहीत हैं। उनकी शैली सरल मुहावरेदार एवं प्रवाहपूर्ण है। देवेन्द्र सत्यार्थी ने लोक-संस्कृति एवं लोकगीतों की पृष्ठभूमि को लेकर विभिन्न विषयों पर अनुभूतिपूर्ण निबन्ध लिखे हैं, जो 'एक युग एक प्रतीक' 'रेखाएँ बोल उठीं' 'क्या गोरी क्या सांवरी', 'कला के हस्ताक्षर' आदि में संगृहीत हैं। सत्यार्थीजी की शैली में मन को आकर्षित करने की क्षमता मिलती है। जयनाथ 'नलिन' के आलोचनात्मक निबन्ध 'कला और चिन्तन' में संगृहीत हैं जो उनके मौलिक चिन्तन के द्योतक हैं।

हिन्दी म अन्तव्यू-शली म निबध प्रस्तुत करन की परम्परा क प्रवत्तक के रूप म डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' का नाम उल्लेखनीय है। इनक निबध म इनम मिला (दो भाग) म सगृहीत हैं। इ हाने विभिन साहित्यकारा के इण्टरव्यू के आधार पर उनके व्यक्तित्व, दशन एव साहित्य-सजन के विभिन्न पक्षा का कलात्मक शली म प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त भी डा० कमलेश ने हिन्दी को अनक उच्चकाटि के निबध प्रदान किए हैं, जो विचारा की स्पष्टता क साथ-साथ शली की सरसता स युक्त होत हैं।

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' एव रामनाथ सुमन न जीवन और समाज के लिए प्ररणादायक निबध रोचक एव प्रभावोत्पादक शली म प्रस्तुत किए हैं। प्रभाकर जी क निबध-सग्रहा म 'जिदगी मुस्कराई' 'बाज पायलिया के घुघरू' 'दीपजले शख बजे' 'क्षण बोले, कण मुस्काये' आदि उल्लेखनीय हैं। 'सुमन' जी क निबधा की सख्या शताधिक है, जो विभिन्न सग्रहा म सगहीत हैं।

अस्तु, उपयुक्त विवरण स स्पष्ट है कि हिन्दी निबध-साहित्य न थोडे से समय म ही पर्याप्त उन्नति कर ली है। भारतेदु युग से लेकर अब तक निबध साहित्य म क्रमश प्रौढता आती रही है किन्तु फिर भी नवीनतम निबध-साहित्य म कुछ दूषित प्रवत्तिया का भी विकास हो रहा है। एक तो अपने ज्ञान की धाक जमान के लिए कुछ निबधकार पाश्चात्य लेखका से उधार लिए हुए विचारो को बिना समझे ही उगलत जा रह हैं जिससे उनकी भाषा म न तो प्रवाह मिलता है और न ही कला का सौन्दय। दूसर हमारे निबधा म वयक्तिकता का तत्त्व न्यून होता जा रहा है। तीसरे, हमारा दष्टिकोण साहित्य की समस्याओ तक ही सीमित है, क्या हम राजनीतिक एव सामाजिक समस्याओ को अपने निबध का विषय नही बना सकते जसा कि भारतेन्दु-युग म हुआ था? चौथे, हमारे निबधा म सहज प्रफुल्लता, ताजगी, रोचकता एव व्यग्यात्मकता का ह्रास होता जा रहा है। आशा है हिन्दी के लेखक इस ओर ध्यान देंगे।

१ एकांकी म मुख्यत किसी एक ही घटना या जीवन की कोइ एक प्रमुख सवेदना होना चाहिए उसका विकास कौतूहलवद्धक नाटकीय शली म होना चाहिए तथा चरम सीमा पर पहुचकर एकाकी का अन्त होना चाहिए।

२ एकाकी म अभिव्यजित घटनाओ का चुनाव जीवन की दनिक घटनाओ म स होना चाहिए, जिसस उसम यथाथता एव मनोरजन का समावेश हो सके।

३ दो विरोधी पात्रो या वर्गों के विरोधी भावो म सघष दिखाया जाना चाहिए। सघष ही एकाकी का प्राण है।

४ एकाकी क कथन म कौतूहल, जिज्ञासा, गति की तीव्रता एव चरम-सीमा म परिणति होनी चाहिए।

५ यथाथवाद का स्थान देत हुए आदशवाद की ओर सकेत किया जा सकता है।

६ एकाकी म स्वाभाविकता एव जीवन से निकटता बनाए रखन क लिए सकलन त्रय का पालन कठोरता स होना चाहिए। सकलन त्रय से तात्पय है—समय की एकता और काय की एकता।

उपयुक्त सभी विद्वानो क विचारो का गहरा मथन करत हुए डा० रामचरण महेद्र न अन्त म एकाकी के आठ तत्व निर्धारित किए हैं—(१) कथावस्तु (२) सघष या द्वन्द्व (३) सकलन त्रय (४) पात्र और चरित्र चित्रण (५) कथोपकथन, (६) अभिनयशीलता (७) रगमच निर्देश और (८) प्रभाव-ऐक्य। हमारे विचार से इस सख्या म थोडी-बहुत घटा-बढी की जा सकती है। अभिनय शीलता और रगमच निर्देश दोनो का समावेश एक ही तत्त्व 'अभिनय' म किया जा सकता है। इसी प्रकार प्रभाव ऐक्य का समावेश भी सकलन त्रय म हो जाता है—जब काय की एकता होगी तो प्रभाव-ऐक्य होना स्वाभाविक है। साहित्य का सबस प्रमुख तत्त्व है—भाव। साहित्य का चाहे कोई भी भेद हो उसम भाव तत्व का होना आवश्यक है। किन्तु डा० महेद्र ने पाश्चात्य विद्वानो की ही भाति इस तत्व की ओर ध्यान नही दिया। सघष या द्वन्द्व तथा सकलन त्रय पात्र और कथावस्तु क आवश्यक लक्षण है अत इन तत्वो की अलग स्थिति स्वीकार नही की जा सकती। वस्तुत डा० महेद्र न तत्वो और विशेषताओ को घुला मिला दिया है। हमारे दृष्टिकोण स एकाकी के य सात तत्व मान जा सकत है—कथावस्तु पात्र कथोपकथन, देशकाल शैली उद्देश्य (विचार) और भावना तथा एकाकी की विशेषताओ क अन्तगत सकलन त्रय स्वाभाविकता सक्षिप्तता रोचकता गतिशीलता एव अभिनयशीलता का उल्लेख होना चाहिए।

एकांकी का नाटक से सम्बन्ध

एकाकी और नाटक दोनो ही दृश्य-काव्य क अग है किन्तु फिर भी दोनो म पर्याप्त अन्तर है। एकाकी म एक अक एक घटना एक काय और एक समस्या होती है जबकि नाटक म कई अक घटनाओ कार्यो और समस्याओ का आयोजन हो सकता है। अत स्थूल दृष्टि स एकाकी नाटक बहुत लघु और सीमित होता है किन्तु फिर भी किसी छोटे नाटक को एकाकी या बडे एकाकी को छोटा नाटक नही कह सकते। नाटक से निकालकर

अलग किए गए एक अक को भी एकाकी नही कहा जा सकता। एकाकी अपने आपमे पूर्ण होता है तथा उसकी सत्ता, उसका व्यक्तित्व एव उसकी चाल-ढाल नाटक से बहुत कुछ भिन्न होती है। एकांकीकार अपने लक्ष्य की ओर सीधा दौडता है जबकि नाटककार धीरे धीरे आगे बढता है। एकाकी की शैली मे सक्षिप्तता एव गतिशीलता होती है।

डा० महेन्द्र ने दोनो के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है— एकाकी का नाटक से वही सम्बन्ध है जो कहानी का उपन्यास से अथवा खडकाव्य का महाकाव्य से। नाटक मे जीवन का विस्तार लम्बाई और परिधि का विस्तार है उसका क्षेत्र जीवन की भाति सुविस्तृत है। एकाकी का क्षेत्र सीमित है, परिधि सकुचित है और जीवन का एक पहलू ही चित्रित करने का अल्प काय है। एकाकी मे केवल एक ही घटना एक ही महत्वपूर्ण पहलू या परिस्थिति रह सकती है। नाटक मे कथानक के चारो भाग स्पष्ट रहते है। एकाकी प्राय सघर्ष-स्थल से प्रारम्भ होता है और शीघ्र ही गति पकडकर चरम सीमा की ओर अग्रसर होता है। नाटक की गति धीमी होती है एकाकी मे वेग-सपन्न प्रवाह का महत्व है। एकाकी मे सकलन त्रय का होना महत्वपूर्ण है यही उसे जीवन का यथार्थवादी चित्र बनाता है। बडे नाटक मे सकलन त्रय का निर्वाह आवश्यक नही है।' (हिन्दी एकाकी उदभव और विकास प० ३७ ३८)

क्या एकाकी को नाटक का लघु-सस्करण कह सकते है? इसका निषधात्मक उत्तर देते हुए प्रा० सदगुरुशरण अवस्थी लिखते है— वह बलि को छलनेवाला वावन अगुल का मनुष्य नही और न चक्र सुदर्शन सहित विष्णु का हाथ है। वह न किसी का लघु सस्करण है और न किसी का खण्ड अवतार। वह अपनी निजी सत्ता रखनेवाला साहित्य का एक अग है। (नाटक और नाटक प० १०) वस्तुत जिस प्रकार मढक का न तो वल का लघु सस्करण कह सकते हैं और न ही उसका एक अग उसी प्रकार एकाकी को नाटक का लघु-सस्करण या उसका कोई एक भाग नही कहा जा सकता।

एकाकी के भेद

मूल प्रवृत्तियो विषयो एव शैलियो के आधार पर एकाकी के विभिन्न भेद किए गए हैं। डॉ० सत्येन्द्र ने मूल वृत्तियो के आधार पर एकाकी के आठ भेद किए हैं— (१) आलोचक एकाकी जो हमारी त्रुटियो की आलोचना करते हैं। (२) विवादवान एकाकी जिसमे वाद विवाद रहता है। (३) भावुक एकाकी जिसमे भावात्मकता आदि होता है। (४) समस्या एकाकी जिसमे समस्या का चित्रण होता है। (५) अनुभूतिमय एकाकी। (६) व्याख्यामूलक एकाकी। (७) आत्ममूलक एकाकी और (८) प्रगतिवादी एकाकी। हमारी दृष्टि मे एकाकियो का यह वर्गीकरण ठीक प्रतीत नही होता। भावुक एकाकी और अनुभूतिमय एकाकी मे आलोचक एकाकी और व्याख्यामूलक एकाकी मे विवादवान एकाकी और आत्म एकाकी मे कोई विशेष अन्तर नही है। फिर जब प्रगतिवादी एकाकी है तो छायावादी, रहस्यवादी और प्रयोगवादी एकाकी भी हो सकते हैं।

विषयो के आधार पर एकाकी के पांच भेद किए गए हैं—(१) सामाजिक

(२) पौराणिक (३) ऐतिहासिक, (४) राजनीतिक और (५) साहित्यिक। किन्तु इनके अतिरिक्त भी एकांकी के विषय हो सकते हैं जैसे मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषणात्मक, आत्माभिव्यंजनात्मक, काल्पनिक आदि। अतः विषयों की संख्या निश्चित करना संभव नहीं। डा० रामचरण महेन्द्र ने दूसरे दृष्टिकोण से नौ प्रकार के एकांकियों की गणना की है—(१) सुखान्त, (२) दुःखान्त, (३) प्रहसन (४) फंटेसी (५) गीति नाट्य या ओपेरा, (६) झांकी, (७) संवाद या संभाषण (८) स्वोक्ति रूपक या मानाड्रामा (९) रेडियो-प्ले। ये भेद संभवतः पाश्चात्य आलोचकों के मतानुसार किए गए हैं। प्रत्येक नाटक या एकांकी या तो दुःखान्त होगा या सुखान्त या समन्वयात्मक (प्रसादान्त)। अतः 'अन्त' के आधार पर उसके तीन ही भेद किए जा सकते हैं। 'प्रहसन' से तात्पर्य हास्य-प्रधान एकांकी से है। फंटेसी में रोमांस और कल्पना की अधिकता होती है। गीति-नाट्य में काव्यात्मकता अधिक होती है। झांकी में केवल एक छोटा-सा दृश्य प्रस्तुत कर दिया जाता है। 'संभाषण' में केवल दो पात्रों की बात चीत का आयोजन होता है। मोनाड्रामा या स्वोक्तिरूपक में केवल एक पात्र स्वगत-कथन के रूप में किसी पूर्व घटना या आप-बीती को व्यक्त करता है। रेडियो-प्ले में ध्वनि के उतार चढाव आदि की प्रमुखता दी जाती है।

वस्तुतः समय के साथ-साथ एकांकी के स्वरूप, विषयों और शैलियों में जो विकास होगा, उसके अनुसार उसके भेदोपभेदों की संख्या में भी विस्तार और परिवर्तन होता रहेगा अतः किसी भी वर्गीकरण को स्थायी और अन्तिम नहीं कहा जा सकता। वर्तमान में हम एकांकी के दो प्रमुख भेद कर सकते हैं—(१) प्राचीन एकांकी—प्राचीन संस्कृत में प्रचलित और (२) आधुनिक एकांकी—पाश्चात्य साहित्य में विकसित।

एकांकी का उद्भव

यद्यपि आधुनिक युग में एकांकी के जिस रूप और शैली का प्रचलन हो रहा है उसका विकास पाश्चात्य देशों में हुआ किन्तु यह सत्य है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में भी एकांकी या एकांकी से मिलते-जुलते रूपकों का प्रचार रहा है। नाटक के विभिन्न भेदों में व्यायोग, प्रहसन, भाण, वीथी, नाटिका, गोष्ठी आदि में एक ही अंक होता है, अतः इन्हें प्राचीन ढंग के 'एकांकी' कह सकते हैं। इसी आधार पर डा० सत्येन्द्रसिंह, प्रा० ललित-प्रसाद और प्रा० सदगुरुशरण अवस्थी ने एकांकी का उद्गम संस्कृत साहित्य से सिद्ध किया है, जब कि प्रा० अमरनाथ गुप्त, प्रा० प्रकाशचन्द्र गुप्त तथा डा० एस० पी० खत्री ने इसे पाश्चात्य साहित्य की देन के रूप में स्वीकार किया है। यदि हम 'एकांकी' के व्यापक रूप का ग्रहण करते हुए उसमें सभी प्रकार के—प्राचीन एवं नवीन—एकांकियों को लेते हैं तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि एकांकियों की दीर्घ परम्परा भारत में रही है, यह दूसरी बात है कि आधुनिक एकांकी का विकास उससे स्वतन्त्र रूप में हुआ हो।

संस्कृत एवं प्राकृत में 'एकांकी' के अनेक उदाहरण मिलते हैं। श्री प्रह्लादवन देव ने सन् ११६३ ई० में 'पार्थ पराक्रम' (व्यायोग) की रचना की थी। इसके अतिरिक्त सौगंधि हरण (विश्वनाथ), किरातार्जुनीय (वत्सराज), धनंजय विजय (कंचन पंडित),

भीम विक्रम (मोक्षादित्य) निर्भय भीम (रामचन्द्र) आदि सफल व्यायोग हैं। प्रहसन की कोटि में आनेवाले एकांकियों में कन्दर्पकेलि, धूर्तचरित, लटकमेलक, लता कामलेखा, धूर्त समागम, धूर्त नाटिका, हास्य चूडामणि आदि संस्कृत में उपलब्ध है। इसी प्रकार भाण (जिसमें केवल एक ही अंक और एक ही पात्र होता है) के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं—जैसे वामन भट्ट का 'श्रृंगार भूषण', रामचन्द्र दीक्षित कृत 'श्रृंगार तिलक', शंकर कृत 'शारदातिलक', वत्सराज कृत 'कर्पूर चरित' आदि। यह आश्चर्य की बात है कि हमारे अनेक विद्वानों ने इन एकांकियों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। यह कहना कि पश्चिमी ढंग से एकांकी लिखने पर ही एकांकी कहला सकता है, वास्तव में हमारे दृष्टिकोण की एकांगिता है, अन्यथा हमारा भाण, जिसमें कि केवल एक ही पात्र होता है—एकांकी कला का अत्यन्त विकसित रूप है।

हिन्दी में एकांकी का विकास

हिन्दी में एकांकी लेखन का आरम्भ भारतेन्दु-युग से होता है, किन्तु एकांकी के कुछ तत्व हमारे पूर्ववर्ती साहित्य में भी यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। यदि हम गद्य और पद्य के अन्तर को भूल जायं तो तुलसी के 'रामचरित मानस', केशव की 'रामचन्द्रिका', नरोत्तम दास के 'सुदामा चरित' में से कुछ दृश्य ऐसे निकालकर अलग किए जा सकते हैं जो एकांकी का रूप धारण करने में समर्थ हो सकें। तुलसी के परशुराम-लक्ष्मण संवाद, कैकेयी मंथरा संवाद, अंगद रावण संवाद या केशव के रावण-बाणासुर संवाद, रावण-अंगद संवाद अथवा नरोत्तम के 'सुदामा चरित' में पति-पत्नी संवाद में स्वतन्त्र रूप में एकांकी की सी नाटकीयता, तीव्रता, मार्मिकता एवं व्यंग्यात्मकता मिलती है। सन् १८५० के अनन्तर गीति-नाट्यों में लिखे गए 'इन्द्रसभा', 'बन्दर सभा', 'मछन्दर सभा' आदि को भी डा० रामचरण महेन्द्र ने एकांकी का प्रारम्भिक रूप माना है।

हिन्दी में प्राचीन ढंग के गद्य-पद्य एकांकियों का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा हुआ। उन्होंने प्राचीन संस्कृत-नाट्य-साहित्य से प्रेरणा ग्रहण करते हुए नाटक के एकांकी के विभिन्न रूपों के विकास का प्रयत्न किया। उन्होंने 'धनंजय विजय' (व्यायोग-अनूदित) 'प्रेम-योगिनी' (अपूर्ण मौलिक) 'पाखण्ड विडम्बन' (अनूदित) 'अंधेर नगरी' (प्रहसन), 'विषस्य विषमौषधम्' (भाण) 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (प्रहसन) आदि की रचना की, जिनमें प्राचीन ढंग के एकांकियों के लक्षणों का निर्वाह हुआ है। अपने इन एकांकियों में जहाँ उनका एक ओर कला का विकास करना है वहाँ दूसरी ओर जनता का ध्यान तत्कालीन समस्याओं की ओर आकर्षित करना भी है। उनके प्रहसनों में विभिन्न रूढ़ियों, रीति रिवाजों, सामाजिक एवं राष्ट्रीय बुराइयों पर तीखा व्यंग्य किया गया है। [illegible] नव [illegible] गया है। 'विषस्य विषमौषधम्' में व्यंग्य है— धन्य है अंग्रेज! [illegible] [illegible] दूध की मक्खी बना [illegible]।

हिन्दी एकांकी-साहित्य के पूर्ण आलोचक विद्वान् डा० महेन्द्र भारतेन्दु के इन एकांकियों पर विचार करते हुए लिखते हैं— किन्तु जिस बात से हम विशेष प्रभावित

हान है, वह उनकी प्रतिभा है। उन पर नये ढग के बगला नाटकों तथा फारसी रगमच का भी प्रभाव था। फारसी रगमच की दोहा-शेर वाली पद्धति की छाप उनके एकांकियो पर है। अग्रेजी का प्रभाव बग-साहित्य के माध्यम से उनकी एकांकी-कला पर पड़ा है।"

भारतेन्दु के अतिरिक्त उनके युग में अन्य लेखकों ने शताधिक रूपको व प्रहसनो आदि की रचना की जिन्हे प्राचीन ढग के एकाकी कह सकते हैं। इनमे से कुछ के नाम यहाँ उद्धृत किया जाता है—तन मन धन गुसाईं जी के अर्पण (राधाचरण गोस्वामी) कलयुगी जनेऊ (देवकीनन्दन त्रिपाठी) 'शिक्षादान' (बालकृष्ण भट्ट) 'दु खिनी बाला' (राधाकृष्ण दास), 'रेल का विकट खेल' (कार्तिकप्रसाद) वदिकी मिथ्या मिथ्या न भवति' (जा० एल० उपाध्याय), हिन्दी उर्दू नाटक (रत्नचन्द्र) 'चौपट चपट' (किशोरीलाल गोस्वामी) आदि। इन एकाकियो में व सभी विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं जो पीछे भारतेन्दु के एकाकियो में बताई गई हैं। वस्तुत इन्हे इनके लेखको ने 'नाटक' की सज्ञा दी है, जिससे इनकी गणना 'नाटक' के अन्तर्गत ही होती रही है। किन्तु इनके लक्षणो एव शैली को देखते हुए इन्हे एकाकी के अन्तर्गत ही स्थान दिया जाना उचित है।

द्विवेदी-युग में हिन्दी एकाकी के स्वरूप पर पाश्चात्य एकाकी का भी प्रभाव पड़ने लगा जिससे उनके बाह्य रूप में क्रमश थोड़ा-थोड़ा अन्तर आने लगा, किन्तु उनकी मूल आत्मा भारतेन्दु-युग के अनुरूप ही रही। उनका प्रमुख उद्देश्य—समाज सुधार एव राष्ट्रोन्नति ही रहा। इस युग के प्रमुख एकाकियो में बालप्रसाद विश्वकर्मा का 'शेरसिंह' सियाराम शरण का 'कृष्ण' ब्रजलाल शास्त्री के 'मारुता' में प्रकाशित अनेक एकाकी—'नीला', 'दुर्गावती' 'पन्ना' 'तारा' आदि रामसिंह वर्मा के दो प्रहसन—'रेशमी रूमाल' 'क्रिसमिस' सरयूप्रसाद बिन्दु का 'भयकर भूत' शिवरामदास गुप्त का 'नाक में दम' बदरीनाथ भट्ट का 'रोड समाचार के एडीटर की धूल दच्छना', रूपनारायण पाडेय का 'मूर्ख मडली', पाडेय बचन शर्मा 'उग्र' का 'चार बेचारे', श्री सुदर्शन का 'आनररी मजिस्ट्रेट' आदि उल्लेखनीय हैं। इस युग के एकाकियो को विषय-वस्तु की दृष्टि से चार वर्गों में विभाजित किया गया है—(१) सामाजिक व्यग्यात्मक (२) राष्ट्रीय ऐतिहासिक, (३) धार्मिक पौराणिक और (४) अनुवादित।

शिल्प की दृष्टि से भी द्विवेदी-युग के एकाकियो में पूर्व युग से विकास दृष्टिगोचर होता है। भारतेन्दु-युग में कहीं-कहीं नान्दी प्रस्तावना भरत वाक्य आदि प्रवृत्ति दीख पड़ती थी जो इस युग में आकर लुप्त हो गई। कथानक को तीव्रगति से चरम-सीमा तक पहुँचाने का प्रयत्न किया जाने लगा। पद्य का पूर्ण बहिष्कार होने लगा। फिर भी एकाकी के पाश्चात्य रूप का पूर्ण विकास इनमें दृष्टिगोचर नहीं होता।

आधुनिक एकाकी

पाश्चात्य शैली ने लिखे गये एकाकी—जिन्हें हम यहाँ आधुनिक एकाकी कह सकते हैं—का विकास हिन्दी में लगभग सन् १९३० ई० के अनन्तर हुआ। श्री जयशकर प्रसाद ने सवत् १९८७ लगभग (१९३० ई०) में 'एक घूँट' की रचना की। विभिन्न विद्वानों ने 'एक घूँट' को आधुनिक ढग का सर्वप्रथम हिन्दी एकाकी स्वीकार किया है।

डॉ० हृदयेश बाहरी का कथन है— यों तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र बदरीनारायण चौधरी राधारमण गोस्वामी बालकृष्ण भट्ट प्रतापनारायण मिश्र और राधाकृष्ण दास ने पिछली शताब्दी में ही ऐसे रूपक लिखे थे जो आजकल के एकांकियों से मिलते-जुलते हैं परन्तु उन्हें आदर्श एकांकी नहीं कह सकते। हिन्दी एकांकी का प्रारम्भ जयशंकर प्रसाद के 'एक घूट' से होता है। दूसरी ओर डॉ० नगेन्द्र की मान्यता है— सचमुच हिन्दी एकांकी का प्रारम्भ प्रसाद के 'एक घूट' से होता है। प्रसाद पर संस्कृत का प्रभाव है—इसलिए वे हिन्दी एकांकी के जन्मदाता नहीं कहे जा सकते यह बात मान्य नहीं है। एकांकी की टेकनीक का 'एक घूट' में पूरा निर्वाह है। (आधुनिक हिन्दी नाटक पृ० १३१) इस मत का समर्थन प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी डा० सत्येन्द्र प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त प्रभृति विद्वानों ने भी किया है अतः इसे स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं है। डा० महेन्द्र ने प्रसाद के 'सज्जन' और 'करुणालय' को भी एकांकी के अन्तर्गत लिया है।

प्रसाद के 'एक घूट' के अनन्तर अनेक लेखकों ने अनूदित एवं मौलिक एकांकी लिखे। श्री कामेश्वरनाथ भार्गव ने 'विम्प्स कण्डिल स्टिक्स' का अनुवाद 'पुजारी' शीर्षक से प्रस्तुत किया। हराल्ड ब्रिगहाउस के 'दि प्रिंस हू वाज पाइपर' जे० ए० फर्गुसन के 'केम्पबेल आफ किलम्होर' ए० ए० मिल्न के 'दि मन इन दि बौउलर हैट' आदि के अनुवाद भी विभिन्न लेखकों द्वारा सन् १९३८ ३९ के लगभग किए गए। सन् १९३८ में 'हंस' का 'एकांकी' विशेषांक प्रकाशित हुआ जिससे हिन्दी के लेखकों को एकांकी की कला के सम्बन्ध में अनेक नयी बातें ज्ञात हुई।

मौलिक एकांकियों की परम्परा को आगे बढ़ाने का श्रेय सर्वप्रथम डा० रामकुमार वर्मा को है। उनका 'बादल की मृत्यु' सन् १९३० में प्रकाशित हुआ जिसे डा० सत्येन्द्र ने 'एक घूट' के अनन्तर दूसरा स्थान दिया है। कला की दृष्टि से यद्यपि यह सफल एकांकी नहीं था पर प्रयोग की दृष्टि से एकांकी के इतिहास में इसका स्थान महत्वपूर्ण माना गया है। इसमें काल्पनिकता एवं काव्यात्मकता अधिक है नाटकीयता कम। इसी से कुछ विद्वानों ने इसे अभिनयात्मक गद्यकाव्य के नाम से पुकारा है। आगे चलकर वर्माजी के कई एकांकी-संग्रह प्रकाशित हुए जिन्हें कालक्रमानुसार इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—पृथ्वीराज की आंखें (१९३७ ई०) रेशमी टाई (१९४१) चारुमित्रा (१९४३) विभूति (१९४३) सप्तकिरण (१९४७) रूप रंग (१९४८) कौमुदी-महोत्सव (१९४९) ध्रुव-तारिका (१९५०) ऋतुराज (१९५२) रजत रश्मि (१९५२) दीपदान (१९५४) काम-कंदला (१९५५) बापू (१९५६) इन्द्र धनुष (१९५७) रिमझिम (१९५७) आदि। डा० वर्मा के एकांकियों को विषय की दृष्टि से सामाजिक एवं ऐतिहासिक वर्ग में रखा जा सकता है। आपने जीवन की तात्कालिक यथार्थता के स्थान पर चिरन्तन सत्य का चित्रण किया है। उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी है अतः उनकी रचनाओं में महत्वपूर्ण सत्यों की अभिव्यक्ति हुई है। उनके कुछ एकांकियों में भावात्मकता की भी प्रधानता है। वर्माजी की शैली में सरसता एवं प्रौढ़ता मिलती है।

वर्माजी के साथ-साथ ही एकांकी के क्षेत्र में अवतीर्ण होनेवाले लेखकों में श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र उपेन्द्रनाथ 'अश्क' उदयशंकर भट्ट, भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र सेठ गोविन्ददास,

जगदीशचन्द्र माथुर, गणेशप्रसाद द्विवेदी आदि प्रमुख हैं। मिश्रजी के एकांकी-संग्रह इस क्रम से प्रकाशित हुए हैं—अशोक वन, प्रलय के पंख पर, एक दिन, कावेरी में कमल, वल्लरी, नारी का रंग, स्वप्न में विप्लव, भगवान मनु तथा अन्य एकांकी आदि। इन्होंने अपने एकांकियों में पौराणिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक समस्याओं का चित्रण सूक्ष्म रूप में किया है। उनमें ज्ञान और मनोरंजन का समन्वय सुन्दर ढंग से हुआ है। अभिनयशीलता का भी उनमें पूर्ण निर्वाह है। डा० नगेन्द्र का मत है—'इसके अतिरिक्त विदेशी साहित्य का बुद्धिवाद, यथार्थवाद, चिरन्तन नारीत्व की समस्या, प्रकृति की ओर परिवर्तन का अनुराग, जीवन के मौलिक सत्यों की निर्भ्रान्त स्वीकृति आदि संस्कृत संकुल प्रवृत्तियाँ उनके मन में काम कर रही हैं। इधर भारत की अपनी समस्याओं—यहाँ की आध्यात्मिकता का भी उन पर प्रभाव है।' (आधुनिक हिन्दी नाटक पृ० ७६)।

सामाजिक समस्याओं के चित्रण में श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। वे मध्यवर्ग के समाज की कमजोरियों, रूढ़ियों तथा जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं पर व्यंग्यात्मक शैली में प्रकाश डालते हैं। व्यंग्य की तीखी चोट करने में अश्क की बराबरी हिन्दी का और कोई एकांकी लेखक नहीं कर सका। 'अधिकार का रक्षक' उनकी इस व्यंग्यात्मक शैली का स्थायी प्रमाण है। उन्होंने सर्वत्र पात्रानुकूल भाषा-शैली का प्रयोग किया है, जिससे उनके एकांकियों में कहीं-कहीं खड़ीबोली के स्थान पर राजस्थानी, अवधी, बंगाली, पंजाबी आदि का भी प्रयोग मिलता है। मनोरंजन एवं अभिनेयता की दृष्टि से भी अनेक एकांकी पूर्णतः सफल हैं। उनके एकांकियों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) सामाजिक व्यंग्य—पापी (१९३७), लक्ष्मी का स्वागत (१९३८), मोहब्बत (१९३८), ग्रासवड पहेली (१९३९), अधिकार का रक्षक (१९३९), आपस का समझौता (१९३९), स्वर्ग की झलक (१९३९), विवाह के दिन (१९३०), जोंक (१९३९) आदि। (२) सांकेतिक एवं प्रतीकात्मक एकांकी—चरवाहे (१९४२), चिलमन (१९४२), खिड़की (१९४२), चुम्बक (१९४२), मसूना (१९४२), देवताओं की छाया में (१९४३) चमत्कार (१९४३), सूखी डाली (१९४६), अंधी गली (१९५२) आदि। (३) मनोवैज्ञानिक एकांकी प्रहसन—आदि मार्ग (१९४७), अजो दीदी, भँवर (१९४४), कैसी साव कैसी आयर, पर्दा उठाओ, पर्दा गिराओ (१९५१), बतसिया (१९५२), सयाना मालिक, जीवन-साथी (१९५२) आदि। वस्तुतः अश्क का एकांकी साहित्य परिमाण की दृष्टि से विशाल है, रूप और शैलियों की दृष्टि से विविधता-पूर्ण है और कला की दृष्टि से अत्यन्त प्रौढ़ है।

श्री उदयशंकर भट्ट ने 'एक ही कब्र में' (१९३३), 'दस हजार' (१९३८), 'दुर्गा', 'नेता', 'उन्नीस सौ पैंतीस', 'वर निर्वाचन', 'सेठ लाभचन्द' आदि एकांकियों की रचना सन् १९४० से पूर्व की। इनमें विभिन्न सामाजिक समस्याओं का चित्रण है। सन् १९४० और १९४२ के मध्य उन्होंने 'स्त्री का हृदय', 'नकली और असली', 'बड़े आदमी की मृत्यु', 'विष की पुड़िया', 'मुंशी अनोखेलाल' आदि एकांकियों की रचना की, जिनमें हास्य और व्यंग्य का भी विकास मिलता है। आगे चलकर उनके अनेक एकांकी प्रकाशित

हुए जिनमे 'आदिम युग', 'प्रथम विवाह मनु और मानव, 'समस्या का अन्त, कुमार-सभव गिरती दीवारें', पिशाचा का नाच, बीमार का इलाज 'आत्मप्रदान, 'जीवन', 'वापसा 'मदिर के द्वार पर' दो अतिथि अघटित, अधकार नये मेहमान', नया नाटक, विस्फोट' धूम शिखा' आदि उल्लेखनीय है। भट्टजी की कला का प्रौढतम रूप 'बाबूजी 'यह स्वतन्त्रता का युग मायोपिया 'अपनी अपनी खाट पर', वार्गेन 'ग्रहदशा', 'पर्दे के पीछे आदि म मिलता है। पिछले कुछ वर्षों म उन्होंने रेडियो के लिए भी एकाकी लिखे है जैसे—गाधी का रामराज्य धर्म-परम्परा एकला चलो रे, 'अमर अचना', 'मालती माधव' वन महोत्सव 'मदन-दहन आदि।

विश्वामित्र' मत्स्यगधा आदि म भट्टजी ने काव्यात्मक शैली म भावनाओ के घात प्रतिघात का चित्रण किया है। वस्तुत भट्टजी के एकाकियो का क्षेत्र पर्याप्त व्यापक है, उनम जीवन के विभिन्न पहलुओ का चित्रण मार्मिक रूप म हुआ है। डा० नगेन्द्र ने इनके सम्बन्ध म लिखा है— भट्टजी के एकाकियो का सविधान रगमचीय है तथा उन्हे सरलता से अभिनीत किया जा सकता है तात्पर्य यह है कि भट्टजी के एकाकी जहाँ ज्ञान बहुल हैं मानव जीवन की पारदर्शिता का प्रकट करते ह वहाँ व जीवन के बहु-व्यापी अग उपागो का गहन विश्लेषण भी करते हैं। भूत भविष्यत वर्तमान के प्रति तीक्ष्ण दृष्टि मानव के विकास म चेतना का अन्तदर्शी विवेचन उनके इस साहित्य का रूप है। मालूम होता है जैसे भट्टजी के द्वारा गीति कविता कथानक की प्रौढ़ता समय की अतरग दृष्टि ऐतिहासिक ऊहापोह जीवन-कल्याण की सभी भावनाओ का उनके नाटको म प्रकटीकरण हुआ है। (हिन्दी एकाकी उद्भव और विकास पृष्ठ १६३)

श्री भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र पाश्चात्य एकाकियो एव एकाकीकारो की शैली को हिन्दी म पूर्ण विकास करने की दृष्टि से बहुत विख्यात हैं। उनका प्रथम एकाकी श्यामा एक वैवाहिक विडम्बना सन् १९३१ म प्रकाशित हुआ था जिस पर बर्नार्ड शा के कटिडा का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। तत्पश्चात पतिता' (१९२८) एक साम्यहीन साम्यवादी (१९३८) प्रतिमा का विवाह (१९ ५) रहस्य रोमाच लाटरी (१९३५), मृत्यु' (१९३६) आदि प्रकाशित हुए जो पाश्चात्य प्रभाव स युक्त हैं। उनकी प्रौढ रचनाओ म नवा आठ बजे आदमखोर' (१९३८) इसकन्दर तमरू' (१९६०) रोशनी और आग (१९६१) फोटोग्राफर क सामने' (१९६५) तांबे के कीड़े (१९६६) इतिहास की केंचुल (१९६८) आजादी की नींद' (१९६८) सीको की गर्दी'(१९५०) आदि उल्लेखनीय ह। आपने ऐतिहासिक कथानको के आधार पर सिकन्दर' (१९५०), अकबर' (१९ ०) और चंगेज खाँ की भी रचना की है।

आपने सामाजिक रूढियो विवाह वैषम्य विभिन्न मनोवृत्तियो एव मानसिक प्रवृत्तियो के चित्रण को ही अपना कला का लक्ष्य बनाया है। उनके एकाकियो का मूल केन्द्र कामचेतना तथा तत्सम्बन्धी विभिन्न मनोवैज्ञानिक परिस्थितियो का भावात्मक चित्रण है। हिन्दू समाज के कठोर नियन्त्रण रूढियो एव पाखण्ड म आधुनिक शिक्षाप्राप्त युवक-युवतियो की वासना अनिर्वचनीय रूप म अदर ही अदर विकृत हो चुकी है, जसे-जसे सभ्यता बढ़ रही है, वैसे-वैसे शिक्षित एव आर्थिक दृष्टि स सम्पन्न मध्यवर्ग की सक्रम भावना-ग्रन्थियो

जटिलतर होती जा रही है। इस प्रकार की क्रान्तिकारी भावनाओं से परिपूर्ण समस्याओं में भुवनेश्वर एसे उलझ गए हैं कि कहीं-कहीं यह भ्रम हो जाता है कि ये एकांकी भारत के लिए हैं या पश्चिमी प्रदेशों के विकसित समाज के लिए। उन्मुक्त प्रेम, वैवाहिक वैषम्य, बाहर से सुसंस्कृत किन्तु अन्दर से अनेक जटिलताओं के पुलिंदे पात्र प्रारम्भिक एकांकियों का कुछ कृत्रिम और अस्वाभाविक वितान है।' फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि एकांकी के विभिन्न तत्वों के विकास, उसकी शिल्प विधि के प्रयोग एवं शैली की कलात्मकता की दृष्टि से उनके एकांकियों का बहुत महत्व है।

सेठ गोविन्ददास ने ऐतिहासिक सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक एवं सामयिक आदि सभी विषयों पर कलम उठाई है। उनके नाटकों एवं एकांकियों की संख्या सौ से भी ऊपर है। आपके कुछ एकांकी ये हैं—(१) ऐतिहासिक—बुद्ध की एक शिष्या, बुद्ध के सच्चे स्नेही कौन? नानक की नमाज, तेगबहादुर की भविष्यवाणी परमहंस का पत्नी-प्रेम आदि। (२) सामाजिक समस्या प्रधान—स्पर्धा मानव मन मैत्री हंगर-स्ट्राइक, ईद और होली जाति-उत्थान वह मरा क्यों? आदि। (३) राजनैतिक—सच्चा कांग्रेसी कौन? (४) पौराणिक—कृषि-यज्ञ आदि। सेठजी का दृष्टिकोण आदर्शवादी एवं सुधारवादी है, अतः उनमें समस्याओं का चित्रण प्रचारात्मक ढंग से होता है। कला की सूक्ष्मता के स्थान पर उनमें विचारों की प्रौढ़ता अधिक है। कहीं-कहीं मनोरंजन की मात्रा उनमें न्यूनातिन्यून रह जाती है। उनकी शैली सरल एवं रोचक है।

श्री जगदीशचन्द्र माथुर का प्रथम एकांकी मेरी बाँसुरी सन १९३६ में प्रकाशित हुआ था। तदनन्तर आपके अनेक एकांकी प्रकाशित हुए—भोर का तारा (१९३७) कलिंग विजय (१९३७), रीढ़ की हड्डी (१९३९) मकड़ी का जाला (१९४१) खँडहर (१९५३), खिड़की की राह (१९४९) घोंसले (१९५०) कबूतर-खाना (१९५१), भाषण (१९५२) ओ मेरे सपने (१९५३) शारदीया (१९५५) बंदी (१९५५) आदि। माथुरजी के प्रायः सभी एकांकी रंगमंच की दृष्टि से बहुत सफल है। आपने यथार्थवादी शैली में विभिन्न समस्याओं का न केवल चित्रण किया है अपितु उनका मौलिक समाधान भी प्रस्तुत किया है। हास्य और व्यंग का पुट उनके एकांकियों में मिलता है। वस्तुतः उनकी रचनाओं में विचार और अनुभूति प्रचार और कला तथा ज्ञान और मनोरंजन दोनों का सुन्दर समन्वय उपलब्ध होता है।

श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी अंग्रेजी-एकांकी साहित्य की ज्ञान-गरिमा को लेकर हिन्दी में अवतीर्ण हुए। भुवनेश्वरप्रसादजी पाश्चात्य प्रभाव को भली प्रकार पचा नहीं पाए थे किन्तु द्विवेदीजी ऐसा कर पाए हैं। आपके प्रमुख एकांकी ये हैं—सोहाग बिंदी वह फिर आयी थी पर्दे का अपर पार्श्व शर्माजी, दूसरा उपाय ही क्या है सर्वस्व-समर्पण कामरेड गोष्ठी परीक्षा रपट रिहर्सल धरती-माता आदि। आपने प्रायः सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक समस्याओं का चित्रण किया है। यौन-आकर्षण, प्रेम-वैषम्य अनमेल-विवाह आदि से उत्पन्न होनेवाली मानसिक जटिलताओं का सूक्ष्म विश्लेषण इनके साहित्य में मिलता है। एकांकी के शिल्प और कला का विकास भी उनकी रचनाओं में मिलता है।

उपर्युक्त एकांकीकारों के अतिरिक्त श्री गिरिजाकुमार माथुर गोविन्दवल्लभ

पत हरिकृष्ण प्रेमी भगवतीचरण वर्मा श्री पृथ्वीराज नामा श्री जगन्नाथ नलिन डा० सत्यप्रकाश सगर प्रभति कलाकारो ने भी उच्च कोटि के एकाकियो की रचना की है।

रगमचीय एकाकी के कथानक मे विविधता का पर्याप्त समावेश दृष्टिगत होता है। राजनीतिक सामाजिक ऐतिहासिक पारिवारिक धार्मिक, पौराणिक सास्कृतिक सभी विषयो पर एकाकी लिखे गए है। समकालीन समस्याओ पर भी लेखको ने एकाकियो द्वारा प्रकाश डाला है। टक्नीक की दृष्टि से भी वे रगमच के और अधिक निकट आ रहे है। अब प्रारम्भिक पूवकथा नही दी जाती पात्र स्वय अपना परिचय देते हैं रगमच की सूचनाएँ पर्याप्त होती है सगीत का बहुत कम प्रयोग होता है। हर प्रकार की अस्वाभाविकता से बचन और भाषा सवाद आदि सभी क्षेत्रो मे स्वाभाविकता की रक्षा के प्रयत्न मे आज एकाकी विविधता कलात्मकता और प्रौढता सभी दृष्टियो से उन्नति करता है।

रेडियो नाटक को हम एकाकी का ही एक रूप मानते है। यद्यपि उनकी टेक्नीक मचीय एकाकी से भिन्न होती है तथापि वह एकाकी का ही एक भेद है—१ जिसमे वतमान सामाजिक विषमताओ से मुक्ति और नई ग्रामीण अथव्यवस्था के चित्र प्रस्तुत किए जाते हैं। २ समाजवादी यथाथवाद जिसमे व्यक्ति और समाज की समस्याओ का यथाथ चित्रण होता है। ३ मनोविश्लेषणात्मकता की जिसमे अवचेतन मन की उलझी सवेदनाओ और कुठाओ के चित्र प्रस्तुत किए जाते हैं। ४ ऐतिहासिक—जिसमे अतीत की ऐतिहासिक पौराणिक या धार्मिक परिस्थिति एव वातावरण से सम्बन्धित कथावस्तु को लिया गया है। रेडियो प्रहसन और झलकिया जहाँ एक ओर हमारा मनोरजन करती हैं वहा वे समाज के गले-सडे अगो पर व्यग कर उनके प्रति हमारा आक्रोश और विक्षोभ भी जागृत करती हैं। साराश यह है कि नवीन एकाकी केवल मनोरजन की वस्तु ही नही है वे गम्भीर सामाजिक सास्कृतिक राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओ का समाधान तथा नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। हिन्दी एकाकियो ने अनेक अछूते विषयो नई समस्याओ तथा नवीन दृष्टिकोण अभिव्यक्त कर हिन्दी साहित्य को सम्पन्न बनाया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी का एकाकी-साहित्य आज पर्याप्त उन्नत दशा मे है। विषय-वस्तु की दृष्टि से यह अत्यन्त व्यापक विचारो की दृष्टि से गम्भीर एव शैली की दृष्टि से वविध्यपूर्ण है। इसके माध्यम से जहाँ एक ओर भारतीय सस्कृति सभ्यता एव इतिहास-पुराण की नयी व्याख्या प्रस्तुत हुई है वहाँ दूसरी ओर आधुनिक जीवन के प्राय सभी पक्षो एव उनकी विभिन्न समस्याओ का अकन इनमे हुआ है। एकाकी के प्राय सभी प्रचलित भेदोपभेदो यथा—ध्वनि रूपक गीति रूपक रेडियो प्रहसन या झलकी, मोनोड्रामा या स्वगत-नाटय आदि का भी विकास इनमे दृष्टिगोचर होता है। अत हिन्दी एकाकी साहित्य को प्रगति का मार्गदर्शक कहा जा सकता है। इतना अवश्य है कि विद्वान् पाठको एव समीक्षको द्वारा एकाकीकारो को अपेक्षित प्रोत्साहन प्राय नही दिया गया है। आज जितनी चर्चा कहानी एव कविता की जाती है उतनी एकाकियो की नही हुई जबकि अपनी उपलब्धियो की दृष्टि से यह इनकी अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण नही है। आशा है आलोचकगण इस सम्बन्ध मे अपने उत्तरदायित्व पर ध्यान देंगे।

२१ | हिन्दी आलोचना : स्वरूप और विकास

१ 'आलोचना' शब्द की व्याख्या ।
२ आलोचना के प्रकार ।
३ भारतीय साहित्य में आलोचना का विकास।
४ हिन्दी में समीक्षा का विकास—(क) भक्तिकाल और रीतिकाल, (ख) आधुनिक युग—भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, शुक्लजी और इनके परवर्ती समीक्षक, अन्य प्रमुख समीक्षक ।
५ उपसंहार ।

'आलोचना' शब्द 'लोच' धातु से बना है 'लोच' का अर्थ है देखना—अतः आलोचना का अर्थ है 'देखना'। किसी वस्तु या कृति की सम्यक् व्याख्या उसका मूल्यांकन आदि करना ही आलोचना है। डॉ० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में 'साहित्य-क्षेत्र में ग्रंथ को पढ़कर उसके गुणों और दोषों का विवेचन करना और उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है। यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा। आलोचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए डा० गुलाबरायजी लिखते हैं कि— आलोचना का मूल उद्देश्य कवि की कृति का सभी दृष्टिकोणों से आस्वाद कर पाठकों को उस प्रकार के आस्वादन में सहायता देना तथा उनकी रुचि को परिमार्जित करना एवं साहित्य की गति निर्धारित करने में योग देना है।

विभिन्न दृष्टिकोणों प्रयोजनों एवं पद्धतियों की दृष्टि से आलोचना के मूलतः दो भेद किए जा सकते हैं—(१) साहित्यिक समीक्षा एवं (२) वैज्ञानिक समीक्षा। साहित्यिक समीक्षा में समीक्षक का लक्ष्य व्यक्तिगत (Subjective) दृष्टि से कृति के सम्बन्ध में निजी अनुभूतियों, धारणाओं एवं मूल्यों को कलात्मक शैली में प्रस्तुत करने का होता है जबकि वैज्ञानिक समीक्षा में वस्तुगत (Objective) दृष्टि से कृति का प्रामाणिक विवेचन, विश्लेषण करते हुए उसके सम्बन्ध में सुनिश्चित एवं संतुलित निर्णय देने का होता है। वैज्ञानिक समीक्षा में शैली या पद्धति भी भावात्मक न होकर विचारात्मक होती है। वस्तुतः साहित्यिक समीक्षा जहाँ कला या साहित्य की कोटि में आती है वहाँ वैज्ञानिक समीक्षा विज्ञान या अनुसंधान की श्रेणी में रखी जा सकती है। इनमें से भी प्रत्येक के तीन-तीन उपभेद होते हैं—ऐतिहासिक, सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक। ऐतिहासिक में जहाँ इतिहास के उद्भव एवं विकास की व्याख्या की जाती है वहाँ सैद्धान्तिक में सिद्धान्तों एवं मूल्यों की स्थापना की जाती है। व्यावहारिक समीक्षा में पूर्व निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर कृति का विवेचन एवं मूल्यांकन प्रस्तुत किया जाता है। समीक्षक के द्वारा प्रयुक्त दृष्टि-

है, कुछ काव्य-शास्त्रियो ने अपन ग्रन्था के काव्य-दोष प्रकरण म अवश्य पूववर्ती एव समकालीन साहित्यकारो की खबर अप्रत्यक्ष रूप म ली है। आलोचना के कुछ अन्य रूपा, जैसे टीकाओ व्याख्याओ आदि के लिखने का अवश्य संस्कृत म प्रचार रहा।

हिन्दी में समीक्षा का विकास

संस्कृत की काव्य शास्त्र की परम्परा के अनुसार हिन्दी साहित्य के मध्यकाल म सैद्धान्तिक आलोचना का विकास हुआ। यह आश्चय की बात है कि हमारे प्रारम्भिक सैद्धान्तिक आलोचना के ग्रन्थ सिद्धात विवेचन के उद्देश्य से न लिखे जाकर भक्ति या शृगार अथवा काव्य रचना की प्रेरणा से रचित हुए। सूरदास की साहित्य-लहरी एव नन्ददास की 'रस-मजरी' म नायिका भेद का प्रतिपादन संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्था के आधार पर ही हुआ है किन्तु उनका लक्ष्य नायिका भेद को समझाना न होकर अपन आराध्य कृष्ण को प्रेम-लीलाओ म योग देना है। अकबर के कुछ दरबारी कवियो—करणेश, रहीम, गोपा, भूपति आदि द्वारा भी काव्य विवेचन न होकर रसिकता का पोषण करना था। सत्रहवी शताब्दी क मध्य म केशवदास ने 'कवि प्रिया' और 'रसिक प्रिया' की रचना की, जिनका उद्देश्य काव्य शास्त्र के सामान्य नियमो एव सिद्धान्तो का परिचय करना था, इनकी रचना ही पातुर प्रवीण राय को काव्य शास्त्र की शिक्षा देन के निमित्त हुई थी। अत केशवदास के विवेचन म भले ही प्रौढता न मिलती हो किन्तु इसम कोई सन्देह नही कि ऐसा उन्होंने विशुद्ध आचार्यत्व की प्रेरणा स किया था। केशवदास की परम्परा का विकास परवर्ती युग के कवियो ने किया, जिन्हे हम चार वर्गों म विभाजित कर सकते हैं—(१) काव्य शास्त्रीय ग्रन्था के रचयिता —अनेक कवियो के काव्य शास्त्र के सभी अगो का प्रतिपादन किया जिनम आचार्यत्व की झलक मिलती है। (२) रस और नायिका भेद सम्बन्धी ग्रन्थो के रचयिता—इस वग के कवियो का लक्ष्य आचार्यत्व कम था, मनोरजन के निमित्त काव्य-शास्त्र की आड म कामुकता और रसिकता को प्रवाहित करना अधिक था। (३) अलकार-शास्त्रीय ग्रन्था के रचयिता—कुछ कवियो न केवल अलकारो का प्रतिपादन किया है। इनका उद्देश्य विद्यार्थियो को अलकार ज्ञान के निमित्त काव्यमय शैली म 'पाठ्य-पुस्तको' का निर्माण करना था। उस युग म मुद्रण-यन्त्र का अभाव था, अत किसी एक ही पुस्तक का सवत्र प्रचार नही हो पाता था, विभिन्न क्षेत्रो म विभिन्न कवियो द्वारा विभिन्न ग्रन्थो की रचना होती था। (४) कुछ कवियो ने केवल नख शिख एव षड्ऋतु-वर्णन का लेकर काव्य ग्रन्थो की रचना की। इनम भी विशुद्ध रसिकता का उद्रेक मिलता है।

इस प्रकार मध्यकाल म काव्य-शास्त्रीय एव अलकार-सम्बन्धी ग्रन्थो म ही समीक्षा के सिद्धान्तो का प्रतिपादन मिलता है किन्तु इनका महत्व अधिक नहीं है। एक तो इनका आधार संस्कृत काव्य-शास्त्र है जिसका ब्रज भाषा-पद्य म अनुवाद कर देना ही इनका लक्ष्य रहा है। इनम मौलिकता नही मिलती। दूसरे, इनम विवेचन की प्रौढ़ता गम्भीरता या स्पष्टता का अभाव है और तीसरे इनम गद्य का प्रयोग न होने के कारण ये समीक्षा के सच्चे स्वरूप को प्रस्तुत करने म असमर्थ हैं।

वस्तुत मध्यकालीन ग्रन्था का इतना ही महत्व है कि इनके द्वारा हमारा

साहित्य-समाज सस्कृत काव्य-शास्त्र के सामान्य नियमों से परिचित रह सका—सस्कृत काव्य शास्त्र की परम्परा अक्षुण्ण अटूट एव अविच्छिन्न रूप में प्रचलित रह सकी। हाँ, इनकी एक देन और भी—इन ग्रन्थों में विभिन्न अगों के सरस उदाहरण भी भारी सख्या में उपलब्ध हो जाते हैं। इस दृष्टि से ये सस्कृत काव्य-शास्त्र से भी आगे बढ़ जाते हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में समीक्षा का विकास

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के जन्मदाता एव पोषक विराट साहित्यकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी-साहित्य के सभी उपेक्षित अगों का विकास किया था, अत आलोचना-साहित्य भी उनके युग-परिवर्तनकारी करों के स्पर्श से वंचित कैसे रह सकता था। यदि सस्कृत के प्रथम आचार्य भरत मुनि ने नाट्य शास्त्र लिखा तो आधुनिक हिन्दी के जनक बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नाटक' की रचना की। यह दुर्भाग्य की बात है कि डा० श्याम-सुन्दरदासजी की यह धारणा बन गई थी कि नाटक स्वय भारतेन्दु द्वारा रचित नहीं है, जिसके कारण यह ग्रन्थ अभी तक उपेक्षित-सा रहा। डा० श्यामसुन्दरदास ने अपनी धारणा को स्पष्ट करते हुए कहा कि इस ग्रन्थ की भाषा भारतेन्दु के अन्य ग्रन्थों से नहीं मिलती, किन्तु उनका यह तर्क समीचीन नहीं। विषय के अनुरूप लेखक की शैली में थोड़ा-बहुत परिवर्तन होना स्वाभाविक है। यह ग्रन्थ सैद्धान्तिक आलोचना का है, अत नाटक की भाषा-शैली से इसमें अन्तर होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ की 'भूमिका' और 'समर्पण' में स्वय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्पष्ट रूप में लिखा है— 'आशा है कि सज्जन गण गुण मात्र ग्रहण करके मेरा श्रम सफल करेंगे।' इस ग्रन्थ को भारतेन्दुजी ने अपने इष्टदेव को प्रेमपूर्वक समर्पित किया है—'नाथ ! आज एक सप्ताह होता कि मेरे इस मनुष्य-जीवन का अन्तिम अक हो चुकता, नहीं तो यह ग्रन्थ प्रकाश भी न होने पाता, जब प्रकाश होता है तो समर्पण भी होना आवश्यक है। अतएव अपनाए हुए की वस्तु समझकर अगीकार कीजिए !' इतना सब कुछ होने पर भी डा० श्यामसुन्दरदास ने इसे किसी अन्य का रचित घोषित क्यों किया, यह समझ मे नहीं आता। एक बात अवश्य है कि स्वय डा० श्यामसुन्दरदास ने भी नाट्य-शास्त्र पर एक ग्रन्थ 'रूपक रहस्य' लिखा था। हो सकता है 'रूपक रहस्य' के महत्व को बनाये रखने के लिए ही उन्होंने यह रहस्य खड़ा किया हो।

भारतेन्दु के 'नाटक' का प्रकाशन सन् १८८३ ई० में हुआ था। यह ग्रन्थ एक अत्यन्त प्रौढ़ रचना है, जिसमें प्राचीन भारतीय नाट्य-शास्त्र एव आधुनिक पाश्चात्य समीक्षा साहित्य का समन्वय करते हुए तत्कालीन हिन्दी के नाटककारों के लिए सामान्य नियम निर्धारित किए गए हैं, जिनमें स्थान-स्थान पर लेखक की मौलिक उद्भावनाएँ प्रकट हुई हैं। एक ओर वे नाटक के भेदों का विवेचन करते हुए अपने युग के सभी नाटकों—कठपुतलियों के खेल, बाजीगरों के तमाशों, पारसियों के नाटकों आदि—पर दृष्टिपात करते हैं तो दूसरी ओर वे अपने युग का मार्ग प्रदर्शन करते हुए लिखते हैं— 'नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करें, यह आवश्यक नहीं, किन्तु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल

निकाश मे विलक्षण है, इसम सप्रति प्राचीन मत अवलम्बन करके नाटक आदि लिखना युक्ति-सगत नही बोध होता।' नाटक की अथ प्रवृत्तिया, सविया या के सम्बध म व घोषणा करते हैं—"सस्कृत नाटक की भाति हिन्दी नाटका म धान करना या किसी नाटकाग म इनको यत्नपूवक रखकर हिन्दी नाटक लिखना इस प्रकार की उक्तियाँ सिद्ध करती हैं कि भारतेन्दुजी म केवल अनुवाद करन ता नहा था वे प्राचीन नाट्य-शास्त्र को नया रूप देन म भी पूणत समय थ पक रहस्य' के लेखक महोदय को यह मौलिकता अरुचिकर प्रतीत हो।

स ग्रन्थ म सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादन के अनन्तर सस्कृत हिन्दी और यूराप साहित्य के विकास पर प्रकाश डाला गया है तथा अपने समकालीन नाटका की मीक्षा की गई है। उनकी समीक्षा के व्यावहारिक रूप म कहीं-कहा तीखी व्य-के भी दशन होते हैं। जसे वे पारसी नाटका की आलोचना करत हुए लिखते ा म पारसी नाटकवाला ने नाचघर म जब शकुन्तला नाटक खेला और उसम नायक दुष्यत खेमटेवालियो की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटककर पतरी कमर बल खाय' यह गाने लगा तो डाक्टर थिबो, बाबू प्रमदादास मित्र ान यह कहकर उठ आये कि अब देखा नही जाता। ये लोग कालिदास के गले रि रह हैं। यही दशा बुरे अनुवादा की होती है। बिना पूव-कवि के हृदय से ... झख मारना ही नही कवि की लोकान्तर स्थित आत्मा का देना है।'

ारतेन्दु की नाटक' रचना के साथ-साथ ही चौधरी बदरीनारायण प्रेमघन' आनन्द कादम्बिनी' पत्रिका म सयोगिता-स्वयवर' आर 'वग विजेता' पुस्तका । विस्तत रूप म की तथा दूसरी ओर बालकृष्ण भट्ट ने हिंदी प्रदीप' म सच्ची ा' शीषक मे 'सयोगिता-स्वयवर' की आलोचना की। भारतेन्दु के द्वारा प्रव-चन। के काय को आगे बढ़ाने का श्रेय इन्हा दोना ... का है। सयोगिता-ाला श्रीनिवासदासजी द्वारा रचित ऐतिहासिक नाटक था—अत कहना चाहिए ... की भाति व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र म भी प्राथमिकता नाटक का । भट्टजी एव प्रेमघनजी की आलोचनाओ म समीक्षा का विकसित रूप दृष्टि ा है। कहीं-कहा उनम तीक्ष्ण व्यग्यात्मकता भी आ गई है—'नाटक म पाडित्य मनुष्य के हृदय से आपको कितना गाढ़ा परिचय है यह दशाना चाहिए।' ाली म भावात्मकता, आत्मानुभूति एव लखक का गाथा सम्बोधित करने की मिलती है— लालाजी यदि बुरा न मानिये तो एक बात आपस प्यार म पूछें, के आप ऐतिहासिक नाटक किसको कहा ? क्या बकर विमा पुरान समय क पुरावृत्त की छाया लेकर नाटक लिख डालन स ही वह ऐतिहासिक हो गया ? के बिचारी निरपराधिनी कवित्व शक्ति म भाव का प्राण ऐसा निदयता क साथ गा लालाजी ! कभी आपन इस बात पर भी ध्यान दिया है कि स्त्रिया म दु प्रवृत्ति होती है और कितनी लज्जा उनम होती है। जहा जहा तनिक आर स जाता तो काहे को आपका नाटक लिखन का कष्ट सहना पडता। प्रेमघन

जी की शली म भट्टजी की-सी सरसता एव व्यग्यात्मकता तो नहीं मिलती, किन्तु गम्भीरता उनम अधिक है।

भारतेन्दु-युग म उपयुक्त लेखकों द्वारा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ म समालोचनाएँ प्रकाशित होती रहीं जिससे हिन्दी म व्यावहारिक समीक्षा का विकास होने लगा। सन् १९०० ई० म 'सरस्वती' के सपादक के रूप म महावीरप्रसाद द्विवेदी का हिन्दी-समीक्षा-क्षेत्र म अवतरण हुआ। किंतु उनके आगमन स पूव दो-तीन आलोचनात्मक छोटी पुस्तिकाएँ और भी प्रकाशित हो चुकी थी—गगाप्रसाद अग्निहोत्री की 'समालोचना' (१८९६), अविकादत्त व्यास की 'गद्य-काव्य मीमासा' आदि। द्विवेदीजी ने 'कालिदास की निरंकुशता' नपध चरित्र चर्चा, विक्रमाक देव चरित चर्चा आदि ग्रथो की रचना की। उन्होंने अपने ग्रथो म प्राचीन एव नवीन कवियो के गुण-दोषो का विवेचन व्यग्यात्मक शली म किया। वस्तुत व मूलत एक शिक्षक, सशोधक और सुधारक थे। उन्होंने अपनी समीक्षाओ के द्वारा हिन्दी-काव्य को शृगारिकता के दल-दल स निकालकर उस देश प्रेम और समाज-सुधार की भावनाओ से अनुप्राणित कर दिया। व्रज भाषा के स्थान पर शुद्ध खडीबोली को प्रतिष्ठित करने का श्रेय भी उन्हीं को है। द्विवेदीजी की शली म सरलता, सरसता एव व्यग्यात्मकता मिलती है।

द्विवेदीजी के अनन्तर हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र म मिश्रबन्धुओ (गणेशविहारी मिश्र श्यामबिहारी मिश्र और शुकदेवविहारी मिश्र) का प्रवेश हुआ जिन्होने हिन्दी नवरत्न' 'मिश्रबन्धु विनोद आदि की रचना की। हिन्दी-नवरत्न' मे कवियो का श्रेणी विभाग करते हुए देव को विहारी से बडा सिद्ध किया। उन्होंने विहारी की कविता म अनेक दोष ढूढ निकाले। बिहारी पर किए गए इस आक्रमण से प्रेरित होकर प० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी सतसई की भूमिका' लिखी, जिसम चमत्कारपूर्ण ढग से विहारी की उत्कृष्टता का प्रतिपादन किया गया। इस प्रकार देव और विहारी को लेकर एक विवाद चल पडा। पडित कृष्णविहारी मिश्र ने देव और विहारी मे दोनो कवियो की कविताओ की तुलना सयत तथा मार्मिक शली मे की। किन्तु कहीं-कहीं उन्होंने बिहारी पर भद्दे आक्षेप भी किए। इसके उत्तर म लाला भगवानदीन ने 'विहारी और देव लिखी, जिसम पुन विहारी को बडा सिद्ध किया गया।

इस प्रकार आचाय रामचन्द्र शुक्ल के इस क्षेत्र म अवतीर्ण होने से पूव हिन्दी म तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति का प्रचार हो रहा था जिसके सामने न कोई विशेष आदर्श था और न ही कोई विशेष सिद्धान्त। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अपने-अपने ढग से जिसे चाहे बडा सिद्ध करने का प्रयत्न हो रहा था। किन्तु आचार्य शुक्ल साहित्य का एक सुनिश्चित मान-दण्ड एव समीक्षा की एक विकसित पद्धति लेकर अवतरित हुए। उन्होने स्थूल नतिकता या नौतिक लाभ-हानि के प्रश्न को त्यागकर साहित्य की सूक्ष्म शक्ति—भावनाओ के उद्बोधन की शक्ति—साहित्य की कसौटी के रूप म अपनाया। उन्होंने शताब्दियो प्राचीन रस सिद्धान्त को नया जीवन प्रदान किया। उन्होंने काव्य म सौन्दर्य या रस को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया किन्तु फिर भी उसम कुछ ऐसे तत्वो का समन्वय किया जिसम उनकी आलोचना सामाजिकता स दूर नही जा सकी। व समाज हितचिता

को साहित्य का साध्य तो नहीं मानते किन्तु एक ऐसे साधन के रूप में स्वीकार करते हैं, जो साहित्य को व्यापकता प्रदान करता है। वस्तुतः उन्होंने 'कला कला के लिए' और 'कला जीवन के लिए' दोनों में अपूर्व सामंजस्य स्थापित किया।

आचार्य शुक्ल द्वारा रचित ग्रन्थों में 'जायसी ग्रंथावली की भूमिका', 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', 'गोस्वामी तुलसीदास', 'चिंतामणि' आदि उल्लेखनीय हैं। शुक्लजी के आदर्श कवि तुलसीदासजी हैं। उन्होंने जितना अधिक महत्व इन्हें दिया तथा जैसा सूक्ष्म विश्लेषण इनके काव्य का किया, उतना वे किसी अन्य कवि व उसकी रचनाओं का नहीं कर सके। शुक्ल जी की शैली में सूक्ष्मता, गम्भीरता और प्रौढ़ता के दर्शन होते हैं। वस्तुतः आचार्य शुक्ल ने अपनी प्रौढ़ रचनाओं के द्वारा हिन्दी आलोचनाके क्षेत्र में युग-परिवर्तन उपस्थित कर दिया।

शुक्लजी के ही समकालीन आलोचकों में बाबू श्यामसुन्दरदास और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने एक वैज्ञानिक की भांति पूर्व और पश्चिम के साहित्य सिद्धान्तों का निष्पक्ष दृष्टि से अनुशीलन करके उन्हें हिन्दी में प्रस्तुत कर दिया। हिन्दी में सैद्धान्तिक समीक्षा का प्रथम प्रौढ़ ग्रंथ 'साहित्यालोचन' बाबू श्यामसुन्दरदासजी के द्वारा प्रस्तुत हुआ। यद्यपि यह ग्रन्थ मौलिकता की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण नहीं है, किन्तु फिर भी इसका स्थायी महत्व है। बख्शीजी ने विश्व-साहित्य की रचना की जिसमें विश्व-साहित्य का सामान्य परिचय दिया गया है।

शुक्लोत्तर युग—शुक्ल-परवर्ती युग में हिन्दी-समीक्षा का विकास द्रुत गति से हुआ। इस युग के समीक्षात्मक विकास को विभिन्न वर्गों में विभाजित करते हुए इस प्रकार विवेचन किया जा सकता है—

(क) ऐतिहासिक समीक्षा—इस वर्ग में मुख्यतः आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी डा० रामकुमार वर्मा डा० भगीरथप्रसाद मिश्र प्रभृति आते हैं। आचार्य द्विवेदी ने अपने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', 'हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास' आदि ग्रन्थों द्वारा हिन्दी साहित्य के इतिहास पर नूतन आलोक प्रस्तरित करते हुए अनेक नूतन स्थापनाएँ स्थापित कीं। विशेषतः संत-साहित्य एवं वैष्णव भक्ति आन्दोलन के सम्बन्ध में उन्होंने अनेक नए तथ्यों का उद्घाटन किया। उनके अन्य समीक्षात्मक ग्रन्थ—'सूर-साहित्य', 'कबीर' आदि भी महत्त्वपूर्ण हैं जो कि व्यावहारिक समीक्षा के अन्तर्गत आते हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में आदिकाल एवं भक्तिकाल का विवेचन अत्यन्त विस्तार से किया गया है तथा अनेक कवियों का मूल्यांकन साहित्यिक शैली में प्रस्तुत किया गया है। डा० भगीरथप्रसाद मिश्र ने 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास' एवं 'हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास' के द्वारा हिन्दी के इतिहास को स्पष्ट किया है। इनके अतिरिक्त डा० श्रीकृष्णलाल एवं डा० लक्ष्मीनारायण गुप्त ने भी आधुनिक काल का स्पष्टीकरण किया है।

(ख) सैद्धान्तिक समीक्षा—इस वर्ग में मुख्यतः डा० गुलाबराय, डा० नगेन्द्र, आचार्य बलदेव उपाध्याय, डा० राममूर्ति त्रिपाठी, प्रभृति आते हैं। डा० गुलाबराय ने 'सिद्धान्त और अध्ययन', 'काव्य के रूप', 'हिन्दी नाट्य विमर्श' आदि ग्रन्थों में भारतीय एवं पाश्चात्य

दृष्टिकोण से साहित्य सिद्धान्तों का विवेचन किया है। डा० नगेन्द्र इस क्षेत्र में आचार्य शुक्ल के वास्तविक उत्तराधिकारी सिद्ध होते हैं उन्होंने 'रीतिकाव्य की भूमिका', 'भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका', 'रस सिद्धान्त' 'काव्य बिम्ब' 'अरस्तू का काव्य शास्त्र' जैसे ग्रन्थों के द्वारा भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धान्तों को निकट लाने का प्रयास करते हुए हिन्दी समीक्षा को एक प्रौढ़ एवं सशक्त आधार प्रदान किया है। उन्होंने एक ओर तो संस्कृत की आचार्य परम्परा को तथा दूसरी ओर ग्रीक चिन्तन-परम्परा को हिन्दी की धरती पर अवतरित करने का भगीरथ प्रयास किया है जिस पर हिन्दी समीक्षा गर्व कर सकती है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने 'भारतीय साहित्य शास्त्र' में तथा डा० राममूर्ति त्रिपाठी ने 'भारतीय साहित्य-दर्शन' 'रस विमर्श', आदि में भारतीय सिद्धान्तों का विवेचन किया है। इस प्रसंग में डा० रामलाल सिंह का 'समीक्षा-दर्शन' डा० सत्यदेव चौधरी का 'रीतिकालीन आचार्य' डा० कृष्णदेव झारी का 'रस-शास्त्र और साहित्य-समीक्षा' डा० भोलाशंकर व्यास का 'ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त' भी उल्लेखनीय हैं। इनके द्वारा भारतीय सिद्धान्तों का पुनर्विवेचन नूतन दृष्टि से हुआ है।

(ग) व्यावहारिक समीक्षा—इस वर्ग में शुक्लोत्तर समीक्षकों में आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी का सर्वोच्च स्थान है। उन्होंने 'हिन्दी-साहित्य बीसवीं शती' 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य' 'नया साहित्य' 'नये प्रश्न' 'जयशंकर प्रसाद' 'सूरदास' आदि ग्रन्थों का प्रणयन किया। वस्तुतः छायावादी रचनाओं का सर्वप्रथम सम्यक मूल्यांकन प्रस्तुत करने का श्रेय आचार्य वाजपेयी को है। उपन्यासकार प्रेमचन्द्र की सीमाओं की ओर भी सर्वप्रथम संकेत करने का साहस आपने किया। स्वातन्त्र्योत्तर युग में प्रयोगवादियों के साथ संघर्ष करते हुए उन्हें नयी कविता की ओर अग्रसर करने का श्रेय भी इन्हें दिया जा सकता है। वस्तुतः वे अपने युग के सजग समीक्षक थे।

शुक्ल-परम्परा के अन्य समीक्षकों में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र डा० विनय मोहन शर्मा डा० सत्येन्द्र डा० हरवंशलाल शर्मा डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' डा० गोविन्द त्रिगुणायत का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने अपनी प्रौढ़ समीक्षात्मक कृतियों द्वारा अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन साहित्यकारों का नया मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। डा० शम्भूनाथ सिंह डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय डा० प्रेमस्वरूप गुप्त ने भी इस क्षेत्र में योग दिया है।

मनोविश्लेषणवादी दृष्टिकोण से समीक्षा करनेवाले आलोचकों में डा० देवराज उपाध्याय का स्थान सर्वोपरि है। उन्होंने अपने 'हिन्दी-काव्य-साहित्य और मनोविज्ञान' में मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से कथा-साहित्य का विवेचन प्रस्तुत किया है। हिन्दी के कतिपय आलोचकों ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण के आधार पर हिन्दी-साहित्य के विभिन्न पक्षों की आलोचना प्रस्तुत की है जिनमें डा० रामविलास शर्मा अमृतराय डा० शिवदान सिंह चौहान का नाम उल्लेखनीय है।

वैज्ञानिक समीक्षा—इधर हिन्दी में वैज्ञानिक दृष्टि से भी पर्याप्त अनुसंधान हुआ है, जिन्हें वैज्ञानिक समीक्षा के अन्तर्गत स्थान दिया जा सकता है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने अपने 'तुलसीदास' में तुलसी का प्रौढ़ विवेचन प्रस्तुत किया है। इसके अनन्तर

उन्होंने पाठालोचन की पद्धति का उपयोग करते हुए 'बीसलदेव रास', पद्मावत 'चादायन', 'मृगावती' आदि का पाठ-शोधन किया है। वस्तुतः इस क्षेत्र में डा० गुप्त शीर्ष स्थान के अधिकारी हैं। हिन्दी के विभिन्न शोधकर्ताओं ने शताधिक शोध ग्रन्थ प्रस्तुत करके वैज्ञानिक समीक्षा को विकसित किया है। डा० दीनदयाल गुप्त ने अपने 'अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय' में, डा० राजपति दीक्षित ने 'तुलसीदास और उनका युग', डा० विजयपाल सिंह ने 'केशवदास और उनका काव्य', डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल ने 'अकबरी दरबार के हिन्दी कवि', डा० आनन्दप्रसाद दीक्षित ने 'रस सिद्धान्त स्वरूप-मीमांसा', डा० हीरालाल माहेश्वरी ने राजस्थानी भाषा और साहित्य आदि शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किए जो कि प्रकाशित रूप में उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त भी शताधिक महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध प्रकाशित हुए हैं जिनकी चर्चा स्थानाभाव से संभव नहीं।

डा० सत्येन्द्र ने लोकसाहित्य के वैज्ञानिक विवेचन का सफल प्रयास किया है। इधर वैज्ञानिक पद्धति के सैद्धान्तिक ऐतिहासिक एवं व्यावहारिक रूप के उदाहरण-स्वरूप लेखक की भी कुछ कृतियाँ (साहित्य विज्ञान, हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास बिहारी-सतसई वैज्ञानिक समीक्षा) प्रकाशित हुई हैं।

आधुनिक कविता एवं प्रयोगवादी रचनाओं की समीक्षा प्रस्तुत करनेवाले समीक्षकों में डा० इन्द्रनाथ मदान, डा० जगदीश गुप्त, लक्ष्मीकान्त वर्मा, डा० नामवर सिंह का योग-दान महत्त्वपूर्ण है।

इधर हिन्दी में पत्रकारिता के स्तर की एकांगी, व्यक्तिगत रोचक किन्तु असतुलित समीक्षाएँ भी प्रकाशित हो रही हैं जो वस्तु की समीक्षा कम करती हैं चौंकाती अधिक हैं।

इस प्रकार हिन्दी समीक्षा का विकास विभिन्न क्षेत्रों में नये-नये रूपों में हो रहा है। 'साहित्य-सन्देश', 'आलोचना' 'माध्यम', 'लहर', 'कल्पना' 'नयी धारा' आदि पत्रिकाओं ने भी इसके विकास में पर्याप्त योग दिया है। वस्तुतः हिन्दी-समीक्षा आज प्रत्येक दृष्टि से विकसित एवं प्रौढ़ है। फिर भी अनेक स्वच्छन्दतावादी लेखक जिन्हें नियमों और सिद्धान्तों से जन्मजात शत्रुता है, समय-समय पर आचार्यों की उपलब्धियों को नगण्य करने का प्रयास कर रहे हैं। उनका तर्क है कि समीक्षा आचार्यों एवं अध्यापकों की दृष्टि एवं पद्धति से नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि उसमें अध्यापकीयता आ जाती है। यह ठीक है कि केवल परीक्षोपयोगिता की दृष्टि से लिखी गई सस्ती पुस्तकें कहीं भी समीक्षा के रूप में सम्मान्य नहीं होनी चाहिए, पर केवल अध्यापक होने के कारण ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं डा० नगेन्द्र की देन की अवमानना करना अनुचित है। ऐसे लोगों से हमारा एक ही प्रश्न है कि वे बताएँ आचार्य अरस्तू से लेकर रिचर्ड्स तक एवं भरतमुनि से लेकर आचार्य शुक्ल तक क्या एक भी ऐसा महान आलोचक मिलता है, जो कि अध्यापक नहीं था? यदि वे अपने विवेक की तुला पर तौलकर देखें तो उन्हें कम से कम समीक्षा के क्षेत्र में आचार्यों एवं अध्यापकों का ऋण सदा स्वीकार करना पड़ेगा।

● ●

२२ | हिन्दी काव्य मे छायावाद: स्वरूप-विकास

१ छ यावाद—नामकरण का रहस्य।
२ छायावाद की परिभाषा और स्वरूप।
३ बाह्य परिस्थितियाँ और उनका प्रभाव।
४ छायावाद का प्रवतन।
५ छायावाद के कवि और उनका काव्य।
६ छायावाद की सामान्य प्रवृत्तियाँ—(क) भाव-गत, (ख) विचार गत, (ग) शैली-गत।
७ उपसहार।

हिन्दी कविता क क्षेत्र म प्रथम महायद्ध (१९१८ १८ इ०) के आस-पास एक विशेष काव्य धारा का प्रवत्तन हुआ जिसे छायावाद' की सज्ञा दी गई है। यह नामकरण किस आधार पर तथा किसक द्वारा किया गया, इस सम्बन्ध म निश्चित रूप स कुछ कहना कठिन है। जहा तक छाया और वाद का सम्बन्ध है छायावादी काव्य के स्वरूप या उसके लक्षणो स इनका कोइ मल नही है। आचाय शुक्ल का विश्वास था कि बगला म आध्यात्मिक प्रतीकवादी रचनाओ को छायावाद कहा जाता था अत हिन्दी म भी इस प्रकार की कविताओ का नाम छायावाद चल पडा किन्तु डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस मान्यता का खण्डन करत हुए कहा है कि बगला म छायावाद' नाम कभी चला ही नही। हिन्दी की कुछ पत्र-पत्रिकाओ—श्री 'शारदा' और 'सरस्वती'—म क्रमश सन १९२० और १९२१ म मुकुटधर पाडेय और श्री सुशीलकुमार द्वारा दो लेख हिन्दी म छायावाद शीर्षक म प्रकाशित हुए थे अत कहा जा सकता है कि इस नाम का प्रयोग सन् १९२० स या उसम पूव स होने लग गया था। सम्भव है कि श्री मुकुटधर पाण्डेय न ही इसका सवप्रथम आविष्कार किया हो। यह भी ध्यान रहे कि पाडेयजी न इसका प्रयोग व्यग्यात्मक म—छायावादी काव्य की अस्पष्टता (छाया) के लिए किया था किन्तु आगे चलकर यही नाम स्वीकृत हो गया। स्वय छायावादी कवियो न इस विशेषण को बड प्रेम स स्वीकार किया है एक ओर श्री जयशकर प्रसाद लिखत हैं— मोती के भीतर छाया जसी तरलता होती है वसी ही काति की तरलता अग म लावण्य कही जाती है। छाया भारतीय दृष्टि स अनुभूति व अभिव्यक्ति की भगिमा पर निभर करती है। ध्वन्यात्मकता लाक्षणिकता सौन्दयमय प्रतीक विधान तथा उपचार-वक्रता क साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताए है। अपन भीतर स पानी की तरह आतर-स्पश करके भाव समपण करनेवाली अभिव्यक्ति छाया कातिमय होती है। दूसरी ओर महादेवीजी भी प्रसाद क स्वर म स्वर मिलाती हुई कहती हैं—'सृष्टि के

बाह्याकार पर इतना लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छन्द छन्द में चित्रित उन मानव अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त लगता है। प्रसाद और महादेवी की इन उक्तियों में कोई तर्क नहीं है—प्रसाद जिन गुणों का आख्यान कर रहे हैं, उनके आधार पर तो इस कविता का नाम प्रकाश चमक या कान्ति होना चाहिए था, या महादेवी द्वारा परिगणित विशेषता को लेकर इसे अनुभूति भावुकता आदि किसी नाम से पुकारा जाना चाहिए था, किन्तु वास्तविकता यह है कि नामकरण के संबंध में पूर्वजों के आगे किसी का वश नहीं चलता। कविता की तो बात ही क्या स्वयं कवियों को भी कुछ ऐसे नाम विरासत में मिले हैं कि उन्हें उपनाम ढूँढने को विवश होना पड़ा है। अतः छायावाद नाम को लेकर अधिक ऊहापोह करना अनावश्यक है।

परिभाषाएँ और स्वरूप

छायावाद का नामकरण भले ही बिना सोचे समझे कर दिया गया हो किन्तु परिभाषाओं की दृष्टि से यह बड़ा सौभाग्यशाली है। विभिन्न विद्वानों ने अपने अपने ढंग से छायावाद की इतनी अधिक विचित्र परिभाषाएं दी हैं कि उन्हें पढ़कर चाहे छायावाद समझ में आवे या न आवे पाठक के मस्तिष्क पर अवश्य छायावाद छा जाता है। आचार्य शुक्ल ने छायावाद का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है— छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका सम्बन्ध काव्यवस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। छायावाद शब्द का दूसरा प्रयोग काव्य शैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ में है। डा० रामकुमार वर्मा ने भी शुक्लजी की ही भांति छायावाद को रहस्यवाद का अभिन्न रूप स्वीकार करते हुए लिखा है— परमात्मा की छाया आत्मा में पड़ने लगती है और आत्मा की छाया परमात्मा में। यही छायावाद है। श्रीरामकृष्ण शुक्ल एवं शान्तिप्रिय द्विवेदी ने छायावाद और रहस्यवाद को सर्वथा अभिन्न तो नहीं माना किन्तु दोनों में चचेरे भाइयों का-सा सम्बन्ध अवश्य स्थापित कर दिया है। श्रीरामकृष्णजी के शब्दों में— छायावाद प्रकृति में मानव जीवन का प्रतिबिम्ब देखता है रहस्यवाद समस्त सृष्टि में ईश्वर का। ईश्वर अव्यक्त है और मनुष्य व्यक्त है। इसलिए छाया मनुष्य की व्यक्ति की ही देखी जा सकती है अव्यक्त की नहीं। अव्यक्त रहस्य ही रहता है। अतः कहना चाहिए कि दोनों में लौकिक और अलौकिक व्यक्त और अव्यक्त स्पष्ट और अस्पष्ट ज्ञात और अज्ञात तथा छाया और रहस्य का ही अंतर है। दूसरी ओर शान्तिप्रिय द्विवेदी भी मानते हैं— छायावाद एक दार्शनिक अनुभूति है। रहस्यवाद भी एक दार्शनिक अनुभूति है अतः दोनों में गहरा सम्बन्ध स्वतः ही सिद्ध हो गया।

श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय ने भावजगत की प्रगति के तीन चरण माने हैं प्रथम वस्तु-वर्णन द्वितीय छायावाद और तृतीय रहस्यवाद अतः उनके शब्दों में यह (छायावाद) अनुवाद व रहस्यवाद के बीच की कड़ी है। डा० नगेन्द्र ने छायावाद को एक ओर

स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह' माना है तो दूसरा जोर व स्वीकार करते हैं— छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव-पद्धति है, जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण है। जिस प्रकार भक्ति काव्य जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण था और रीति-काव्य एक दूसरे प्रकार का उसी प्रकार छायावाद भी एक प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण है।' डॉ० नन्ददुलारे वाजपेयी बहुत सोच-समझकर लिखते हैं—'मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है। डा० देवराज ने एक ही परिभाषा में बहुत कुछ कह देने की लालसा से व्यक्त किया है—'छायावाद गीति-काव्य है, प्रकृति-काव्य है प्रेम-काव्य है।'

उपर्युक्त परिभाषाओं से 'छायावाद' के सम्बन्ध में अनेक बातें ज्ञात होती हैं— (१) छायावाद और रहस्यवाद एक हैं। (२) छायावाद एक शैली विशेष है। (३) छायावाद प्रकृति में मानव-जीवन का प्रतिबिम्ब देखता है अर्थात प्रकृति का मानवीकरण करता है। (४) छायावाद एक दार्शनिक अनुभूति है। (५) छायावाद एक भावात्मक दृष्टिकोण है। (६) छायावाद प्रकृति में आध्यात्मिक सौन्दर्य का दर्शन करता है। (७) छायावाद में प्रेम का चित्रण होता है। (८) छायावाद में प्रकृति का चित्रण होता है। (९) छायावाद में गीति-तत्त्व की प्रमुखता होती है। (१०) छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है। इनमें से कोई भी तथ्य छायावाद के सर्वांगीण रूप का परिचय देने में असमर्थ है किन्तु जब-गज न्याय के अनुसार प्रत्येक तथ्य छायावाद के किसी एक अंग या उसकी किसी एक विशेषता का निदर्शन अवश्य करता है। अतः यदि इन सारी विशेषताओं को उचित क्रम से एक सूत्र में गूँथ लिया जाय तो सम्भवतः वह छायावाद का अधिक-से अधिक परिचय देने में समर्थ हो सकेगा। अस्तु हम कहेंगे छायावाद हिंदी कविता के एक विशेष युग में पूर्ववर्ती युग के विरोध में प्रस्फुटित एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण एक विशेष दार्शनिक अनुभूति एवं एक विशेष शैली है जिसमें लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक का एवं अलौकिक प्रेम के ब्याज से लौकिक अनुभूतियों का चित्रण होता है जिसमें प्रकृति का मानवी रूप भी प्रस्तुत किया जाता है और जिसमें गीति तत्त्वों की प्रमुखता होती है।

बाह्य परिस्थितियाँ और उनका प्रभाव

प्रत्येक युग के साहित्य पर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव किसी न किसी रूप में अवश्य पड़ता है—अतः किसी भी साहित्य के सम्यक विश्लेषण के लिए तत्कालीन परिस्थितियों का विवेचन अपेक्षित है। छायावादी साहित्य पर भी उस युग की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। राजनीतिक दृष्टि से प्रथम महायुद्ध के अनन्तर भारतीय स्वातन्त्र्य-आन्दोलन ने एक नयी करवट ली। अब तक भारतीय नेता स्वतन्त्रता के लिए सहायता या विरोध के स्थूल उपकरणों का प्रयोग करते आ रहे थे, किन्तु इस युग में गांधीजी के नेतृत्व में सत्य, अहिंसा एवं असहयोग की सूक्ष्म शक्ति का प्रयोग होने लगा। यद्यपि प्रारम्भ में यह प्रयोग

विशेष सफल नहीं रहा किन्तु इससे भारतीय नेता हताश या निराश नहीं हुए थे। कुछ विद्वान् जो छायावाद की निराशा को सन् १९१९ के प्रथम असहयोग आन्दोलन की असफलता से सम्बन्धित करते हैं वह भूल जाते हैं कि इस असफलता के अनन्तर भी भारतीयों के उत्साह, नीति एवं लक्ष्य में कोई परिवर्तन नहीं आया था, गांधीजी का नेतृत्व यथावत चल रहा था। यह ठीक है कि छायावादी कवि तत्कालीन राजनीतिक आन्दोलनों के प्रति उदासीन से थे किन्तु इस उदासीनता का कारण उनका वैयक्तिकता में लीन हो जाना है राजनीतिक निराशा नहीं। यह आश्चर्य की बात है कि जिस युग में जलियाँवाला बाग काण्ड, भगतसिंह की फाँसी, साइमन कमीशन-बहिष्कार, नमक-कानून भंग जैसी घटनाएँ हुई उसी युग में जीवित रहकर भी छायावादी कवि अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए एक पंक्ति नहीं लिख सका। इसका क्या कारण है? हमारे दृष्टिकोण से छायावादी कवियों की मूल प्रवृत्ति करुणा और प्रेम से मेल खाती थी जबकि राजनीतिक आन्दोलनों एवं स्वातन्त्र्य-संग्रामों के लिए वीर एवं रौद्र के स्थायीभाव उत्साह एवं जुगुप्सा की आवश्यकता पड़ती थी। छायावादी करुणा और प्रेम में उत्साह एवं जुगुप्सा के विकास की कोई सम्भावना नहीं थी। अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन कवियों का तत्कालीन राजनीति के प्रति उदासीन रहना स्वाभाविक था।

धर्म और दर्शन के क्षेत्र में इस युग में रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, गांधी, टैगोर तथा अरविन्द जैसे महान् व्यक्तियों का आविर्भाव हुआ जिनके प्रभाव में स्थूल, एवं संकुचित हिन्दुत्व के स्थान पर व्यापक विश्व धर्म की प्रतिष्ठा हुई। ठाकुर रवीन्द्रनाथ राष्ट्र प्रेमी होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीयता में ओत प्रोत थे। वे मानवता के उपासक थे तथा उन्होंने विश्व शांति और विश्व-कल्याण का सन्देश दिया। यही बात हम छायावादी कवियों के दृष्टिकोण में मिलती है। हमारे प्राचीन अद्वैतवाद व सर्वात्मवाद के दर्शन ने भी छायावाद को कम प्रभावित नहीं किया। कवयित्री महादेवी का तो यहाँ तक विश्वास है कि छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है जो मूर्त और अमूर्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भाव भूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौन्दर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनों के साथ स्वानुभूत सुख-दुःखों को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक नामों का भार सम्भाल सकी। (महादेवी का विवेचनात्मक गद्य पृ० ६१)

पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव से हमारे नवयुवकों के वैयक्तिक, पारिवारिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर आया। जहाँ मध्ययुग का युवक विवाह की चर्चा सुनते ही किसी ऐसी सजी-सजाई डरी हुई दुलहिन की कल्पना करने लगता था जो गुड़ियों की भाँति रथ में बैठाकर लाया जाता था जबकि छायावादी युग के सुशिक्षित युवकों के हृदय में किसी ऐसी रंग बिरंगी चहकती हुई ज्ञान-सुन्दरी की कल्पना समाई रहती थी जो जीवन के हर क्षेत्र में उनका साथ दे सके। और इतना ही नहीं इनको [illegible] छूट बिना माता पिता की आज्ञा प्राप्त किए ही इस कल्पित सहचरी की

खोज में प्रवृत्त भी हो जाती थी। किसी प्रकार वे कोई ऐसा आधार प्राप्त भी कर लेते थे, जिसके समीप बैठकर वे अपने स्वप्नों को साकार कर सकें जिसे हृदय देकर वे अपनी प्रेम करने की चाह पूरी कर सकें। किन्तु अपने इस मधुर सम्बन्ध को स्थायी दाम्पत्य में परिणत करने के लिए जब वे समाज से 'ग्रंथि-बन्धन' की प्रार्थना करते तो उन्हें पता चलता कि उनके मार्ग में जाति-पाति, कुल गोत्र, मान मर्यादा आदि की ऐसी चट्टानें डटी हुई हैं जिन्हें तोड़कर आगे बढ़ना उसके बस की बात नहीं। फल यह होता था कि उनके प्रेम और विवाह के विदेशी स्वप्न स्वदेशी समाज की रूढ़ियों से टकराकर चकनाचूर हो जाते थे। चाहे 'प्रेम-पथिक' का नायक हो या 'ग्रंथि', 'उच्छ्वास', 'आँसू' आदि का असफल प्रेमी हो उनके स्वर में हम सर्वत्र इसी निराशा की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। हो सकता है यह निराशा व्यथा या वेदना कवियों के वैयक्तिक जीवन में पूर्णतः सम्बद्ध न हो किन्तु उसमें उस युग के सामान्य सुशिक्षित वर्ग के हृदय की विवश वेदना का विस्फोट अवश्य है। वस्तुतः छायावादी अतृप्ति, कुण्ठा एवं निराशा के मूल में समाज की यही परिस्थिति कार्य कर रही है, इसका सबंध तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों में स्थापित करने की कोई आवश्यकता नहीं।

पाश्चात्य साहित्य ने भी हमारे छायावादी काव्य को कम प्रभावित नहीं किया। विशेषतः अंग्रेजी के रोमांटिसिज्म का तो छायावाद के कवियों पर गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। रोमांटिसिज्म या स्वच्छन्दतावाद का प्रवर्तन अंग्रेजी में वर्डसवर्थ एवं कालरिज के काव्य-संग्रह 'लिरिकल बैलेड्स' (Lyrical Ballads) के प्रकाशन की तिथि सन् १७९८ से माना गया है। इसके प्रमुख कवि वर्डसवर्थ, शैली, कीट्स, बायरन, काउपर आदि हैं, जिन्होंने प्राचीन-काव्य शास्त्र की पद्धतियों, समाज के रूढ़िवादी दृष्टिकोण एवं धर्म-वेत्ताओं की अति संकुचित मान्यताओं का विरोध करते हुए सरल-स्वाभाविक काव्य-पद्धति, स्वच्छन्द वैयक्तिक प्रेम मूलक दृष्टिकोण एवं व्यापक मानववाद की प्रतिष्ठा की। उन्होंने वैयक्तिक अनुभूतियों का प्रकाशन सुन्दर मधुर शैलियों में निःसंकोच रूप में किया। उन्होंने सौंदर्य के स्थूल उपकरणों के स्थान पर उसके सूक्ष्म गुणों तथा प्रकृति के चेतन रूप को महत्व दिया है। किन्तु अतिवैयक्तिकता, स्वच्छन्दता एवं कोमल मधुर अनुभूतियों का परिणाम जीवन में सुखद नहीं होता, इस प्रकार से व्यक्ति अपने परिवार समाज एवं राष्ट्र के साथ समझौता कर पाने में असमर्थ रहते हैं, उनके मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं जिनका सामना न करने के कारण वे असफल निराशावादी या रहस्यवादी हो जाते हैं। छायावादी कवियों की परिस्थितियाँ और उनका दृष्टिकोण बहुत कुछ स्वच्छन्दतावादी कवियों से मिलता जुलता है अतः उनसे प्रेरणा एवं प्रभाव ग्रहण करना स्वाभाविक था। यही कारण है कि अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावाद की प्रायः सभी प्रमुख प्रवृत्तियाँ—प्राचीन रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, व्यापक मानवता, वैयक्तिक प्रेम की अभिव्यंजना, रहस्यात्मकता का आभास, सौन्दर्य के सूक्ष्म गुणों की पूजा, प्रकृति में चेतना का आरोप, गीति शैली आदि—हिन्दी के छायावाद में समान रूप से मिलती हैं। अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावाद से बंगला के कवि पहले ही प्रभावित हो चुके थे, अतः हिन्दी के कवियों को भी ऐसा करने में कोई विशेष संकोच नहीं हुआ।

अग्रजी के स्वच्छन्दतावाद से हिन्दी के छायावाद का इस गहरी समानता को देखते हुए कुछ आलोचकों ने इसे रोमांटिक का ही हिन्दी संस्करण सिद्ध किया था। इन आलोचकों म एक डा० नगेन्द्र भी थे किन्तु आगे चलकर उन्होंने अपना मत बदल दिया। वे लिखते हैं— दूसरी भ्रान्ति उन आलोचकों की फलाई हुई है जो मूलवर्तिनी विशिष्ट परिस्थितियों का अध्ययन न कर सकने के कारण—और उन अपराधियों म मैं भी हूँ—केवल बाह्य साम्य के आधार पर छायावाद को यूरोप के रोमांटिक काव्य सम्प्रदाय से अभिन्न मानकर चले है। इसमे सदेह नहीं कि छायावाद मूलत रोमानी कविता है और दोनों की परिस्थितियों म भी जागरण और कुण्ठा का मिश्रण है। परन्तु फिर भी यह कसे भुलाया जा सकता है कि छायावाद एक सर्वथा भिन्न देश और काल की सष्टि है। जहाँ छायावाद के पीछे असफल सत्याग्रह था वहा रोमांटिक काव्य के पीछे फ्रांस का सफल विद्रोह था जिसमे जनता की विजयिनी सत्ता ने समस्त आगत देश म एक नवीन आत्म विश्वास की लहर दौड़ा दी थी। फलस्वरूप वहा के रोमानी काव्य का आधार अपेक्षाकृत अधिक निश्चित और ठोस था उसकी दुनिया अधिक मूर्त थी उसकी आशा और स्वप्न अधिक निश्चित और स्पष्ट थे उसकी अनुभूति अधिक तीक्ष्ण थी। छायावाद की अपेक्षा वह निश्चय ही कम अन्तर्मुखी एव वायवी था। (आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ पृ० १४) यहा डाक्टर साहब ने दोनों म जो अन्तर स्पष्ट किया है, वह केवल देश काल मूलाधार एव गुणों की मात्रा का है दोनों के फलस्वरूप म या दोनों की प्रवृत्तियों म कोई भेद नहीं दिखा सके। साथ ही उन्होंने असफल सत्याग्रह के प्रभाव को भी आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है। जसा कि हम पीछे स्पष्ट कर चुके हैं चाहे हमारे सत्याग्रह प्रारम्भ म असफल होते रहे हों किन्तु इससे भारतीय जनता म कोई स्थायी निराशा नहीं आ पाई अन्यथा न तो साइमन-बहिष्कार व नमक कानून भग जसी घटनाएँ होतीं और न ही स्वतन्त्र आन्दोलन आगे बढ़ता। दूसरी बात यह भी ध्यान देने की है कि रोमांटिसिज्म इंगलैंड म पनपा और राज्य क्रान्ति हुई फ्रांस म अत यदि फ्रांस की क्रान्ति इंगलैंड को प्रभावित कर सकती है तो इंगलैण्ड का काव्य भारत को क्यों नहीं प्रभावित कर सकता? हमारी दृष्टि म छायावादी निराशा का सम्बन्ध तत्कालीन राजनीति से स्थापित करना वसा ही है जसा कि प्रयोगवादी कवियों की वयक्तिकता को पिछले चुनावों म जनसघ की पराजय का प्रभाव बताना है।

यदि हम देश काल की स्थूल सीमाओं को भूलकर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो रोमांटिसिज्म और छायावाद के मूलाधारों—दोनों को प्रभावित करनेवाली परिस्थितियों म भी गहरा साम्य दृष्टिगोचर होगा। रोमांटिसिज्म के अभ्युत्थान से पूर्व अग्रेजी कविता म भी अनतिकता सुधारवाद एव शास्त्रीय रूढ़ियों का बोलबाला था उसी प्रकार हिन्दी म भी द्विवेदी-युग म यही परिस्थिति थी जिसका विरोध छायावादी कवियों ने किया। फ्रांस की राज्य क्रान्ति ने इंगलैण्ड के कवियों को वयक्तिक स्वतन्त्रता का मन्त्र दिया तो दूसरी ओर स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है की घोषणा ने हमारे छायावादियों को गुलामी की भावना से मुक्त किया। रोमांटिक युग के युवकों की सौन्दर्य और प्रेम की उन्मुक्त लालसा पर धार्मिक संस्थाओं एव सामाजिक मान्यताओं का

अनुराग रहा हुआ था तो छायावादी युग में प्रेमियों पर हिंदू समाज की रूढ़ियों का नियंत्रण था। रोमांटिक कवि दलित जीवन की असंगतियों, विषमताओं एवं कटुता से त्राण प्रकृति एवं अध्यात्म में ढूँढने को विवश हुए थे तो हिंदी कवियों को भी जीवन में अन्यत्र और कोई आश्रय प्राप्त नहीं था। इस भूमिका की दृष्टि से भी दोनों में गहरा साम्य है। हाँ हम इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि दोनों सर्वथा एक नहीं हैं। इंगलैंड के एक जन्मजात क्रिश्चियन में और भारतीय इसाई में जितना अन्तर होता है उससे कहीं अधिक अन्तर रोमांटिसिज्म और छायावाद में है।

छायावाद का प्रवर्त्तन

छायावाद के प्रवर्त्तन-काल एवं प्रवर्त्तक के सम्बन्ध में भी विद्वानों में गहरा मतभेद है। आचार्य शुक्ल का मत है— हिंदी कविता की नयी धारा (छायावाद) का प्रवर्तक इन्हीं को—विशेषत मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पाण्डेय को समझना चाहिए।" ऐसा शुक्ल जी ने अभिव्यंजना की एक विशेष शैली को ही 'छायावाद' मानकर लिखा है। श्री इलाचन्द्र जोशी ने इस मत का खण्डन करते हुए लिखा है—'छायावाद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का वक्तव्य एकदम भ्रामक, निर्मूल एवं मनगढंत है। प्रसादजी अविवादग्रस्त रूप से हिंदी के सर्वप्रथम छायावादी कवि ठहरते हैं। सन १९१३-१४ के आसपास 'इन्दु' में प्रतिमास उनकी जिस ढंग की कविताएँ निकलती थी (जो बाद में 'कानन-कुसुम' के नाम से पुस्तकाकार में प्रकाशित हुई) वे निश्चित रूप से तत्कालीन हिन्दी काव्य क्षेत्र में युग विवर्तन की सूचक थीं।' श्री विनयमोहन शर्मा एवं प्रभाकर माचवे ने छायावाद का प्रारम्भ तो सन् १९१३ ई० से ही माना है किन्तु इसके प्रवर्त्तन का श्रेय वे माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' को देना चाहते हैं। उधर श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का विचार है—'साहित्यिक दृष्टि से छायावादी काव्य शैली का वास्तविक अभ्युदय सन् १९२० के पश्चात पंत की 'उच्छ्वास' नाम की काव्य पुस्तिका के साथ माना जा सकता है।' हमारे दृष्टिकोण से मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय और माखनलाल चतुर्वेदी में छायावाद की प्रवृत्ति गौण रूप से मिलती है, समग्र रूप से उन्हें छायावादी नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में किसी छायावादी को छायावाद का प्रवर्त्तक मानना अवास्तविक है। छायावाद का प्रवर्त्तक अवश्य ही कोई छायावादी ही होना चाहिए।—चाहे वह प्रसाद हो या पंत। पंतजी की अपेक्षा प्रसाद जी काव्य क्षेत्र में पहले आए तथा 'झरना' की भूमिका में प्रकाशक की ओर से भी एक वक्तव्य है—'जिस शैली की कविता का हिंदी साहित्य में आज दिन 'छायावाद' नाम मिल रहा है उसका प्रारम्भ प्रस्तुत संग्रह द्वारा ही हुआ था। इस दृष्टि से यह संग्रह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।'—अब तक किसी कवि ने प्रकाशक के वक्तव्य का खंडन नहीं किया है अत प्रसाद के 'झरना' (सन् १९१९) से ही छायावाद का प्रारम्भ मानना चाहिए किंतु यह ध्यान रहे प्रसाद की कुछ कविताएँ इससे पूर्व भी पत्र पत्रिकाओं में छप गई थीं जिनमें छायावादी शैली का प्रारम्भिक स्वरूप दृष्टिगोचर होता है तथा इन रचनाओं का प्रकाशनकाल सन् १९०९ से १९१७ है अत छायावाद का उद्भवकाल और पीछे तक ले जाया

जा सकता है। प्रसाद का कानन-कुसुम पुस्तक के रूप में झरना के पश्चात् प्रकाशित हुआ जबकि उसमें संगृहीत रचनाएँ झरना से पूर्व ही पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी थीं। अतः इन सब तथ्यों पर विचार करते हुए छायावाद का आरम्भ प्रसाद की स्फुट कविताओं (पत्रिकाओं में प्रकाशित) से (लगभग सन् १९१ -२० से) ही मानना उचित होगा।

छायावाद के प्रमुख कवि और उनका काव्य

छायावाद के चार प्रमुख स्तम्भ सर्वश्री जयशंकर प्रसाद सुमित्रानन्दन पंत सूर्यकांत त्रिपाठी निराला एवं महादेवी वर्मा हैं। श्री जयशंकर प्रसाद प्रारम्भ में ब्रज भाषा में कविताएं लिखते थे किन्तु १९१३ १४ से वे खड़ीबोली में लिखने लग गए। उनके प्रमुख काव्य ग्रंथ ये हैं—चित्राधार प्रेम-पथिक करुणालय महाराणा का महत्व, कानन कुसुम झरना आँसू लहर कामायनी। उनकी अन्तिम काव्य रचना कामायनी सन् १९३६ में रचित हुई थी। इन रचनाओं में से चित्राधार करुणालय और महाराणा का महत्व को छोड़कर शेष सभी छायावाद की प्रवृत्तियों से ओत प्रोत हैं। वस्तुतः गौण रूप से इनमें भी छायावाद की कुछ विशेषताएं मिलती हैं। प्रेम-पथिक एक लघु प्रबंध काव्य है जिसमें एक असफल प्रेम की कहानी नायक के मन से कहलाई गई है। अनुभूतियों से परिपूर्ण होने के कारण यह रचना अत्यंत मार्मिक बन गई है। जब नायिका का विवाह किसी अन्य से हो रहा था तो निराश प्रेमी के हृदय के टुकड़े-टुकड़े हो रहे थे

> किन्तु कौन सुनता उस शहनाई में हृत्तंत्री झनकार
> जो नावक्षेप-से बजती थी, अपनी गहरी धुन में—
> रूखी नाड़ी जो टूटे तो सब कोई सुन पाता है
> कुचला जाना हृदय कुसुम का किसे सुनाई पड़ता है!

कानन कुसुम झरना और लहर प्रसाद की स्फुट कविताओं के संग्रह हैं जिनमें विषय की दृष्टि से चार प्रवृत्तियाँ मिलती हैं—

(१) लौकिक प्रभु के प्रति आत्म निवेदन (२) लौकिक प्रेम की व्यंजना, (३) प्रकृति एवं नारी सौंदर्य का चित्रण और (४) अतीत भारत की किसी घटना का वर्णन। आंसू उनका विरह गीत है। आगे चलकर कामायनी में इन सभी प्रवृत्तियों का विकास समुचित रूप में प्रबंध शैली में हुआ है। मानव हृदय की प्रवृत्तियों में सूक्ष्माति-सूक्ष्म निरूपण प्रकृति एवं नारी सौन्दर्य के सजीव अंकन प्रणय और विरह की मार्मिक व्यंजना मानवता और इच्छा के समन्वय के मंगलकारी सन्देश और शैली की प्रौढ़ता की दृष्टि से कामायनी अनुपम है। वस्तुतः रहस्य तत्त्व को छोड़कर छायावाद की सभी प्रमुख प्रवृत्तियाँ कामायनी में उपलब्ध होती हैं और यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कामायनी की प्रबंधात्मकता पर भी छायावाद की रहस्यात्मकता पूरी तरह छाई हुई है। वस्तुतः प्रसाद छायावाद के प्रवर्तक के रूप में हैं नहीं उसके नेता और प्रौढ़तम कवि के रूप में भी सर्वश्रेष्ठ छायावादी कवि हैं।

छायावाद के क्षेत्र में पंत और निराला साथ-साथ ही आये। पंतजी की रचनाओं

का प्रकाशन क्रम यह है—वीणा (१९१८), ग्रंथि (१९२०) पल्लव (१९१८ २८) गुजन (१९१९ ३२) युगान्त (१९३४ ३६) युग-वाणी (१९२६ ३९,) ग्राम्या (१९ ९ ४०) स्वण किरण (१९४७), स्वणधूलि (१९४७) युगान्तर (१९४८) उत्तरा (१९४९) रजत शिखर (१९५१), शिल्पी (१९५२) और अतिमा (१९५५)। पत जी सन् १९३८ के लगभग छायावादी स प्रगतिवादी बन गय अत इस युग से पूव की रच-नाओ म ही छायावादी प्रवत्तियाँ मिलती हैं। वीणा पल्लव और गुजन म उनकी स्फुट कविताएँ सगृहीत हैं। 'वीणा' म रहस्य की प्रवत्ति अधिक है पल्लव' म निराशा और प्रकृति चित्रण की तथा गुजन' म नारी-सौदय एव मानववाद की। ग्रंथि एक छोटा-सा प्रबन्ध-काव्य है जिसम असफल प्रेम की कहानी कही गइ है। प्रसाद क प्रेम-पथिक' की भाति ग्रंथि की नायिका का विवाह भी किसी अन्य म हो जाता है। मार्मिकता की दृष्टि से यह रचना प्रेम-पथिक स आग बढ जाती है। युगान्त म आकर पत क छायावादी युग का अन्त हो जाता है। प्रकृति एव नारी सौदय क चित्रण व शली की कोमलता की दष्टि स पन्त का स्थान छायावादी कविया म सबस ऊचा माना जा सकता है।

सूयकान्त त्रिपाठी निराला ने कविताए लिखना सन् १९१५ से ही आरम्भ कर दिया था किन्तु उनका प्रथम काव्य सग्रह परिमल सन १९२९ ई० म प्रकाशित हुआ। उनके अन्य काव्य ग्रंथ अनामिका तुलसीदास कुकुरमुत्ता बेला नय पत्ते अचना, आराधना' आदि हैं। निरालाजी भी तुलसीदास' काव्य के अनन्तर प्रगतिवाद स प्रभावित हो गय थे अत उनके परवर्ती ग्रथा म छायावाद लुप्त है। निराला जी की रचनाओ म वसे तो छायावाद की समी प्रवत्तिया उपलब्ध होती हैं किन्तु उस अद्वत दशन को सुदृढ आधार भूमि प्रदान करके रहस्य-युक्त बनाने का श्रेय सर्वाधिक निराला जी का है। निरालाजी की शली म अस्पष्टता एव कठोरता अन्य कविया स अधिक है।

महादेवी छायावाद क क्षेत्र म सबस पीछे आइ किन्तु उनका सबसे अधिक साथ भी व ही दे रही ह। उनकी कविताओ के सग्रह—नीहार' 'रश्मि, नीरजा, सान्ध्यगीत और दीपशिखा आदि शीषको स प्रकाशित हुए हैं। उनक सभी सग्रहो की मूल प्रकृति प्राय एक है—पत और निराला की भाति उनकी राह म नय-नय मोड या परिवतन नहा आत। उनक काव्य मे छायावादी शली की सभी प्रमुख विशेषताए दृष्टि-गोचर होती है किन्तु विषयगत प्रवृत्तिया की दृष्टि स उनम छायावाद स रहस्यवाद अधिक है। नारी होन के कारण व प्रकृति क मानवी रूप स वसा स्वच्छन्द-व्यवहार नहा कर सकी जसा निराला और पन्त न किया है। लौकिक प्रणय और स्थूल सौन्दय के चित्रण म भी उन्ह सकोच होना स्वाभाविक था, अत छायावाद के विभिन्न विषया म उनक पास अलौकिक प्रेम विरह और रुदन ही शेष रह गया।

उपयुक्त चार प्रमुख कविया के अतिरिक्त भगवतीचरण वमा, रामकुमार वर्मा नरेन्द्र शमा अचल मोहनलाल महतो आदि का भी छायावाद के साथ नाम लिया जाता है किन्तु इनम छायावाद की प्रवत्तियाँ आंशिक रूप स ही मिलती हैं।

छायावाद की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

छायावादी काव्य में मिलनेवाली प्रवृत्तियों को हम मुख्यत तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(क) विषयगत (ख) विचारगत और (ग) शैलीगत। इनमें से प्रत्येक का परिचय यहाँ अलग-अलग दिया जाता है।

(क) विषयगत प्रवृत्तियाँ—छायावादी कवियों ने मूलत सौंदर्य और प्रेम की व्यजना की जिसे हम तीन खण्डों में विभक्त कर सकते हैं—(१) नारी-सौन्दर्य और प्रेम का चित्रण (२) प्रकृति सौंदर्य और प्रेम की व्यजना और (३) अलौकिक प्रेम या रहस्यवाद का निरूपण। नारी-सौंदर्य और प्रेम—दोनों शृंगार रस के ही अंग हैं अत एक दूसरे के पूरक हैं। यदि शास्त्रीय शब्दावली में कहें तो प्रथम शृंगार रस का आलम्बन है तथा द्वितीय उसका स्थायी भाव। छायावादी कवियों ने नारी को उसके प्रेयसी के रूप में ग्रहण किया जो हृदय और यौवन की सम्पूर्ण विभूतियों से परिपूर्ण है तथा जो धरती के यथार्थ सौंदर्य एव स्वर्ग की काल्पनिक सुषमा से सुसज्जित है। विवाह-बन्धन में न पड़ने के कारण एक ओर तो वह लाज उमग और उत्साह से भरपूर है दूसरी ओर वह स्वकीया-परकीया के पचड़े से भी दूर है। प्रसाद पंत और निराला के काव्य में इन प्रेयसी के सौंदर्य के शत शत चित्र अंकित हैं। कामायनी की श्रद्धा का सौंदर्य-चित्रण द्रष्टव्य है—

> नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
> खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघवन बीच गुलाबी रंग॥

छायावादी कवियों ने सौन्दर्य के स्थूल चित्रण की अपेक्षा उसके सूक्ष्म प्रभाव का ही अंकन किया है। उसमें अश्लीलता नग्नता एव स्थूलता प्राय न के बराबर है।

प्रेम के क्षेत्र में छायावादी कवि किसी प्रकार की रूढ़ि मर्यादा या नियमबद्धता को स्वीकार नहीं करते। निराला ने प्रेयसी में प्रेम का आदर्श स्थापित करते हुए लिखा है—

> दोनों हम भिन्न वर्ण, भिन्न जाति, भिन्न रूप,
> भिन्न धर्म भाव पर केवल अपनाव से, प्राणों से एक थे।

(अनामिका ५८)

इनके प्रेम की दूसरी विशेषता है वैयक्तिकता। हिन्दी के अनेक पूर्ववर्ती शृंगारी कवियों ने प्रेम का वर्णन किया किन्तु स्वच्छंद प्रेम मार्गी कवियों को छोड़कर सबने किसी राधा पद्मिनी उर्मिला आदि को ही माध्यम बनाया जबकि छायावादियों ने निजी प्रेमानुभूतियों की व्यंजना की। उनके प्रेम की तीसरी विशेषता सूक्ष्मता है। इन्होंने शृंगार के स्थूल क्रिया-व्यापारों की अपेक्षा उनकी सूक्ष्म भाव-दशाओं का उद्घाटन अधिक किया। चौथी विशेषता—इनकी प्रणय-गाथा का अंत असफलता एवं निराशा में होता है। यही कारण है कि उनमें मिलन की अनुभूतियाँ कम हैं। प्रेम विरह का रुदन अधिक है। प्रेम निरूपण के क्षेत्र में इन्होंने सबसे अधिक महत्ता विरहानुभूतियों की ही व्यंजना में दी है। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

विस्मृत हों वे बीती बातें, अब जिनमें कुछ सार नहीं।
वह जलती छाती न रही, अब वैसा शीतल प्यार नहीं॥
सब अतीत में लीन हो चली आशा, मधु, अभिलाषाएँ।
प्रिय की निष्ठुर विजय हुई, पर यह तो मेरी हार नहीं॥

—प्रसाद

शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ पर,
'विरह' अहह, कराहते इस शब्द को,
किस कुलिश की तीक्ष्ण, चुभती नोक से,
निठुर विधि ने अश्रुओं से है लिखा!!

—पन्त

एक बार यदि अजान के अन्तर से उठ आ जातीं तुम!
एक बार भी प्राणों की तम-छाया में आ कह जातीं तुम!
सत्य हृदय का अपना हाल!
कैसा था अतीत वह, अब बीत रहा है कैसा काल!
मैं न कभी कुछ कहता, बस तुम्हें देखता रहता!

—निराला

उपर्युक्त विरह-वर्णन वेदनानुभूतियों से ओत प्रोत है। विरही हृदय की पीड़ा स्वतः ही मुखरित हो रही है, उसकी नाप-जोख करने के लिए शारीरिक दुर्बलता, क्षीणता या व्याधि का उल्लेख यहाँ नहीं! प्रेमी और प्रेमिका—दोनों में से किसी के भी स्थूल अंगों या बाह्य चेष्टाओं का निरूपण किए बिना ही हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं को साकार रूप में प्रस्तुत कर देना छायावादी कला का सबसे बड़ा जादू है।

प्रकृति के सान्निध्य और उससे प्रेम का वर्णन भी छायावादी कवियों की शृंगारिकता का दूसरा रूप है। वे प्रकृति के रूप में भी नारी का रूप देखते हैं, उसकी छवि में किसी प्रेयसी के सौन्दर्य-वैभव का साक्षात्कार करते हैं, उसकी चाल-ढाल में किसी नवयौवना की चेष्टाओं का प्रतिबिम्ब पाते हैं, उसके पत्तों की मर्मर या फूलों की गुन-गुनाहट में उन्हें किसी बाला किशोरी के मधुर-आलाप या अर्द्ध स्फुट हास्य की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। ऐसी स्थिति में भला यह कैसे स्वीकार कर लिया जाय कि वे नारी से नहीं—प्रकृति से प्रेम करते हैं! हाँ, प्रकृति से प्रेम का नाटक अवश्य ये खेलते हैं और कभी उसे प्रसन्न करने के लिए नारी को ठुकराने का अभिनय भी करते हैं, किन्तु अन्त में उनकी कलई खुल जाती है। जिस प्रकार स्वर्ग के रंगमंच पर उर्वशी नाटक के नायक को अपने प्रेमी के नाम से सम्बोधित कर बैठी थी या अपनी पत्नी के प्रति कृत्रिम प्रेम का प्रदर्शन करते समय मतिराम के मुँह से अचानक ही किसी और तिय का नाम निकल पड़ा था, वैसी ही भूल छायावादी कवियों से भी हो जाती है। जिस पंत ने कभी प्रकृति के मायाजाल को किसी बाला के बाल-जाल से बढ़कर बताया था, वही आगे चलकर 'भावी-पत्नी' के स्वप्नों में लीन

हो गया। निराला की 'जूही की कली' को भले ही कुछ लोग प्रकृति-वर्णन का श्रेष्ठ उदाहरण मानें किन्तु हमारी दृष्टि में तो वह पुरुष और नारी के संगम का ही चित्रण है उसका भौंरा कोई और नहीं व कन्दर्प देव ही हैं, जो छायावादी कवियों के हृदय में सोए हुए थे और जूही की कली' किसी जीतीजागती रति देवी की प्रतिच्छाया मात्र है—

> सोती थी
> जाने कैसे प्रिय आगमन वह
> नायक ने चूमे कपोल
> डोल उठी बल्लरी की लड़
> जैसे हिंडोल !
>
> —जूही की कली

इस दृश्य को 'प्रकृति चित्रण' बताना अपनी आँखों को धोखा देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं। हाँ इतना अवश्य है कि प्रकृति का मानवीकरण—अपितु नारीकरण' करने में इन्होंने अपनी काव्य-कुशलता का अच्छा परिचय दिया है।

अब लीजिए इनके प्रेम के तीसरे रूप—अलौकिक प्रेम को। पहले इन्होंने प्रकृति की ओट में शृंगार क्रीड़ा की जब इससे भी इनका काम नहीं चला तो वे अध्यात्म की चद्दर ओढ़कर रहस्यवादी बन गए और कबीर दादू आदि की पंक्ति में जा बैठे। इनका यह रहस्यवाद कितना कृत्रिम एवं बलात् आरोपित है इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि 'प्रेम पथिक' आँसू आदि—जिनमें प्रसाद ने पहले लौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति की थी उनके नव-संस्करणों में दस-बीस पंक्तियाँ घटा-बढ़ाकर उन्हें अलौकिक प्रेममय बना डाला। यदि इसी तरह किसी को रहस्यवादी बनाना हो तो फिर घनानन्द बोधा आलम आदि को भी रहस्यवादी बनाया जा सकता है। रहस्यवादी कवि लौकिकता से अलौकिकता की ओर स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता है किन्तु पन्त और निराला की जीवनी का क्रम उल्टा है। वीणा में पन्त रहस्यवादी थे गुंजन में पत्नी या प्रयसी वादी और युगान्त' के बाद स्थूल भौतिकवादी बन गए। यही बात निराला में मिलती है। यह ठीक है कि इन्होंने अद्वैतवादी ग्रन्थों का अध्ययन करके उनसे ज्ञान-तत्त्व भी बटोरा किन्तु उसे वे अपनी अनुभूति का विषय नहीं बना सके। ध्यान रहे अद्वैतवाद' का कोरा ज्ञान रहस्यवाद नहीं है और न ही अद्वैतवाद को पद्यबद्ध कर देना रहस्यवाद अपितु रहस्यवाद तो हृदय की ऐसी अनुभूति है जिसको प्राप्त करने के अनन्तर भौतिक जगत की कोई इच्छा आकांक्षा या कामना शेष नहीं रह जाती। सच्चा रहस्यवादी कवि गुंजन' के कवि की भांति घर बसाने के लिए भावी-पत्नी की प्रतीक्षा में नहीं बैठता अपितु कबीर की भांति उसकी आत्मा स्वयं ही किसी अलौकिक की दुल्हनियाँ बनकर नाच उठती है झूम उठती है।

शायद कहा जाय कि इनकी लौकिक वासना का उन्नयन आगे चलकर आध्यात्मिक प्रेम में हो गया किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। कामायनी और प्रसाद तक में रहस्यवाद की गाढ़ अनुभूति नहीं मिलती है। यही कारण है कि कामायनी' के अंतिम सर्ग जिसमें हृदय-स्थान का चित्रण है, शुष्क नीरस एवं अनुभूति शून्य है। जीवन के अन्तिम दिनों

म प्रसाद' म जब आत्म-कथा लिखने के लिए कहा गया था तो उन्होंने उत्तर म कहा था—

यह विडम्बना! अरी सरलते,
तेरी हँसी उड़ाऊँ मै!
भूलें अपनी, या प्रवचना
औरो को दिखलाऊँ मैं।
× × ×
मिला कहा वह सुख जिसका
मैं स्वप्न देखकर जाग गया!
आलिंगन म आते आते
मुस्काकर जो भाग गया!
× × ×
उसकी स्मृति पाथेय बनी है
थके पथिक की पथा की!

—(लहर)

कोई भी रहस्यवादी कवि अपने दिव्य प्रेम' को अपनी भूल बनाकर या आगम्य का लाल' का प्रवचना' कहकर अपमानित नहीं करता। रहस्यवादी के जीवन म पहले वियोग आता है और फिर सयोग—किन्तु यहाँ विपरीत बात है रहस्य-पथ का पथिक ज्यो-ज्यो आगे बढता है उसका उत्साह बढता जाता है वह अपने आपको थका हुआ पथिक' अनुभव नहीं करता। वस्तुत इन कवियो के आलिंगन म आते-आते मुस्काकर भाग जानेवाला' कोई इस धरती का ही जीव है।

हाँ रहस्य-साधना के क्षेत्र म महादेवी अवश्य दृढतापूर्वक मग्न हैं। रहस्यवाद के कई स्तर होते है—प्रथम अलौकिक सत्ता के प्रति आकर्षण द्वितीय उसके प्रति दृढानुराग, तृतीय विरहानुभूति और चतुर्थ मिलन का आनन्द। उन्होंने अपने हृदय की बात पूर्णत स्पष्टतर नहीं सुनाई है अत उनके सम्बन्ध म कुछ कहना तो अपराध होगा, किन्तु इतना अवश्य कह सकते है कि अभी वे रहस्यवाद के प्रथम स्तर से आगे नहीं बढी हैं। कबीर और दादू की-सी तीक्ष्ण विरहानुभूतियाँ उन्हे अभी तक प्राप्त नहीं हुई इसीलिए वे विरह के एक क्षण के लिए तपित है। प्रेम जितना गहरा होगा विरह उतना ही अधिक वेदनापूर्ण और दुसह्य प्रतीत होगा। महादेवी को तो अभी विरह और मिलन का ही अन्तर ज्ञात नहीं है—

विरह का युग आज दीखा
मिलन के लघु पल सरीखा
दुख सुख म कौन तीखा
मैं न जानी औ न सीखा॥

(आधुनिक कवि पृ० ६८)

ध्यान रहे विरह की घडियो म कबीर जैसे अक्खड साधक का हृदय भी हाहाकार

दर उठा था उनर गाम गम । बाना पर पड़। ।। लिग गाग रगा ना जा ग उन्होने मत्यु का आ गाया पा ना श्रदमर गमना ग— ना निलन। का मो। ॰ ना आना ग्गि ाय। जाठ पग्र या गाती मा प नया न जाय'—आ आनय है कि मरा दी म एगा रठाग्ना रा ग जा गा कि विा म ानिा ॥ा तु ा अनमव नहा रगा। महादवी क श्रद्धा नरा नर ना । ह कि नारा। र ााग पगग पा आ ा अधिक गहनाना हाती है महा पा नारा ने ार्मिक रचार पग्य ध—कि तु उ, दा न मूल जाना चाहिए कि नारा एक रवयित्री पग्र ना गा गुरा है जा अपा ति र प्रम म राग्यो म पीछ नहा थी और जिगन रहा था—

> हरो न प्रम दिवाणी!
> मरो दरद न जाण काय!!
> × × ×
> घायल की गति घायर जाण।
> जे दिण घायल हाय!!

वस्तुत मीरा रा रना टार ध—जा घाय ना दगी घायल र ा रा समझ सकता है किन्तु कवल घायलपन रा अभिनय करनवाल पात्रा क लिए दद और दद का न होना—दाना एक जस ह।

(ख) विचार-गत प्रवत्तियाँ—छायावाद की विचारगत प्रवृत्तियाँ सामायत य ह—(१) दशन क क्षत्र म अद्वतवाद व सर्वात्मवाद (२) धम क क्षत्र म रूढ़िया एव बाह्याचारो से मुक्त यापक मानव हितवाद (३) समाज क क्षत्र म समावयवाद (४) राजनीति के क्षेत्र म अतराष्ट्रीय एव विश्व शाति का समथन (५) गाहस्थ पारिवारिक एव दाम्पत्य जीवन क क्षेत्र म हृदयवाद या प्रमपूण व्यवहार (६) साहित्य क क्षत्र म व्यापक कलावाद या सौदयवाद। इस प्रकार हम दखत है कि छायावादी कविया ने प्रत्येक क्षेत्र म आदश व्यापक एव सूक्ष्म दृष्टिकोण को अपनाया ह। व जीवन के स्थूल उपकरणो की अपेक्षा सूक्ष्म गणो को अधिक महत्व दत ह। प्रसाद की 'कामायनी', पन्त के 'गुजन' और निराला क 'परिमल' क कुछ स्थलो म उनका विचार-पक्ष व्यक्त हुआ है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(१) अद्वतवाद—

> तुम तुग हिमालय शृग,
> और मै चचल-गति सुर सरिता।
> तुम विमल हृदय उच्छवास,
> और मै कात कामिनी कविता॥

—निराला

(२) व्यापक मानवतावाद—

> औरो को हसते दखो मनु,
> हसो और सुख पाओ।

अपने सुख को विस्तृत कर लो,
सब को सुखी बनाओ।

—प्रसाद

(३) समन्वयवाद—

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है,
इच्छा पूरी क्यों हो मन की!
दोनों मिल एक न हो सके,
यही विडम्बना है जीवन की।।

—प्रसाद

(४) प्रेम और सहानुभूति का संदेश—

रूप रे मधुर मधुर मन!
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल!
× × ×
तेरी मधुर मुक्ति ही बंधन
गंधहीन तू गंधयुक्त बन!

—पन्त

छायावादी कवियों ने विचारों की अभिव्यक्ति शुष्क ढंग से की है। उस अभिव्यक्ति के पीछे अनुभूति की गहरी तरलता नहीं मिलती जिससे वे पाठक के हृदय को कम प्रभावित कर पाते हैं। कविता में विचार भावों में घुले मिले हुए होने चाहिए, किन्तु छायावादी कवियों में अलग-अलग बिखरे से पड़े हैं। कहीं-कहीं अतिविचारात्मकता के कारण छायावाद में शुष्कता, जटिलता एवं अस्पष्टता भी आ गई है।

(ग) शैलीगत प्रवृत्तियाँ—छायावादी शैली की प्रमुख विशेषताएं ये हैं—(१) मुक्तक गीति शैली, (२) प्रतीकात्मकता (३) प्राचीन एवं नवीन अलंकारों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग जैसे मानवीकरण विरोधाभास विशेषण विपर्यय आदि (४) कोमल-कान्त, संस्कृतमय शब्दावली। गीति शैली के सभी प्रमुख तत्त्व—वैयक्तिकता भावात्मकता संगीतात्मकता, संक्षिप्तता कोमलता आदि—इनके काव्य में उपलब्ध होते हैं। प्रतीकों के द्वारा इन्होंने अपनी अभिव्यक्ति की मार्मिकता में अभिवृद्धि की है जैसे—यह पतझड़ मधुवन भी हो शूलों का दंशन भी हो कलियों का चुम्बन भी हो। यहाँ पतझड़ मधुवन शूल कलियाँ आदि जीवन के विभिन्न रूपों या अवस्थाओं के प्रतीक हैं। मूर्त को अमूर्त रूप में तथा अमूर्त को मूर्त रूप में चित्रित करने के लिए अनेक नवीन उपमानों का प्रयोग किया गया है। इनकी शैली के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

मूर्त के लिए अमूर्त उपमान— बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल।'
अमूर्त के लिए मूर्त उपमान— कांति किरण सी नाच रही है।
विशेषण विपर्यय— तुम्हारी आँखों का बचपन,
खेलता जब अल्हड़ खेल।
विरोधाभास— 'शीतल ज्वाला से जलता हूँ।'

रूपातिशयोक्ति— बाँधा था विधु को किसने,
इन काली जंजीरों से।
कामरूपान्त पत्रावली— मधु मद-मद मथर-मथर।
लघु तरिगी हंसिनी सी सुन्दर
तिर रही खोल पालो के पर।

वस्तुत छायावादी कवियों के कारण हिन्दी की अभिव्यजना शक्ति में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। छायावादी शैली की चित्रात्मकता लाक्षणिकता एव व्यग्यात्मकता की प्रशंसा आचार्य शुक्ल जैसे विरोधी आलोचकों ने भी की है।

छायावादी काव्य में कुछ शैली-गत दोष भी मिलते हैं जैसे अशुद्ध प्रयोग अस्पष्टता कल्पना की क्लिष्टता उपमानों का अस्वाभाविक प्रयोग आदि। इससे रसानुभूति में बाधा उपस्थित हो जाती है तथा जन-साधारण इस काव्य के आस्वादन से वचित रहता है।

उपसहार

कहते हैं कि अब छायावाद का पतन हो गया। बडे बडे आलोचकों ने इसकी घोषणा गम्भीर पुस्तकें लिखकर की है। प्रसाद की मृत्यु के पश्चात ऐसा कोई दृढ व्यक्ति छायावाद के पास नहीं रह गया जो इसके नेतृत्व को सँभाल सकता। निराला भी विक्षिप्त हो गए और पत ने धर्म-परिवर्तन—या कहिए वाद-परिवर्तन—कर लिया। महादेवी जैसी अबला सिवा करुण गीतियाँ लिखने के और कर ही क्या सकती थी। वे भी औरों के स्वर में स्वर मिलाकर कहने लग गई— छायावाद ने कोई रूढिगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का सचय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौंदर्य सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया। दूसरी ओर पतजी की मान्यता है— छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाशन नवीन भावना का सौंदर्य बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था । आश्चर्य है कि छायावाद के व्यापक आदर्शवाद मानवतावाद एव कलावाद बीस वर्ष की छोटी सी अवधि में ही पुराने और फीके पड गए। क्या आज मनुष्य स्थूल भौतिकता, वैज्ञानिकता और तार्किकता के तीक्ष्ण बाणों से विद्ध नहीं है? क्या प्रतिस्पर्धा घृणा और हिंसा के बादल अब छिन्न भिन्न हो गए है? विश्व शांति का स्वप्न पूरा हो गया है? यदि नहीं तो फिर कैसे कह सकते हैं कि छायावादी आदर्श भविष्य के लिए उपयोगी नहीं थे, नवीन नहीं थे?

हमारा तो यह विश्वास है कि सौंदर्य और प्रेम की जिस अक्षय निधि को लेकर छायावाद चला था वह किसी एक युग एक देश या एक वाद की सम्पत्ति नहीं है। कालिदास से लेकर शेक्सपीयर तक सभी महान् कलाकारों ने इसी अमर सम्पदा के सचयन में अपनी प्रतिभा का प्रतिफलन किया है। आज कालिदास या शेक्सपियर नहीं है तो

इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनकी दी हुई यह संपदा भी महत्वहीन हो गई। व्यापक-मानवता का आदर्श किसी भी युग और किसी भी देश में फीका नहीं पड सकता। गौतम बुद्ध ईसा मसीह कबीर, नानक, रवीन्द्र, भारतेन्दु और गांधी ने विश्व प्रेम की जो ज्योति समय-समय पर जलाई है उसका प्रकाश मानवता के किसी भी स्तर पर मंद अनावश्यक एवं अनुपयोगी नहीं हो सकता।

भले ही छायावादी इस धरती पर न रमे हो, किन्तु व्यापक आदर्शों एवं सूक्ष्म सौन्दर्य को लेकर चलनेवाला छायावाद अब भी अमर है, अमर है!! हाँ कामायनी-कार के शब्दों में हम आज के भूले भटके छायावादियों से इतना अवश्य कहेंगे—

"हार बैठे जीवन का दाँव,
जीतते जिसको मर कर वीर।"

२३ | हिन्दी काव्य मे प्रगतिवाद · स्वरूप-विकास

१ प्रगति का अर्थ।
२ प्रगतिशील और प्रगतिवाद का अन्तर।
३ मार्क्सवाद के प्रमुख सिद्धान्त (क) द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद, (ख) मूल्यवृद्धि का सिद्धान्त, (ग) विश्व सभ्यता के विकास की व्याख्या।
४ प्रगतिवादी साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ।
५ भारतीय साहित्य में प्रगतिशीलता।
६ हिन्दी का प्रगतिवादी साहित्य।
७ न्यूनताएँ।
८ उपसंहार।

प्रगति शब्द का अर्थ है—चलना आगे बढ़ना अत प्रगतिवाद का शाब्दिक अर्थ हुआ—वह वाद जो आगे बढ़ने म विश्वास रखता है। इस दृष्टि से इसका अर्थ बहुत व्यापक है किन्तु आधुनिक हिन्दी म इसका प्रयोग एक विशेष विचार धारा क लिए ही रूढ हो गया है। यह विशेष विचारधारा है—मार्क्सवादी या साम्यवादी दृष्टिकोण के अनुकूल साहित्यक विचारधारा। दूसरे शब्दो म इस प्रकार कहा जा सकता है कि साम्यवादी विचारो का प्रचार करनेवाला या साम्यवादी लक्ष्य की पूर्ति म योग देनेवाला साहित्य ही प्रगतिवादी साहित्य कहलाता है। ध्यान रहे प्रगतिवाद से एक मिलता-जुलता शब्द— प्रगतिशील —भी हिन्दी म प्रचलित है किन्तु दानो के अर्थ म सूक्ष्म अन्तर है। जहाँ प्रगतिवाद सवथा मार्क्सवाद से बधा हुआ है वहाँ 'प्रगतिशील उससे स्वतत्र है। समाज की प्रगति के कई माग हो सकते है। प्रगतिवादी केवल साम्यवादी माग को ही अपनाने के लिए विवश है जब कि प्रगतिशील किसी भी वाद विशेष स आबद्ध नही होता।

जसा कि ऊपर कहा गया है प्रगतिवादी विचारधारा का मूलाधार मार्क्सवाद या साम्यवाद है अत इसका भी थोडा परिचय यहाँ दे देना आवश्यक है। इस वाद के प्रवर्तक *कार्ल-मार्क्स (१८१८-१८८३ ई०) थे। मार्क्सवादी विचारधारा को मुख्यत तीन शीर्षको* म विभाजित कर सकते हैं—(१) द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद (२) मूल्य-वृद्धि का सिद्धान्त और (३) मानव-सभ्यता के विकास की व्याख्या। इनम से हम प्रत्यक को अलग-अलग ले सकते हैं—

(क) द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद—प्राय सभी धर्मों क आचाय यह स्वीकार करते हैं कि सृष्टि की उत्पत्ति किसी अलौकिक या आध्यात्मिक सत्ता के द्वारा हुई,

जिसे ईश्वर के नाम से पुकारा जाता है, किन्तु कार्ल मार्क्स की मान्यता के अनुसार संसार की उत्पत्ति नहीं हुई, अपितु उसका धीरे धीरे विकास हुआ। मार्क्स से पूर्व डारविन विकासवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन सम्यक रूप से कर चुके थे।

यह विकास किसके द्वारा हुआ ? क्या किसी आध्यात्मिक शक्ति ने इस विकास में योग दिया ? इसके उत्तर में मार्क्सवाद का उत्तर है—आध्यात्मिक शक्ति से नहीं अपितु भौतिक जगत ही इस विकास का कारण है। मार्क्सवाद आत्मा परमात्मा, स्वर्ग नरक तथा मृत्यु के बाद के जीवन आदि का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता। मानव हृदय या दूसरे प्राणियों में हम जिस चेतना का अनुभव करते हैं वह हमारे स्थूल तत्वों पर ही आधारित है उसका कोई अलौकिक या आध्यात्मिक रूप नहीं है।

भौतिक विकासवाद को परिचालित करने वाली प्रवृत्ति का नाम—द्वन्द्वात्मक है। द्वन्द्वात्मक का अर्थ है संघर्ष से ही विकास होता है। दो विरोधी शक्तियों के संघर्ष से तीसरी शक्ति या वस्तु विकसित होती है, आगे चलकर तीसरी को चौथी वस्तु से संघर्ष करना पड़ता है और उससे पाँचवीं का उद्‌भव या विकास होता है। इसी क्रम से भौतिक जगत में नई वस्तुओं, नये-नये रूपों, नई-नई शक्तियों और सत्ताओं का विकास होता रहता है। ध्यान रहे प्रत्येक नई विकसित वस्तु को मार्क्स ने प्रथम दो से अधिक उच्चतर श्रेष्ठतर माना है। इस प्रकार द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद का अर्थ हुआ दो शक्तियों के पारस्परिक द्वन्द्व से भौतिक जगत का विकास होता है या यों कहिए कि दो भौतिक शक्तियों के द्वन्द्व से ही सृष्टि का विकास होता है।

(ख) **मूल्य-वृद्धि का सिद्धान्त**—किसी भी वस्तु का मूल्य किस प्रकार बढ़ जाता है, इसकी व्याख्या करते हुए कार्ल मार्क्स ने उत्पत्ति के चार अंग निर्धारित किए—(१) मूल पदार्थ (२) स्थूल साधन (३) श्रमिक का श्रम और (४) मूल्य वृद्धि। उदाहरण के लिए पाँच रुपए की कपास को जब कात बुनकर कपड़े के थान में परिवर्तित कर लिया जाता है तो उसी थान का मूल्य पच्चीस रुपये से भी अधिक हो जाता है। अस्तु, यहाँ बीस रुपए की मूल्य-वृद्धि हुई। यदि स्थूल साधन अर्थात कपड़े बुनने के यन्त्रादि की घिसाई की कीमत के लिए लगभग एक रुपया और कम कर दें तो वास्तविक लाभ १९ रु० हुआ। यह सारा लाभ श्रमिक के श्रम पर निर्भर है। अतः श्रमिक को ही मिलना चाहिए किन्तु पूँजीवादी युग में मिल मालिक ही इसका अधिकांश हड़प कर लेता है। इससे समाज में दो वर्गों का विकास हुआ—एक जो श्रमिक है दूसरे जो श्रमिकों के श्रम का अनुचित लाभ उठाते हैं। मार्क्सवादी शब्दावली में किसान मजदूर (श्रमिक) 'शोषित' हैं और मालिक जागीरदार पूँजीपति आदि शोषक हैं।

(ग) **विश्व सभ्यता के विकास की नई व्याख्या**—विभिन्न देशों एवं जातियों के विकास का इतिहास लिखनेवाले लेखकों ने प्रायः मानव जाति को राष्ट्र वर्ग या जाति के आधार पर वर्गीकृत किया है किन्तु मार्क्स दुनिया के सब मनुष्यों को—चाहे वे किसी भी देश या जाति से सम्बन्धित हों—दो जातियों या वर्ग मानते हैं—(१) शोषक वर्ग और (२) शोषित वर्ग। मानव सभ्यता का समस्त इतिहास इन दो वर्गों के संघर्ष की ही कहानी है। इस कहानी को भी चार युगों में बाँटा जा सकता है—पहला युग दास प्रथा

का युग था जबकि श्रमिक के व्यक्तित्व उसके श्रम उत्पत्ति के साधनों एव उत्पादन—इन चारों पर मालिक (शोषक) का अधिकार था। आगे चलकर दूसरा युग सामन्ता प्रथा का आया जिसमे मजदूर के व्यक्तित्व को तो स्वतन्त्रता मिल गई किन्तु शेष तीनों बातो पर सामन्त (शोषक) का ही अधिकार रहा है। जहा दास प्रथा के युग मे श्रमिक को वैयक्तिक मामलों मे कोई स्वतन्त्रता नही थी जबकि सामन्तवादी युग मे उसे यह प्राप्त हो गई अत नई व्यवस्था पहली व्यवस्था से अच्छी थी। तीसरा युग पूजीवादी व्यवस्था का आया जिसमे मजदूर के व्यक्तित्व एव उसके श्रम पर मजदूर का अधिकार हो गया किन्तु शेष दो पर पूजीपति का अधिकार रहा। अर्थात सामन्तवादी युग की भाति पूजीवादी युग मे कोई किसी से बलात श्रम नही करवा सकता। मजदूर अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहे अपने श्रम को बेच सकता है। अत दूसरी व्यवस्था से तीसरी व्यवस्था अच्छी है। किन्तु फिर भी मजदूरो को उत्पादन का पूरा लाभ तभी मिल सकता है जबकि उत्पादन के साधनो पर उनका अधिकार हो। यह व्यवस्था एक ऐसे समाज मे ही सभव है जहाँ मजदूरो की ही सत्ता हो। अस्तु, कार्ल मार्क्स का लक्ष्य उस चौथी व्यवस्था—साम्यवादी व्यवस्था—को स्थापित करना था जिसमे मजदूरो की प्रतिनिधि सरकार द्वारा उत्पादन के समस्त साधनो पर नियन्त्रण हो तथा प्रत्येक व्यक्ति को उसके परिश्रम के अनुरूप फल मिले।

इस प्रकार मार्क्सवाद का लक्ष्य समाज मे साम्यवादी व्यवस्था स्थापित करना है। इस लक्ष्य की पूर्ति के निमित्त वह हिंसात्मक क्रान्ति का भी समर्थन करता है। मार्क्सवादी या प्रगतिवादी साहित्य का लक्ष्य भी साम्यवादी विचार धारा का प्रचार करना तथा शोषित वर्ग को क्रान्ति के लिए, शोषक वर्ग के विरुद्ध उत्तेजित करना है।

प्रगतिवादी साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ

अस्तु, दर्शन मे जो द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद है राजनीति मे जो साम्यवाद है वही साहित्य मे प्रगतिवाद है। प्रगतिवादी साहित्य का प्रचार सर्वप्रथम यूरोप के विभिन्न प्रदेशो मे हुआ तदनन्तर एशिया के कुछ भागो मे। प्रगतिवाद का सम्बन्ध केवल हिन्दी से नही विश्व की विभिन्न भाषाओ मे है अत हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य पर विचार करने से पूर्व विभिन्न भाषाओ के प्रगतिवादी साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियो पर विचार कर लेना उचित होगा। प्रगतिवादी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ निम्नांकित हैं—

(क) धर्म, ईश्वर एव परलोक का विरोध—समाज मे वर्ग चेतना उत्पन्न करने तथा नास्तिकता का प्रचार करने के लिए तैयार करने के लिए सर्वप्रथम ईश्वर धर्म परलोक एव भाग्य सम्बन्धी विचारो का उन्मूलन करना आवश्यक है। जब तक [illegible] मजदूर [illegible] धर्म-भगवान परलोक मे विश्वास रखनेवाला तथा भाग्यवादी [illegible] यह [illegible] के लिए तैयार नही [illegible]। [illegible] वर्ग [illegible] [illegible] के [illegible] पर [illegible] अत्याचार करता है। [illegible] [illegible] [illegible] करता है।

(ख) पूंजीपति वर्ग के प्रति घृणा का प्रचार—पूंजीपति वर्ग के प्रति घृणा उत्पन्न करने के लिए प्रगतिवादी कलाकार उसके घृणित रूप का चित्रण करता है। प्रायः सभी प्रगतिवादी रचनाओं में एक पूंजीपति को घोर स्वार्थी कपटी क्रूर एवं निर्दय के रूप में चित्रित किया जाता है।

(ग) निर्धन वर्ग के जीवन की दीनता एवं कटुता का चित्रण—पूंजीपतियों के प्रति घृणा उत्पन्न करने के साथ साथ प्रगतिवादी साहित्यकार किसान-मजदूरों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने के निमित्त उनकी दयनीय दशा का चित्रण करता हुआ दोनों वर्गों के जीवन की विषमता का उद्घाटन करता है।

(घ) नारी के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण—प्रगतिवादी कलाकार नारी को उपन्यास की कल्पना की आंखों से नहीं देखता, न तो वह उसके सौन्दर्य को स्वर्ग का जादू समझता है और न ही उसकी पूजा करना आवश्यक मानता है। वस्तुतः उसके लिए नारी केवल नारी है, जो पुरुष की ही भांति स्थूल सृष्टि का एक अंग है। वह उसके सूक्ष्म गुणों की अपेक्षा उसके स्थूल शरीर को अधिक महत्त्व प्रदान करता है। वह महलों में सुरक्षित राजकुमारियों की अपेक्षा खेत-खलिहानों में कार्य करनेवाली स्वस्थ कृषक बालाओं एवं मजदूरनियों के चित्रण में प्रवृत्त होता है। यथार्थवाद के नाम पर कहीं कहीं इन कवियों ने पुरुष और नारी सम्बन्धी गोपनीय व्यापारों को भी नग्न रूप में प्रस्तुत कर दिया है।

(ङ) सरल शैली—प्रगतिवादी साहित्य का लक्ष्य उच्च वर्ग के सुशिक्षित पाठक नहीं हैं अपितु वह जन-साधारण के लिए काव्य की रचना करता है अतः उसमें जन भाषा एवं सरल शैली का प्रयोग होना स्वाभाविक है। साहित्य की प्राचीन रूढ़ियों—छंद अलंकारों आदि—का भी प्रगतिवाद में निर्वाह नहीं किया जाता।

भारतीय साहित्य में प्रगतिशीलता

प्रगतिवादी साहित्य के सकुचित रूप का आविर्भाव कार्ल मार्क्स के पश्चात् १९वीं-२०वीं शती में हुआ किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि इससे पूर्व साहित्य में प्रगतिशीलता के तत्त्व थे ही नहीं। अन्य देशों के साहित्य के बारे में तो हम अधिक नहीं जानते किन्तु जहां तक भारतीय साहित्य का सम्बन्ध है हम उसमें प्रगतिशीलता के पर्याप्त तत्त्व मिलते हैं। यदि प्रगतिशीलता का अर्थ समाज के निम्न उपेक्षित वर्ग के प्रति सहानुभूति दिखाना है तो सम्भवतः संस्कृत में मिट्टी की गाडी का रचयिता नाटककार शूद्रक भारत का पहला प्रगतिशील साहित्यकार है। उसने अपने मृच्छकटिक (मिट्टी की गाडी) में तत्कालीन आदर्शों के विरुद्ध उच्चकुलीन नायक-नायिका के स्थान पर चारुदत्त नामक मध्यम वर्ग के व्यक्ति को नायक के पद पर प्रतिष्ठित करते हुए दिखाया है कि राजाओं, श्रावाबाओं एवं अन्य उच्चवर्गों के लोगों की अपेक्षा मानवता की दृष्टि में निम्न वर्ग के लोग कहीं अधिक महान् हैं। क्या एक चोर जो किसी प्रकार धनी वर्ग का थोड़ा-सा पैसा चुरा लेने में समर्थ होता है सचमुच घृणा का पात्र है? क्या समाज की परिस्थितियाँ ही उसे चोरी करने के लिए बाध्य नहीं करतीं? क्या अपने रूप-यौवन के मद में विभोर रहनेवाले धनिक पुत्रों एवं सत्ता के गर्वोन्माद से प्रस्त

अपेक्षा वह गरीब चारुदत्त अधिक महान् नहीं है, जो ऋण भार से दबा हुआ होने पर भी अन्य लोगों की सहायता करता है? आदि प्रश्नों का उत्तर शूद्रक ने प्रगतिशील दृष्टिकोण से दिया है। खेद है कि संस्कृत-नाटक साहित्य में शूद्रक की परम्परा का विकास अधिक नहीं हो सका।

भारतीय साहित्य में यथार्थवादी या प्रगतिशील काव्य की सुदृढ़ परम्परा का प्रवर्तन हाल की गाथा सप्तशती से हुआ। इस ग्रन्थ में उच्च वर्ग के भोग विलास के स्थान पर श्रमिक लोगों के जीवन की अनुभूतियों का प्रकाशन स्वाभाविक शैली में हुआ है। आगे चलकर अमरुक शतक भर्तृहरि के शृंगार शतक गोवर्द्धनाचार्य की आर्या-सप्तशती में भी इसी परम्परा का विकास हुआ। अमरुक ने तो अपने शतक में एक एक स्थूल भौतिकवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया है जो सम्भवतः आधुनिक आलोचक को आश्चर्यान्वित कर दे। अमरुक धरती के सौन्दर्य पर ऐसे मुग्ध हैं कि उन्होंने देवताओं को मूढ़ घोषित कर दिया। भला धरती पर सुन्दरियों के अधरामृत के होते हुए भी समुद्र मथन की क्या आवश्यकता थी? अपभ्रंश के सिद्ध साहित्य में भी प्रगतिशीलता दृष्टिगोचर होती है यद्यपि उसमें विलासिता का रंग अधिक है।

प्राचीन रूढ़ियों एवं उच्च वर्ग के विरोध की दृष्टि से हिन्दी का समस्त सन्त साहित्य प्रगतिशीलता से ओत प्रोत है। क्या भाव क्या विचार एवं क्या भाषा—सभी दृष्टिकोणों से कबीर ने साहित्य में जो मौलिकता प्रस्तुत की है वह प्रगतिशीलता का ही दूसरा रूप है। संस्कृत के विद्वानों की नगरी में रहकर भी संस्कृत कूप जल है भाषा बहता नीर की घोषणा करनेवाले कबीर की प्रगतिशीलता स्पष्ट है। कुछ विद्वान् तुलसी को भी प्रगतिशील मानते हैं। किन्तु हमारे विचार से उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी अधिक था यथार्थवादी कम वे प्राचीनता के समर्थक अधिक थे नवीनता के कम वे क्रान्ति की अपेक्षा समन्वय को ऊँच-नीच की समानता की अपेक्षा विषमता को अधिक पसन्द करते थे करुण रस की दो चार पंक्तियों के आधार पर ही उन्हें प्रगतिशील सिद्ध करना कठिन है। तुलसी की महानता आदर्शवादी के रूप में ही अधिक है और यदि वे यथार्थवादी प्रगतिशील भी सिद्ध होते हों तो भी उनकी इस महानता में विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा।

रीतिकालीन कवियों में बिहारी ने सर्वाधिक यथार्थवादिता का परिचय दिया है। उन्होंने घर मन्दिर हाट खेत-खलिहानों में मिलनेवाले कुत्सित रूपों का उद्घाटन निःसंकोच रूप में किया है। किन्तु केवल यथार्थवादी दृष्टिकोण से ही कोई पूर्ण प्रगतिशील नहीं कहा जा सकता। सच्ची प्रगतिशीलता का पूर्ण विकास हिन्दी साहित्य में सर्व प्रथम भारतेन्दु-युगीन साहित्य में ही उपलब्ध होता है। धर्म समाज राजनीति साहित्य एवं भाषा—सभी क्षेत्रों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र व उनके अनुयायी पूरे प्रगतिशील थे। उन्होंने सरलतम भाषा में प्राचीन रूढ़ियों एवं मान्यताओं का खण्डन व्यंग्यात्मक शैली में किया तथा साथ ही ब्रिटिश साम्राज्य की दूषित प्रवृत्तियों पर भी तीखा प्रहार किया।

किसानों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने व सुधारात्मक प्रवृत्तियों की दृष्टि से द्विवेदी युगीन साहित्य में भी प्रगतिशीलता के कुछ तत्व स्वीकार किये जा सकते हैं। छायावादी युग में कविता वैयक्तिक प्रवृत्तियों से बहुत अधिक आच्छन्न हो गई किन्तु

सा युग म उपन्यास क क्षेत्र म प्रेमचन्दजी के द्वारा सच्ची प्रगतिशीलता का निरूपण हुआ। आग चलकर ता प्रगतिवाद युग का प्रमुख प्रवत्ति क रूप म ही प्रस्फुटित हो गया।

हिंदी का प्रगतिवादी साहित्य

ऊपर हमन प्रगतिवाद साहित्य पर मक्षतात्मक ढग म प्रकाश डाला है। विशुद्ध 'प्रगतिवादी' चनना का प्रस्फुटन हिन्दी म मन १९३६ इ० के लगभग हुआ। इसी वष लख नऊ म प्रगतिवादी लेखक सघ की स्थापना हुइ जिसके प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता भी प्रेमचन्दजी न की। कविता कहानी उपन्यास नाटक और आलोचना आदि सभी क्षत्रा म प्रगतिवादी साहित्य की प्रवत्तियो का विकास होन लगा। अनक प्रमुख छायावादी कवि—पत निराला, नरेन्द्र आदि प्रगतिवादी बन गए। पतजी न अपनी नवीन रचनाओ म धरती के निम्न एव उपेक्षित वग का चित्रण निरलकृत शली म किया। जो कवि छायावादी युग म कल्पना क पखो पर सवार होकर आध्यात्मिक लोक म विचरण करत थे व ही अब दूसरो का अपनी दृष्टि धरती तक ही सीमित रखन की शिक्षा देन लग—

> ताक रहे गगन?
> मृत्यु नीलिमा गहन गगन? निस्पन्द शून्य, निजन, निस्स्वन?
> देखो भू को, स्वर्गिक भू को, मानव पुण्य प्रसू को!

दूसरी ओर निराला न जन-साधारण के दुख-सुख का चित्रण अपनी रचनाओ म किया। उनका 'भिखारी' कविता म इसी प्रवत्ति का पता चलता है। फिर भी निराला प्रगतिशील ही रहे मार्क्सवाद क पिछलग्गू व नही बन। दिनकर नरेन्द्र शर्मा भगवती-चरण वमा अचल नवीन सुमन गिरिजाकुमार माथुर चन्द्रकिरण सौनरिक्सा आदि कविया न मार्क्सवादी दष्टिकोण को अपनात हुए काव्य रचना की। विषमता का चित्रण करत हुए दिनकर न सशक्त भाषा म लिखा—

> श्वानो को मिलता दूध वस्त्र, बच्चे भूखे तडपाते हैं।
> मा की हड्डी से ठिठुर चिपक, जाडो की रात बिताते हैं॥
> युवती की लज्जा बसन बेंच, जब ब्याज चुकाये जाते हैं।
> मिल मालिक तेल फुलेलो पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं॥

कुछ अन्य प्रगतिवादी कविया की भी कुछ पक्तियाँ नमूने के रूप म दखी जा सकती हैं

> बर्लिन अब नजदीक है
> फासिस्तो को काल रात्रि मे घोर घटा घिर आई।
> चली लाल सेना ज्यो चलती सावन मे पुरवाई॥
>
> —शिवमगलसिह सुमन

> इन खलिहानो मे गूज रही किन अपमानो की लाचारी।
> हिलती हड्डी के ढाचो ने पिटती देखी घर की नारी॥

का भी मिश्रण हो। पतजी जस कवि मार्क्सवाद की ~म एकागिता से ही ऊबकर लाट आय। तासरे जा लक्ष्य मार्क्सवादी विचारा का है—समाजवादी व्यवस्था स्थापित करना—उसी लक्ष्य की आर काग्रस सरकार भी धीरे धारे आग बढ़ रही है अत ऐसी स्थिति म भारत म मार्क्सवाद का प्रभाव न्यून हो जाना स्वाभाविक था। चौथे हमार कवि व साहित्यकार प्रगतिवादी विचारधारा को पूरी तरह पचा नहा पाए व उस अपनी बद्धि का ही विषय बना सक हृदय की वस्तु नही बना पाय फल्त उनकी रचनाआ म शुष्क विचार मिलत है अनुभूति की तरलता का अभाव है। सच्ची बात तो यह है कि हमार अधिकाश साहित्यकार जा प्रगतिवादी वग के नता मान जात ह स्वय किसी पूजी-पति से कम नहा हैं। पहाडियो क वभवपूण वातावरण म बठकर निश्चिन्तता से मजदूरा के दुख दद के गीत लिखे ता जा सकत ह किन्तु उनम अनुभूति की सजीवता आ जाय यह आवश्यक नही। फलत प्रगतिवादी साहित्य हमारे हृदय का स्पश नहीं करता। पाचव हिदी क अनक प्रगतिवादी कथाकारा का कुछ ऐसा मति भ्रम हो गया है कि व नग्न चित्रण को हा मच्चा मार्क्सवाद समझन लग गए इससे उन लेखको की प्रति ठा को तो ठेस पहुँची ही प्रगतिवाद का भी धक्का लगा। छठे स्वय प्रगतिवादी आलोचका म पारस्परिक मतभेद बढ जान से भी इस क्षेत्र क लखका का पयाप्त उत्साह नहीं मिला। सातवे, शली एव भाषा की दृष्टि स प्रगतिवादी काव्य का स्तर बहुत नीचे गिर गया। इन सब कारणा स प्रगतिवाद हिदी म अधिक नहा जम सका। वस्तुत जसी सच्ची लगन एव सामथ्य किसी नयी प्रवत्ति का स्थायित्व प्रदान करने क लिए अपेक्षित है उसका प्रगतिवादिया म अभाव है।

उपसहार

अस्तु प्रगतिवाद हिन्दी म अधिक फल फूल नहीं सका किन्तु उसकी जडें अब भी हरी हैं। चाहे स्वय प्रगतिवाद ने कोई विशेष महत्वपूण रचना न दी हो किन्तु इसक प्रभाव स प्राय सभी वर्गों के साहित्यकारा क दृष्टिकोण म पर्याप्त विकास हुआ है। नद-दुलारे वाजपेयी जस आलोचका ने भी आलोचना क कइ दृष्टिकोणो म समाजवादी दृष्टिकोण को भी स्थान दकर इसके महत्व का स्वीकार किया है। भल हो हम मार्क्स की विचारधारा स शत प्रतिशत सहमत न हो किन्तु इतना ता सभी स्वीकार करत हैं कि श्रमिक वग का पूरा पारिश्रमिक मिलना हो चाहिए उनकी स्थिति म पूणत सुधार होना ही चाहिए, चाहे मजदूरो की गरीबी अमीरा म न बाटी जाय किन्तु अमीरा की अमीरी तो मजदूरा म बाँटनी ही चाहिए। यदि इस परिस्थिति क निर्माण म श्रमिक वग क अभ्यु त्थान म तथा समाज को सुखी बनाने म प्रगतिवादी साहित्य कुछ भी मदद कर सके ता यह उसकी एक बडी भारी सेवा होगी। हाँ इतना अवश्य है कि जब तक प्रगतिवादी साहित्य विचारा क शुष्क सकरन स बढकर भावनाआ स ओत प्रोत नहीं हो जाता तब तक वह जन-समूह को प्रभावित करन क अपन लक्ष्य म सफल नहीं हो सकता।

२४ हिन्दी काव्य मे प्रयोगवाद · स्वरूप-विकास

१ नामकरण पुनर्विचार
२ विकास क्रम
३ पूर्व परम्परा और प्रेरणा-स्रोत
   (क) प्रतीकवाद (ख) बिम्बवाद (ग) दादावाद
   (घ) अतियथार्थवाद (ङ) अस्तित्ववाद (च) फ्रायडवाद
४ विभिन्न सम्प्रदायों से गृहीत प्रभाव
५ सामान्य प्रवृत्तियाँ
६ उपलब्धियाँ और अभाव

सन् १९४३ ई० मे अज्ञेय के नेतृत्व मे हिन्दी कविता के क्षेत्र मे एक नये आन्दोलन का प्रवर्तन हुआ जिसे अब तक विभिन्न संज्ञाएँ—'प्रयोगवाद' 'प्रपद्यवाद' 'नयी कविता' आदि—प्रदान की गई है। ये इसके विकास की विभिन्न अवस्थाओं एवं दिशाओं को सूचित करती है यथा—प्रारम्भ मे जबकि कवियों का दृष्टिकोण एवं लक्ष्य स्पष्ट नही था नूतनता की खोज के लिए केवल प्रयोग की घोषणा की गयी थी तो इसे 'प्रयोगवाद' कहा गया। इसी आंदोलन की एक शाखा ने स्वर्गीय नलिनविलोचन शर्मा के नेतृत्व मे प्रयोग को अपना साध्य स्वीकार करते हुए अपनी कविताओं के लिए 'प्रपद्यवाद' का प्रयोग किया। दूसरी ओर डा० जगदीश गुप्त एवं लक्ष्मीकान्त वर्मा ने इसे अधिक व्यापक क्षेत्र प्रदान करते हुए 'नयी कविता' नाम का प्रचार किया। सम्प्रति 'नयी कविता' नाम का ही अधिक प्रचलन है किन्तु इसे भी एक अस्थायी नाम ही मानना चाहिए। जिस प्रकार नवविवाहिता को घर मे कुछ समय तक 'नयी बहू' कहा जाता है पर आगे चलकर वह नया बहू भी किसी अन्य को 'नया बहू' कहने लगती है वैसी ही स्थिति 'नयी कविता' की है। पिछले युगो मे खड़ीबोली की कविता तथा छायावादी कविता को भी क्रमशः 'नयी धारा' और 'नयी कविता' कहा जाता रहा है, अतः यह नाम किसी विशिष्टता का सूचक नही है।

हमारे विचार से इस काव्य की दो प्रमुख प्रवृत्तियो—अतिवाद एवं यथार्थवाद—को ध्यान मे रखते हुए इसे 'अतियथार्थक यथार्थवाद' की संज्ञा देना उचित होगा। पर उच्चारण सुविधा की दृष्टि से इसे और भी संक्षिप्त रूप देने के लिए 'अतियथार्थवाद' भी कहा जा सकता है। पुनः पाश्चात्य साहित्य मे भी इस प्रवृत्ति को इसी नाम से—Surrealism (अतियथार्थवाद)—पुकारा गया है अतः इस दृष्टि से इसे 'अतियथार्थवाद' कहा जाय तो सार्थक सिद्ध होगा।

विकास क्रम—इस अतिययाथवादी आन्दोलन का प्रवर्तन सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' द्वारा सपादित 'तार-सप्तक' (१९४३) के प्रकाशन के द्वारा हुआ। आगे चलकर अज्ञेय ने क्रमश 'दूसरा सप्तक' (१९५१) और 'तीसरा सप्तक' (१९५९) भी सपादित एव प्रकाशित किया। इन तीनों सप्तकों में सात-सात कवियों की रचनाएँ सकलित है जिनकी सूची इस प्रकार है—

(क) तार-सप्तक—१ अज्ञेय २ गजानन माधव मुक्तिबोध ३ गिरिजा-कुमार माथुर ४ प्रभाकर माचवे ५ नेमिचन्द्र जैन ६ भारत भूषण ७ रामविलास शर्मा।

(ख) दूसरा सप्तक—१ भवानीप्रसाद मिश्र २ शकुन्तला माथुर ३ हरिनारायण व्यास ४ शमशेर बहादुर सिंह ५ नरेशकुमार मेहता ६ रघुवीरसहाय ७ धर्मवीर भारती।

(ग) तीसरा सप्तक—१ प्रयागनारायण त्रिपाठी २ कीर्ति चौधरी ३ मदन वात्स्यायन ४ केदारनाथ सिंह ५ कुँवरनारायण ६ विजय देव नारायण साही ७ सर्वेश्वरदयाल सक्सेना।

इन सप्तकों में केवल इन्हीं कवियों को क्यों स्थान दिया गया—इसका स्पष्टीकरण करते हुए 'अज्ञेय' ने मुख्यत दो बातें कही हैं 'एक तो उन्होंने ऐसे कवियों को लिया है, जो इतने प्रतिष्ठापित नहीं हुए हैं कि कोई प्रकाशक सहसा उनके अलग-अलग सग्रह निकाल सके। दूसरे उनके एकत्र होने का कारण यही है कि वे किसी स्कूल के नहीं हैं, किसी मजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं। अभी राही हैं।' इनके अतिरिक्त एक तीसरी बात और भी थी, जिसका उल्लेख स्वय अज्ञेय ने नहीं किया। वह यह कि जिन कवियों ने अज्ञेय का पिछलग्गू बनना स्वीकार किया वे ही इसमें स्थान पा सके। जिन्होंने बाद में नेतृत्व अस्वीकार कर दिया उनका नाम आगे चलकर कवियों की सूची में से काट दिया गया। 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में अज्ञेय ने इसी कोटि के कवियों की ओर सकेत करते हुए लिखा है—'कम से कम एक ने तो न केवल एलान करके कविता छोड दी बल्कि क्रमश कविता के ऐसे आलोचक हो गए कि उस साहित्य क्षेत्र से ही सदेह दन पर तुल गये।' यह विचित्र बात है कि पहले 'तार सप्तक' के चुने हुए सात कवियों में से अनेक दूसरे सप्तक' के प्रकाशन से पहले ही कवि से आलोचक बन गये। इसमें एक ओर सप्तक के कवियों के कविपन की अस्थिरता और क्षणभगुरता सिद्ध होती है वहाँ सम्पादक की दृष्टि की अदूरदर्शिता भी प्रमाणित होती है। वस्तुत जिन व्यक्तियों को अज्ञेय ने ही कवि रूप में प्रतिष्ठित किया था वे तभी तक इस पद पर रह सकते थे जब तक कि अज्ञेय के अनुयायी रहते। ज्योंही उन्होंने अज्ञेय का नेतृत्व अस्वीकार किया अज्ञेय ने उन्हें 'अकवि' घोषित कर दिया। अत हमारे विचार से अज्ञेय के उपर्युक्त एलान का वास्तविक अर्थ इस प्रकार लिया जाना चाहिए—'कम से कम एक ने तो एलान करके हमारा नेतृत्व छोड दिया है तथा हमारे ऐसे आलोचक हो गए हैं कि हम साहित्य के क्षेत्र में खण्डन पर ही तुल गए हैं।'

अज्ञेय के प्रयासों से प्रेरित होकर नलिनविलोचन शर्मा तथा जगदीश गुप्त भी

इस क्षेत्र में अवतरित हुए। नलिनविलोचन शर्मा ने अपने दो साथियों—केसरीकुमार और नरेश—को मिलाकर नकेनवाद (तीनों व्यक्तियों के नाम के प्रथम अक्षरों के आधार पर) की स्थापना की, जिसे दूसरा नाम—प्रपद्यवाद भी दिया गया। प्रपद्यवाद के प्रतिनिधि के रूप में केसरीकुमार ने इसके विभिन्न सूत्रों की भी चर्चा की, जिसमें से कुछ ये हैं

(१) प्रपद्यवाद भाव और व्यजना का स्थापत्य है।

(२) प्रपद्यवाद के लिए किसी शास्त्र के द्वारा निर्धारित नियम अनुपयुक्त है।

(३) प्रपद्यवाद पूर्ववर्तियों की महान् परिपाटियों को निष्प्राण मानता है।

(४) प्रपद्यवाद प्रयोग को साधना ही नहीं साध्य मानता है।

(५) प्रपद्यवाद दूसरों के अनुकरण की तरह अपना अनुकरण भी वर्जित मानता है।

वस्तुत नकेनवादियों का यह प्रपद्यवाद अज्ञेय के 'प्रयोगवाद' की स्पर्द्धा में खड़ा किया गया आन्दोलन था जो परपरा का विरोध करने नूतनता की दुहाई देने, तथा प्रयोग पर बल देने की दृष्टि से अज्ञेय से भी आगे था। इसने सिद्ध कर दिया कि असली प्रयोगवाद तो प्रपद्यवाद ही है क्योंकि यह प्रयोग को ही साध्य मानता है केवल साधन नहीं।

सन् १९५४ से डा० जगदीश गुप्त ने 'नयी कविता' शीर्षक के अनेक अर्द्धवार्षिक सकलन प्रकाशित करवाए, जिनमें कई नये कवियों को प्रकाश में लाने के साथ-साथ नयी कविता के विभिन्न पक्षों पर भी विचार-पूर्ण सामग्री प्रस्तुत की। इस प्रकार अब नयी कविता का नेतृत्व केवल अज्ञेय के हाथ में ही नहीं रह गया और भी लोग उनकी प्रतिस्पर्द्धा में खड़े हो गए हैं। अज्ञेय ने अपने प्रतिस्पर्द्धियों का नकलची घोषित करते हुए 'तीसरे सप्तक' की भूमिका में उनकी तीव्र भर्त्सना की है—"पर नकलची हर प्रवृत्ति के रहे हैं और जिसका भडाफोड अपने समय में नहीं हुआ उन्हें पहचानने में फिर समय की लम्बी दूरी अपेक्षित हुई है। पर यह मांग भी करनी है कि उनके अस्तित्व के कारण मूल्यवान् की उपेक्षा न हो असली को नकली न मापा जाय।" इसी प्रकार जो कवि सप्तकों का आश्रय लिये बिना या अज्ञेय की स्वीकृति पाये बिना ही नये कवियों की पंक्ति में जा बैठे हैं उनके सम्बन्ध में भी वे लिखते हैं—"नये कवियों में ऐसों की संख्या कम नहीं है जिन्होंने विषय या वस्तु समर्पण की भूल की है और इस प्रकार स्वयं भी पथभ्रष्ट हुए हैं और पाठकों में नये कवियों के बारे में अनेक भ्रान्तियों के कारण बने हैं।"

अस्तु, नयी कविता का अब तक का इतिहास देखने से कई बातें स्पष्ट होती हैं यथा—(१) इस धारा का प्रवर्तन किसी गम्भीर उद्देश्य को सामने रखकर नहीं अपितु नेतृत्व की भूख को शान्त करने के लिए हुआ था तथा आगे चलकर इस नेतृत्व को लेकर ही इसमें पारस्परिक मतभेद होते रहे। (२) नयी कविता की प्रतिष्ठा पत्रकारिता के स्तर पर हुई है। इसके उन्नायकों ने जानबूझकर ऐसे वक्तव्य दिये जिनसे वे चर्चा (या कुचर्चा) के विषय बने। लोगों के द्वारा की गई चर्चा निन्दा या भर्त्सना को ही उन्होंने अपनी सफलता का आधार माना। उदाहरण के लिए अज्ञेय जहाँ 'दूसरे सप्तक' की भूमिका में लिखते हैं—

'आलोचकों द्वारा उसकी इतनी चर्चा हुई है कि उसे सप्तक के प्रभाव का सूचक मान लेना कदाचित् अनुचित न होगा।'—वहीं जगदीश गुप्त भी स्वीकार करते हैं—'नयी कविता' के प्रथम अंक की काफी गहरी प्रतिक्रिया हुई है। और कुछ नहीं तो कम से कम इन सबके कारण 'नयी कविता' की बहुत सी प्रतिक्रिया व्यक्त हुई।'

हमारे विचार में उत्तेजनात्मक बातें कहकर चर्चा का विषय बन जाना, गुट बंदिया करके पत्र-पत्रिकाओं में यत्र-तत्र प्रकारान्तर से अपनी रचनाओं को छपवाकर बेच डालना तथा पारस्परिक समझौते के आधार पर पारस्परिक मान्यता प्राप्त कर लेना, ये सब प्रयास संगठन शक्ति एवं पत्रकारिता की कुशलता को तो प्रमाणित करते हैं, किन्तु उन्हें साहित्यिक उपलब्धि के रूप में तो उसी अवस्था में स्वीकार किया जा सकता है जब कि वे पाठकों को साहित्यिक आस्वाद प्रदान कर सकें। अपनी रचनाओं की नीरसता को छिपाने के लिए पाठकों को अनुभूतिशून्य घोषित करते हुए उन्हें कविता पढ़ने के लिए अयोग्य घोषित कर देना, 'नाच न जाने आँगन टेढ़ा' वाली कहावत को ही सार्थक करता है।

पूर्व परम्परा और प्रेरणा स्रोत—हिन्दी की यह काव्य धारा यूरोप के अनेक आधुनिक काव्य सम्प्रदायों एवं काव्येतर सिद्धान्तों से प्रेरित एवं प्रभावित है जिनमें प्रतीकवाद, बिम्बवाद, दादावाद, अतियथार्थवाद, अस्तित्ववाद, फ्रायडवाद आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ क्रमशः प्रस्तुत किया जाता है।

(क) प्रतीकवाद—प्रतीकवाद की स्थापना फ्रांस के कुछ तरुण लेखकों एवं कवियों द्वारा १८८५ ई० में फिगारो (Figaro) पत्रिका के माध्यम से हुई। इसके उन्नायकों में बादलेअर (Baudelaire), आर्थर रिम्बा (Arthur Rimbau), वरलेन (Verlaine), मलार्मे (Mallarme), पाल वलेरी (Paul Valery) आदि प्रमुख थे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ में 'प्रतीकवाद' (Symbolism) किसी निश्चित जय का सूचक नहीं था तथा इसके अलग-अलग कवियों में अलग-अलग प्रवृत्तियाँ लक्षित होती थीं। इसीलिए इसके एक नेता वलेरी (Valery) ने प्रतीकवादी आन्दोलन को Intention of several groups of poets कवियों के विभिन्न वर्गों का विचार मात्र माना है तथा ब्रुक्स महोदय ने इसे a bundle of tendencies not all of them very closely related (परस्पर असंबद्ध प्रवृत्तियों की गठरी) मात्र घोषित किया है। प्रतीकवादी आन्दोलन में भाग लेनेवाले प्रत्येक कवि का अपना अपना मत था, फिर भी उन्होंने भाषा की प्रतीकात्मकता के सम्बन्ध में एक संगठित प्रयास किया।

प्रतीकवाद की परिभाषा करते हुए शिप्ले महोदय ने लिखा है कि यह एक संदर्भ के यथार्थ को उसके अनुरूप दूसरे संदर्भ के यथार्थ के रूप में प्रस्तुत करता है। इसे यदि भारतीय काव्य-शास्त्र की शब्दावली के माध्यम से स्पष्ट किया जाय तो कहा जा सकता है कि यह अप्रस्तुत के माध्यम से प्रस्तुत को व्यक्त करने पर बल देता है। यों अभिधा के स्थान पर व्यंजना शक्ति की प्रतिष्ठा को अपना लक्ष्य मानता है। इस दृष्टि से काव्य शैली के क्षेत्र में प्रतीकवाद का लक्ष्य निश्चित ही **प्रशंसनीय था, किन्तु** लक्ष्य तक बहु

कम प्रतीकवादी कवि पहुँच पाए। प्रतीकों का वही प्रयोग कलात्मकता को जन्म दे सकता है जो अर्थ की ग्रहणीयता में साधक सिद्ध होता है तथा उसे अधिक आकर्षण प्रदान करता है, अन्यथा बीजगणित और कविता में कोई अन्तर नहीं रहता। दूसरे, प्रतीक अन्ततः विषय-वस्तु की व्यंजना के माध्यम मात्र हैं, अतः उनकी विषय वस्तु की भी सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती। किन्तु फ्रांस के प्रतीकवादियों ने अपनी व्यक्तिगत कल्पनाओं एवं असामाजिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों का मनमाना अबाध प्रयोग किया जिससे उनका काव्य अस्पष्टता एवं दुरूहता से ग्रसित हो गया। प्रतीकवाद का सिद्धान्त ठीक था किन्तु उसका व्यवहार ठीक क्षेत्र में और ठीक तौर पर नहीं किया गया। अधिकांश प्रतीकवादी आत्मोन्मुखी होकर कल्पना लोक के निर्माण में लग गए। अपनी इसी आत्माभिमुखता, पलायनवृत्ति, असामाजिकता, निराशावादिता, रुग्णता, अस्पष्टता एवं क्लिष्टता के कारण दीर्घकाल तक प्रतीकवादियों को ह्रासोन्मुख (Decadents) विशेषण से विभूषित किया जाता रहा, किन्तु उन्होंने कुख्याति को ही अपनी उपलब्धि मानते हुए इतिहास में अपने लिए स्थान बना लिया।

(ख) बिम्बवाद—प्रतीकवादियों की ही भाँति अंग्रेजी के कुछ कवियों ने बिम्बवादी (Imagists) सम्प्रदाय की स्थापना की। इसके उन्नायकों में टी० ई० ह्यूम (T E Hulme), एजरा पाउण्ड (Ezra Pound), रिचर्ड एल्डिंग्टन (Richard Aldington), एफ० एस० फ्लिन्ट (F S Flint) आदि के नाम प्रमुख हैं। सन् १९०८ में पोएट्स क्लब की स्थापना करते हुए बिम्बवाद के सिद्धान्तों की घोषणा की गई। तदनन्तर १९१४ से लेकर १९३० तक विभिन्न काव्य संग्रह प्रकाशित हुए। इनमें पहला संग्रह १९१४ में एजरा पाउण्ड के नेतृत्व में Des Imagistes शीर्षक से प्रकाशित हुआ जिसमें फ्लिन्ट, एल्डिंग्टन, कैनेल, हिल्डा डूलिटल, एफ०एम० ह्यूफर, जेम्स जॉयस, एजरा पाउण्ड, एलन अपवर्ड, विलियम कार्लोस विलियम्स आदि की रचनाएँ संगृहीत थीं। सन् १९१५ में एक अन्य संग्रह Some Imagist Poets (कुछ बिम्बवादी कवि) प्रकाशित हुआ जिसमें बिम्बवादियों ने अपने अपने वक्तव्य भी प्रस्तुत किए। इसी प्रकार आगे भी इनके विभिन्न संकलन प्रकाशित हुए। यद्यपि अपनी मान्यताओं के बल पर यह सम्प्रदाय बीस-पच्चीस वर्ष तक चलता रहा किन्तु जन-समाज के हृदय में प्रतिष्ठा पाने में उसे सफलता नहीं मिली। स्वतन्त्र रूप से इसका प्रबल विरोध भी हुआ जिसके अनेक कारण थे। एक तो इन कवियों ने सर्वथा नवीनता की खोज में परम्परा त्याग कर कविताओं में कृत्रिम ढंग से काव्यात्मकता लाने का प्रयत्न किया। दूसरे, उन्होंने स्पष्ट निरीक्षण, यथावत् चित्रण और बिम्बों के यथार्थ विधान पर इतना बल दिया कि उनकी कविताएँ सामान्य जीवन की निर्जीव अनुकृतियाँ बन गईं। तीसरे, उनके बिम्बों में संश्लिष्टता एवं सुसम्बद्धता का अभाव था। चौथे, उनकी विषय वस्तु भी इतनी सामान्य एवं दैनिक जीवन के स्तर की है कि उसमें आकर्षण की उद्भावना करना कठिन हो जाता है। इसके अतिरिक्त भी बिम्बवाद के विरोध के कुछ और कारण थे जैसा कि [illegible]कुमार मिश्र ने स्पष्ट किया है—"इनकी व्यक्तिगत रुचि का धन ही बिम्बवाद है। तत्कालीन युग की नयी कविता के पास था है और उसका अपना व्यक्तित्व है। इसमें असामाजिक दृष्टिकोण था और

की प्रतिक्रिया भी हुई है। विरोध का दूसरा कारण बिम्बवादियों का प्रतीकवादियों की भाँति समाज की बाह्य वास्तविकताओं से पूर्णत कट जाना था। कविता के शैली-शिल्पगत प्रयोगों की धुन में बाह्य यथार्थ के प्रति इतनी निर्मम उदासीनता युग की जागरूक काव्य चेतना द्वारा सह्य न हो सकी। समाज तथा जीवन के प्रति बिम्बवादियों के विचार बड़े ही निराशाजनक थे। ह्यूम के विचारों में तो स्पष्टत प्रतिक्रियावाद की छाप थी। बिम्बवादियों द्वारा विषय वस्तु की उपेक्षा ही विरोध का कारण बना और इन सबने मिलकर इस आन्दोलन को अधिक काल तक जीवित न रहने दिया।[1]

(ग) दादा वाद—(Dada movement) यह यूरोप का कला सम्बन्धी आन्दोलन था जिसका प्रवर्तन सन १९१६ ई० के आसपास जीन अप तथा अर्नेस्ट मार्क्स आदि चित्रकारों ने किया था। इसका सचालन और प्रचार मुख्यत कबरे वोल्टेयर' 'दादा' आदि पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा हुआ तथा समय समय पर आयोजित चित्र प्रदर्शनियों के रूप में हुआ। कुछ जीवन से जले कटे तरुण-तरुणियाँ एकत्र हुए जिनका कहना था कि जीवन ने उनके साथ दगा किया है और उन्होंने इस ससार के नैतिक स्वरूप के भण्डाफोड का बीडा उठाया है। उन्होंने सारे परपरागत तर्क कला सस्कृति आदि पर प्रहार किया। अचेतन में आकस्मिक और अप्रत्याशित को आधार बनाकर उन्होंने कला में एक नयी धारा प्रवाहित की। उनकी कला का साधारण रसवादी सौन्दर्य से कोई सम्बन्ध नहीं था। अन्य भी अनेक रूपों में उन्होंने परपरागत संस्कृति का उपहास किया। जैसे लियानार्दो द विंची के प्रसिद्ध चित्र मोनालीजा' में मोनालीजा के मूछ बनाकर फिर से चित्रित किया गया। दूशा का चित्र चश्मा' भी इसी प्रकार था जो वास्तव में चश्मा या फव्वारा नहीं मात्र मूत्रपात्र था और जिसे उसने १९१७ ई० में नियोजित न्यूयार्क की एक चित्र प्रदर्शनी में प्रदर्शित किया था।

इस दादावाद ने फ्रास जर्मनी स्विटजरलैण्ड आदि यूरोपियन देशों तथा अमरीका के न केवल मूर्तिकारों एव चित्रकारों को अपितु साहित्यकारों को भी प्रभावित किया है। इसी की प्रेरणा से कविताओं में नग्न अश्लील एव भद्दे दृश्यों के अकन को प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला।

(घ) अति यथार्थवाद (Surrealism)—उपर्युक्त दादावाद का ही विकसित रूप अतियथार्थवाद है। वस्तुत दादावाद का मूल क्षेत्र चित्रकला था जबकि इसने साहित्य को केन्द्र बनाया। इसका आरम्भ १९२० ई० के आस पास से माना जा सकता है जबकि आद्रे ब्रेटन (Andre Breton) नाम के एक मनोवैज्ञानिक ने अपने मित्र फिलिप सोपाल्ट (Phillipe Soupault) की सहायता से सम्मोहन अवस्था (Hypnosis) में सामूहिक रूप से काव्य रचना के प्रयोग किए। इसके अनन्तर आद्रे ब्रेटन ने १९२४ में अपना प्रयोग-सम्बन्धी घोषणा पत्र प्रकाशित करते हुए बताया कि किस प्रकार अचेतन की सहायता से काव्य रचना के लिए प्रयोग किए जा सकते हैं।

---

१ नया हिन्दी काव्य डा० शिवकुमार मिश्र, पृ० ४१८।
२ डा० भगवत शरण उपाध्याय हिन्दी साहित्य-कोष', प्रथम खड,

अतियथार्थवाद के विकास-काल को सामान्यतः तीन खण्डों में बाँटा जाता है (१) प्रारम्भ काल—१९२०-२४ ई० जबकि विभिन्न प्रकार के वैयक्तिक प्रयोग होते रहे। (२) मध्यकाल—१९२४ से १९३० तक। इस काल में अति यथार्थवादियों ने एक ओर तो मार्क्सवादी जीवन-दर्शन को स्वीकार किया तथा दूसरी ओर विशुद्ध स्वच्छन्द रूप से—अनियन्त्रित रूप में—काव्य रचना के प्रयोग करते रहे। (३) उत्तर काल—१९३० के बाद धीरे धीरे अतियथार्थवाद मार्क्सवाद से अलग हो गया और काव्य प्रयोगों में विशुद्ध अचेतन के स्थान पर चेतन-स्तर की भी थोड़ी-बहुत सहायता ली जाने लगी। इस युग में काव्य रचना की एक Paranoic Method (बौद्धिक उन्माद की पद्धति) का भी आविष्कार किया गया जिसके अनुसार काव्य रचना के क्षणों में कवि अपने मन को इस प्रकार उन्मत्त बना देने का प्रयास करता है कि जिससे वह विषय-वस्तु को नये रूप में देख सके।

अस्तु, अतियथार्थवादियों ने जहाँ उन्मुक्त एवं विक्षिप्त रूप में काव्य रचना के प्रयोग करके नयी रचना-पद्धति का आविष्कार किया वहाँ उन्होंने विषय-वस्तु के क्षेत्र में भी क्रान्ति की। उन्होंने चेतन मन के स्थान पर अचेतन स्तर की सामग्री को प्रस्तुत करते हुए कुंठाओं, वासनाओं, भावनाओं एवं असामाजिक विचारों की अभिव्यक्ति निर्द्वन्द्व रूप में की। साथ ही इन्होंने फ्रायडवादी विचारों का अनुसरण करते हुए समाज एवं संस्कृति विरोधी भावनाओं को भी व्यक्त किया। अंग्रेजी में इनकी कविताओं के संग्रह New verse या नयी कविता शीर्षक से प्रकाशित हुए।

अतियथार्थवादियों के मूल प्रयोजनों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—(क) वास्तविकता या यथार्थ के स्वीकृत मानदंडों एवं सीमाओं को अस्वीकार करना। (ख) काव्य में अब तक अप्रयुक्त सामग्री को प्रस्तुत करना। (ग) चेतन और अचेतन स्तर के मानसिक संस्कारों से सम्बन्ध स्थापित करना। (घ) बिना किसी बाह्य प्रयास के उन्मुक्त रूप में सामग्री को प्रस्तुत करना। (ङ) जिस प्रकार अचेतन मन में सामग्री अव्यवस्थित एवं नग्न रूप में स्थित है उसी प्रकार काव्य रचनाओं में भी अचेतन वस्तु को प्रस्तुत करना जिससे उस अचेतन मन का सही प्रतिरूप कहा जा सके। (च) मन की कुंठाओं एवं वर्जनाओं को मुक्ति प्रदान करके अचेतन का विस्तार करना। इन लक्ष्यों को रखते हुए अतियथार्थवाद को फ्रायडवादी काव्य भी कहा जा सकता है।

(ङ) अस्तित्ववादी दर्शन—अस्तित्ववाद (Existentialism) यूरोप की सर्वाधिक व्यक्तिवादी, आत्मामुखी, अराजकतावादी और सामाजिक-दार्शनिक विचार धारा है जिसका विकास सोरेन किर्कगार्ड (Soren Kirkegaard 1813 1855) एफ० नीत्शे (F Nietzsche 1844 1900) मार्टिन हैडगर (Martin Heiddgger 1899) तथा ज० पा० सार्त्र (J P Sartre 1905) जैसे स्वच्छन्द चिन्तकों द्वारा हुआ। यद्यपि इसकी भी अनेक शाखा-प्रशाखाएं हैं किन्तु सामान्यतः सभी अस्तित्ववादी तीन सामान्य मूल्यों (सत्यों) को स्वीकार करते हैं[1]—(१) दुःख

---

1 Existentialism Robert G Olson

और पीडा अस्तित्व की अनुभूति का अनिवाय आधार है, अर्थात् दुखी और पीडित हुए बिना हम अपन अस्तित्व का अनुभव नही कर सकत। (२) दुख और पीडा स मुक्ति पान का सबस बडा उपाय यही है कि हम उसे स्वीकार कर ले। (३) मनुष्य को एसा काय करना चाहिए कि जिसम उसकी सारी शक्तियाँ लग जाएँ तथा वह अपनी सवदनाओ को गभीरतम रूप म सवेदित कर सक। इसके लिए उस खतरनाक परिस्थितियो का सामना करना चाहिए।

अस्तित्ववाद के व्याख्याता सात्र न अस्तित्व की अनुभूति को ही जीवन का चरम सत्य मानत हुए बताया है कि मनुष्य अपनी रुचि के चुनाव म अपन निणयो म पूण स्वतन है, अपन किसी भी काय के लिए वह अय सत्ता या सामाजिक सस्था के प्रति उत्तरदायी नही है।

अस्तित्ववाद अतीत और भविष्य क स्थान पर केवल वतमान म विश्वास करता है। वह वतमान क्षण की अनुभूति को भविष्य की कल्पनाओ से अधिक महत्व देता है। वह परपरागत चिंतन, सामाजिक मूल्यो नतिक विचारो का ही नहीं, वैज्ञानिक तक-प्रणाली का भी अस्वीकाय मानता है।

अस्तु अस्तित्ववादी साहित्यकारो क अनुसार पात्रो की महानता उदात्तता आदि कोई महत्त्व नही रखती। स्वय सात्र ने अपने कथा-साहित्य एव नाटको मे मानव के अत्यधिक कुरूप, वीभत्स भयानक हीन एव तुच्छ रूप का चित्रण किया है। उनके नायक प्राय बबर कायर, नपुसक एव अधम श्रेणी के पात्र हैं। वस्तुत व साहित्य म महान मानव के स्थान पर लघु मानव की प्रतिष्ठा करना चाहत है।

कुरूप एव अशोभनीय पक्षो का भी स्वागत किया जा सकता है, यदि उनके पीछे प्ररणाएँ और प्रयोजन शुभ हो। किन्तु अस्तित्ववाद मनुष्य म कवल निराशा एव आकाक्षा-शून्यता की भावना उत्पन्न करना चाहता है जो मानव हित की दृष्टि स घातक है। इसीलिए यह वाद बावजूद अपन प्रचार क लोकप्रिय नही हो सका।

(च) फ्रायडवादी मनोविश्लेषण—प्रसिद्ध मनोविश्लेषक सिग्मड फ्रायड (१८५६ १९३९) क अनुसार कला सजन क मूल म कलाकार की दमित वासनाओ एव कुठित काम प्रवत्ति का योग रहता है। कलाकार अपनी कामवासना को समाज के भय स अथवा अय कारणो स सामान्य जीवन म व्यक्त नही कर पाता, वही वासना या तो यौन विकृतियो तथा मानसिक रोगो क रूप म व्यक्त होती है या स्वप्न और कला क माध्यम से। पर कला म दमित वासनाएँ अपन प्रकृत रूप म व्यक्त न होकर उदात्त (Sublimated) रूप म ही व्यक्त होती है अर्थात् कला क माध्यम स कलाकार अपनी दमित वासनाओ एव कुठाओ का उदात्तीकरण करक एक प्रकार म उनकी विकृतियो स मुक्ति पाता है। ऐसी स्थिति म कला म यौन अगो, वासनाओ एव कुठाओ का चित्रण होना स्वाभाविक माना गया है।

विभिन्न सम्प्रदायों से गृहीत प्रभाव—उपयुक्त सम्प्रदायो स हिन्दी की नयी कविता न अनेक प्रकार क प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप म ग्रहण किए हैं। अप्रत्यक्ष स हमारा तात्पय यह है कि सभी नय कवियो न इन सम्प्रदायो का अध्ययन स्वय नही किया, अपितु

(इ) प्रतीकवादियों के द्वारा कृत्रिम रूप से प्रतीकों के प्रयोग के कारण उनके काव्य में अस्पष्टता दुरूहता एवं क्लिष्टता मिलती है, जिसे उन्होंने दोष के स्थान पर गुण सिद्ध किया यह बात हिन्दी के इन कवियों पर भी लागू होती है।

(इ) बिम्बवादियों ने जिस प्रकार नये विषयों नई वस्तु, नये रूपों, नयी शैली और नयी भाषा को अपना लक्ष्य घोषित किया वैसी ही घोषणा हिन्दी के नये कवियों ने की है।

(उ) बिम्बवादियों ने स्पष्ट निरीक्षण यथावत चित्रण एवं बिम्बों के यथार्थ विधान पर इतना बल दिया कि उनकी कृतियाँ सामान्य जीवन की निर्जीव अनुकृतियाँ बन गई। यह बात इन पर भी लागू होती है।

(ऊ) बिम्बवादियों ने विषय-वस्तु की प्राय उपेक्षा की तथा दैनिक जीवन की अति साधारण बातों को कविता में स्थान दिया इस प्रवृत्ति को हिन्दी कवियों ने भी अपनाया है।

(ए) दादावादियों ने परम्परागत संस्कृति एवं सभ्यता का जैसा विरोध किया वह हिन्दी के नये कवियों में भी मिलता है।

(ऐ) अतियथार्थवादी काव्य की निम्नांकित प्रवृत्तियाँ हिन्दी के नये कवियों में ज्यों की त्यों मिलती हैं

१ अचेतन की कुठाओं को व्यक्त करने का लक्ष्य सामने रखकर काव्य सम्बन्धी प्रयोग करना।

२ फ्रायडवादी मनोविज्ञान को स्वीकार करते हुए कुंठाओं वासनाओं गुह्य भावनाओं को काव्य में व्यक्त करना।

३ वास्तविकता एवं यथार्थ के स्वीकृत आयामों को अस्वीकार करना।

४ अब तक अप्रयुक्त सामग्री को पहली बार काव्य में प्रयुक्त करने का दावा करना।

५ कला का लक्ष्य अपने व्यक्तित्व (व्यक्तिगत कुंठाओं एवं दमित वासनाओं) से मुक्ति पाना था।

(ओ) अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन के प्रभाव में हिन्दी कविता में क्षणवाद, निराशावाद लघु मानव की प्रतिष्ठा आकांक्षा सूचना आदि की प्रवृत्तियाँ आई है।

(औ) फ्रायडवाद की कतिपय प्रवृत्तियों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। उनके अतिरिक्त फ्री एसोसियेशन की पद्धति भी फ्रायडवाद की देन है। इस पद्धति के अनुसार मानसिक रोग से पीडित व्यक्ति को सम्मोहित या अर्द्धनिद्रित अवस्था में लाकर उससे उन सभी विचारों को उसी क्रम में निर्बाध रूप में व्यक्त करने के लिए कहा जाता है जिस क्रम में वे उनके मस्तिष्क में उठे हों। इस प्रकार रोगी की दमित वासनाओं एवं ग्रंथियों का पता लगाया जाता है। कवियों ने भी इस पद्धति का प्रयोग काव्य रचना में किया है। यहाँ इस प्रकार की एक कविता का उदाहरण प्रस्तुत है

'आह सरो रात
चाय रख दो कागजों पर

दूसरी बात है कि सभी नये कवियों ने यह प्रभाव सीधे अग्रेजी से ग्रहण न करके अपने पूर्ववर्ती प्रमुख हिन्दी कवियों के माध्यम से ग्रहण किया हो तथा उन्हें इस तथ्य का पता भी न हो।

सामान्य प्रवृत्तियाँ

इस वाद से सम्बन्धित प्रमुख हिन्दी कवियों की सामान्य प्रवृत्तियों का विवेचन मस्जन दो वर्गों के अन्तर्गत किया जा सकता है—(१) बाह्य प्रवृत्तियाँ और (२) आन्तरिक प्रवृत्तियाँ। इन दोनों का यहाँ क्रमशः लिया जाता है

(क) बाह्य प्रवृत्तियाँ

जैसा कि अन्यत्र सकेत किया जा चुका है नये कवियों ने अपनी चर्चा को ही अपना प्रचार कुख्याति को ही अपनी प्रसिद्धि एवं स्वय को अच्छे या बुरे रूप में स्थापित कर लेना ही अपने कवि कर्म का लक्ष्य माना है अतः उन्होंने अपनी कविताओं के साथ प्राय ऐसे उत्तेजनात्मक वक्तव्य दिये हैं जो पाठकों में गहरी प्रतिक्रिया या उत्तेजना पैदा कर सकें। उदाहरण के लिए यहाँ कुछ नमूने प्रस्तुत हैं—

(अ) मैं कविता क्यों लिखता हूँ—मैं न लिखता क्या लिखता? कहूँ कि किसी लाचारी में ही लिखता। मैं कविता न लिखता यदि हिन्दी के आज के प्रतिष्ठित कवियों में एक भी ऐसा होता जिसकी कविताओं में कवि का एक व्यापक जीवन-दर्शन मिलता, (यदि) आज के गण्य-मान्य आलोचकों में एक भी आलोचक ऐसा होता जिसने प्रयोगवादी या नयी कविता के बारे में एक भी समझदारी की बात कही होती (यदि) हिन्दी का एक भी जागरूक पाठक ऐसा होता जिसने हिन्दी की वर्तमान विभूतियों की नयी लिखी जानेवाली रचनाओं पर घोर असंतोष न प्रकट किया होता। (नासमझ सप्तक पृष्ठ ३३०)।

यह वक्तव्य सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का है। इसका यदि विश्लेषण किया जाय तो पता चलेगा कि कवि ने कविता की प्रेरणा से कविता नहीं लिखी अपितु हिन्दी में एक भी दार्शनिक कवि एक भी समझदार आलोचक और एक भी जागरूक पाठक न होने की विवशता के कारण लिखी। पर सवाल यह है कि जब आलोचक और पाठक वर्तमान विभूतियों की पूर्व रचित कविताओं को ही नहीं समझ पा रहे हैं तो आपके कविता लिखने मात्र से उनमें समझ कहाँ से आ जायगी? इनका तर्क वैसा ही है जैसा कि यह कहना कि रोटी इसलिए बना रहा हूँ क्योंकि कोई भी रोटी नहीं खाता किसी की भी रोटी खाने की इच्छा नहीं है। फिर भी वह व्यापक दर्शन कौन सा है जिसका प्रचार अब तक एक भी हिन्दी कवि ने नहीं किया—इसका स्पष्टीकरण उन्होंने नहीं किया पर उनकी कविताओं से शायद इसका अनुमान लगाया जा सकता है। उपर्युक्त वक्तव्य के बाद प्रस्तुत की गई उनकी प्रतिनिधि कविताओं में से एक निम्नलिखित है

म डरा डरा सा, चले नहीं जाना बालम !
वेले का पहले य कलियाँ खिल जाने दो,

× ×

क्यों कल के वे नहीं रहे,
क्योंकि कल हम भी नहीं रहेंगे।

—मुद्राराक्षस

(ई) बौद्धिकता एवं शुष्कता—नये कवि अनुभूतियों से प्रेरित होकर काव्य-रचना कम करते हैं अपने मस्तिष्क को कुरेद-कुरेदकर उसमें से कविता को बाहर खींच लाने का प्रयास अधिक करते हैं। वस्तुत उनमें रागात्मकता की अपेक्षा विचारात्मकता, अपितु अस्पष्ट विचारात्मकता अधिक होती है। नयी कविता के अनुयायियों का दावा है कि बौद्धिकता में भी एक रस होता है बौद्धिक युग में बौद्धिकता की अधिक आवश्यकता है। बौद्धिकता से पाठक का हृदय आप्लावित नहीं हो सकता इस तथ्य को वे कवि भी ईमानदारी से स्वीकार करते हैं, किन्तु साथ ही उनका कहना है कि कविता का उद्देश्य हो मस्तिष्क को कुरेदना है। निम्नलिखित नयी कविता इस उद्देश्य की पूर्ति करने में पूर्णत समर्थ है। कुछ पंक्तियाँ पढ़िए—

अतरग की इन घडियो पर छाया डाल दू!
अपने व्यक्तित्व को एक निश्चित साचे मे ढाल दू!
निजी जो कुछ है अस्वीकृत कर दू!
सबोधना के मन को उपमहृत कर दू!
आत्मा को न मानू
तुम्हे न पहचानू
तुम्हारी स्वछायता को स्थिर शून्य मे उछाल दू
तभी
हा
शायद तभी, ।

—राजेन्द्रकिशोर

ये पक्तियां अपनी अस्पष्टता के कारण पाठक के मस्तिष्क को उलझाने में पूर्णत समर्थ हैं अत इनकी उत्कृष्टता असंदिग्ध है।

(उ) भदेस का चित्रण—नये कवियो ने अपनी अस्वस्थ सौन्दर्य चेतना एव विकृत रुचि के कारण कुरूप असुन्दर एवं भद्दे दृश्यों का भी चित्रण रुचिपूर्वक किया है, यथा—

मूत्र सिंचित मृत्तिका के वृत्त मे
तीन टांगों पर खडा नतग्रीव
धैर्यधन गदहा।'

—अज्ञेय

लगता है कहीं कोई द्वार नहीं,
आज का मनुष्य
गर्भ से धक्का देकर निकाला हुआ—भ्रूणपिण्ड।

—राजेन्द्रकिशोर[1]

१ नयी कविता और मूल्यांकन सुरेशचन्द्र सरल पृ० १५८ १६०।

मुहब्बत एक गिरे हुए गर्भ के बच्चे सी होती है।
चाहत वह, मजबूरी हो सकती है,
जिसे मरीज खांस कर थूक न सके।

—मुद्राराक्षस[1]

वस्तुत यह प्रवृत्ति अंग्रेजी की आधुनिक कविताओं में भी मिलती है जिसका अंधानुकरण करने का प्रयास किया गया है। बी० पी० बागची ने अंग्रेजी कविता की इस आधुनिक प्रवृत्ति के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह इन कवियों पर भी लागू होता है—The moden poets have taught us to seek beauty in places where we would not have expected it even in things which we used to consider dirty and ugly[2] (आधुनिक कवियों ने हमें उन स्थानों में भी सौंदर्य खोजने की शिक्षा दी है जहां सामान्यत सौन्दर्य की आशा नहीं की जाती यहाँ तक कि गंदे और भद्दे समझे जानेवाले विषयों में भी)।

(ऊ) साधारण विषयों का चयन—नये कवि के पास कहने के लिए कोई बड़ी बात या कोई विशेष विषय नहीं है। अपने आस-पास की साधारण वस्तुओं—जैसे चूड़ी का टुकड़ा चाय की प्यालियां बाटा की चप्पल साइकिल फ्रंच लेदर कुत्ता वेटिंग रूम होटल दाल तन्दूर नान लकड़ी आदि—को लेकर इधर उधर की कुछ कह देता है वही उनके लिए कविता बन जाती है—

उठ कर ब्लेड से नाखून काटें
बढ़ी हुई दाढ़ी में बालों के बीच की
खाली जगह छाटें,
सर खुजलायें जम्हुआयें
कभी धूप में जायें
कभी छांह में जायें।

—सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

दिन भर गया है, मैं भी मर गया हूँ,
हींग और हल्दी से वासित मेरी बीवी मगर अभी जिंदा है!
और उसके पेट में कुछ और नयी जिंदगी है,
मेरा कोट फटा है उसने ही सिया है।

—अनन्त कुमार पाषाण[3]

यदि इस प्रकार की उक्तियों को कविता का नाम दिया जा सकता है तो निस्सन्देह हर एक व्यक्ति को कवि कहा जा सकता है। यदि किसी घर के कोने में या किसी गली के बाहर कोई टेप रिकार्डर लगा दिया जाय तो ऐसी हजारों कविताएं रोज तैयार हो सकती हैं। बच्चों की तुकबन्दियों में या हमारी रोजाना की डायरियों में भी ऐसी उक्तियाँ मिल

१ २ नयी कविता और उसका मूल्यांकन सुरेशचन्द्र सहल, पृ० १५९ १६०।
३ वहीं, पृ० १६१।

वगी। यही कारण है कि एक दिन यह भी रहस्य खुला कि नयी कविता की भरपूर न्दा करनेवाली कई भद्रमहिलाओं ने स्वयं नयी कविता लिखकर कापियां भर डाली थी।' तीसरा सप्तक प० ६४) हमारा विचार है कि ऐसी स्थिति में जब कविता का अकाल हो रहेगा तथा कवियों की संख्या उतनी ही बताई जा सकेगी, जितनी कि दुनिया की न-संख्या है।

(ए) व्यंग्य एवं कटूक्ति—कवियों ने कहीं-कहीं आधुनिक जीवन के विभिन्न क्षा पर व्यंग्य करने का प्रयास किया है किन्तु व्यंग्य के लिए जिस मानसिक संतुलन की पेक्षा है उसका प्राय नये कवियों में अभाव है इससे उनकी उक्तियां सफल व्यंग्य बनने के स्थान पर प्रभाव शून्य कटूक्तियाँ बन जाती हैं यथा—

> 'सांप तुम सभ्य तो हुए नहीं, न होगे,
> नगर में बसना भी तुम्हें नहीं आया,
> × × ×
> फिर कैसे सीखा डसना,
> विष कहाँ पाया?'
>
> —अज्ञेय

यहाँ कवि मानकर चलता है कि आधुनिक सभ्यता सांप से भी अधिक विषैली है सांप तो बेचारा निर्दोष प्राणी था—फिर उसने डसना कहाँ से सीख लिया? क्या ऐसा तो नहीं है कि वह नगर में रहा हो। पर कवि की इस भावना के साथ सामान्य पाठक का तादात्म्य स्थापित नहीं होता अतः इसमें अपेक्षित व्यंग्यात्मकता का अभाव है।

(ए) असम्बद्ध प्रलाप—फ्रायडीय चिकित्सा प्रणाली में रोगी के द्वारा निद्रित या अनिद्रित अवस्था में कहे गये असम्बद्ध उद्गारों का अध्ययन करके उनकी कुंठाओं का पता लगाया जाता है तथा इस पद्धति को उन्मुक्त साहचर्य (Free Association) की पद्धति कहते हैं। नयी कविता में भी इस पद्धति का उपयोग करते हुए असम्बद्ध प्रलाप प्रस्तुत किए गए हैं यथा—

> आह सारी रात
> चाय रख दो कागजों पर
> या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी
> ई ईश्वर, उ उल्लू
> चल हट बे।
>
> —रामानन्द भारती

(आ) नूतन प्रवृत्तियाँ—नये कवियों ने नूतन प्रयोगों को अपना लक्ष्य मानते हुए अपनी कविता में नये बिम्बों, नये प्रतीकों नये उपमानों मुक्त छन्द और नयी शब्दावली का प्रयोग किया है। परम्परागत प्रतीकों एवं उपमानों के स्थान पर उन्होंने आधुनिक युग के उपकरणों—विज्ञापन वैज्ञानिक साधनों—की प्रतिष्ठा का प्रयास किया है। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

१ नये प्रतीक —प्यार का बल्ब फ्यूज हो गया।
२ नये उपमान—आपरेशन थियेटर सा
जो हर काम करते हुए भी चुप है।
या —'बिजली के स्टोव सी जो एकदम सुर्ख हो जाता है।
३ नये बिम्ब —कोठरी में दीप की लौ सकनी ठंडा अधरा
बिछी परा में नमी ज्या दद की रगा।
४ नये शब्द—(१) बोल चाल के शब्द मटियाला फफूंद लुगाई
दुधारू भुनगा अदना बिटिया ठहराव आदि।
(ख) विदेशी शब्द ब्रूसड टाउन डाउन क्यूब, आटोग्राफ, नार्सिसस लाआकून फानिक्स आदि।
(ग) अप्रचलित शब्दों का प्रयोग—निर्व्याख्या विदग्धता अस्मिता ईप्सा विम्म्र समवाय विकारित इयत्ता विपर्यास पारमिता आदि।

इन कवियों की शिल्पविधि और शैली में अनेक महत्त्वपूर्ण दोष हैं जिनकी विस्तृत चर्चा डा० कलाश वाजपेयी ने अपने शोध प्रबंध में की है यहाँ उनका संकेत मात्र किया जाता है—[1]

१ नवीनता के नाम पर अकाव्यात्मक तत्वों को स्थान देना।

२ नवीनता के अत्यधिक आग्रह के कारण बढंगी उपमाओं अनगढ शब्दो, असबद्ध पदो और अनुपयुक्त विशेषणों का प्रयोग करना जसे—

(क) मस्तक इतना खाली-खाली
लगता जसे कोई सडा हुआ नरियल।

—धर्मवीर भारती

(ख) एक दिन होगी प्रलय भी
मत रहेगी बापडी।

—भवानीप्रसाद मिश्र

(ग) तू उमड बढ वक्र में अपने गगन को घेरे।

—कुंवरनारायण

यहाँ तीनों उदाहरण क्रमश बढंगी उपमा एवं अनुपयुक्त शब्दों के प्रयोग को प्रस्तुत करते हैं।

३ विषय वस्तु में शृंखला है एवं रागात्मक सामजस्य का अभाव।

४ क्लिष्ट एवं अप्रचलित शब्दों का प्रयोग।

५ अशोभन उत्प्रेक्षाओ का प्रयोग।

६ क्रिया-पदों और विशेषणों का मनमाना प्रयोग।

---

१ आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प डा० कलाश वाजपेयी, पृ० ३०५ ३११।

७ अश्लील एवं अरुचिकर दृश्यों का अंकन।

८ कविता के नाम पर कहीं-कहीं शब्दों की खिलवाड़ करना, यथा—

ए+क =क

एक+वियोग=कवि

एक+वियोग+तीन=कविता

वस्तुत हमारे काव्य शास्त्र में काव्यगत दोषों के जितने भेद बताये गये हैं, उन सभी के सुंदर एवं उपयुक्त उदाहरण नयी कविता में मिल जाते हैं, अब आवश्यकता केवल इस बात की है कि एक ऐसा नया सौन्दर्य शास्त्र तैयार किया जाय जिससे सभी दोषों को गुण सिद्ध किया जा सके, सामान्य से नये कवि, कवि होने के साथ साथ व्याख्याता एवं आलोचक भी है तथा इस आवश्यकता की पूर्ति में भी पूरी शक्ति से लगे हुए है, अत आशा की जा सकती है कि भविष्य में ये दोष काव्य के गुण जान लिये जायगे।

उपलब्धियाँ और अभाव—अपने बीस-बाईस वर्ष के जीवन में इस अतिशय बोध वाली हिंदी कविता में हमें क्या दिया है, यदि इसका विश्लेषण किया जाय तो दो बातें स्पष्ट रूप से कही जा सकती हैं एक तो इसने कविता और अकविता के अन्तर को इतना कम कर दिया है कि अब हर व्यक्ति कवि होने का गौरव प्राप्त कर सकता है। दूसरे, अब हिन्दी के साहित्यकार भी कह सकते है कि आधुनिकता में वे यूरोप की किसी भी धारा में पीछे नहीं है उनका भी दृष्टिकोण आधुनिकतम या नवीनतम है। पर इस कविता का दुर्भाग्य यही है कि अभी तक हिंदी में ऐसे पाठक उत्पन्न नहीं हुए जो कि इसका आस्वादन प्राप्त कर सकें। जैसा कि पीछे कहा गया है एक नए आलोचक ने बताया है कि 'हिन्दी के नब्बे प्रतिशत पाठकों में नयी कविता को समझने की दृष्टि एवं बुद्धि नहीं है। हिन्दी के पाठकों में एकाएक बुद्धि का यह अकाल कैसे आ गया इसका स्पष्ट उत्तर तो आज तक किसी भी नये कवि या नये आलोचक ने नहीं दिया पर सामान्यत यह कह दिया जाता है कि नयी कविता के लिए आधुनिक बोध (Modern Sensibility) चाहिए। यह आधुनिक बोध क्या है? तथा नये कवियों को ही यह बोध कहाँ से प्राप्त हो गया तथा भारत की शेष जनता उस बोध से वचित क्यों है—इसका रहस्य अभी तक उदघाटित नहीं हुआ। सामान्यत अंग्रेजी की आधुनिक कविता के अध्ययन अस्तित्ववादी दर्शन फ्रायडवादी मनोविज्ञान के प्रभाव से रुचि का—या काव्य रुचि का—इतना विकृत हो जाना कि वह यौन-वासनाओं के नग्न चित्रण कुंठाओं की अभिव्यक्ति निराशा एवं शून्यता की अनुभूति एवं अश्लील अस्वस्थ एवं भौंडे दृश्यों में ही रुचि लेने लग जाय इसी को आधुनिक बोध कहते है। बीरबल विनोद में एक किस्सा है कि एक बार बीरबल ने शर्त रखी थी कि जो अपनी नाक कटायगा उसे ही स्वर्ग दिखाई देगा कुछ ऐसी ही शर्त नयी कविता के आस्वादन की भी है।

पर हमें यहाँ इस तथ्य को न भूलना चाहिये कि जिस 'आधुनिक बोध' पर हम इतना गर्व कर रहे हैं वह पश्चिम के एक वर्ग विशेष की निराशावादिता एवं क्षयोन्मुखता की देन है। पश्चिम के समाज शास्त्र एवं सौन्दर्य शास्त्र के विद्वानों ने इसे एक स्वर से सभ्यता एवं संस्कृति के पतनोन्मुखता एवं ह्रासोन्मुखता का लक्षण माना है। नये काव्य

में घोर व्यक्तिवाद, निराशावाद, भोगवाद एव उच्छृंखलतावाद की जैसी अभिव्यक्ति हुई है वह न प्रतिभा के वैशिष्ट्य की सूचक है न कला के माधुर्य की ओर न ही समाज हित की। उसका कथ्य छिछला है और कथन विधि अस्पष्ट भ्रान्ती एव कला शून्य है। इसलिए प्रसिद्ध जर्मन समाज शास्त्री ओस्वाल्ड स्पेंगलर ने अपनी विश्व विख्यात कृति The Decline of West (पश्चिम का पतन) में आधुनिक कला की रुग्णावस्था एव ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए आज की कलाबाजी को 'फरेब और मक्कारी' तथा आज के कलाकारों को Industrious Cobblers और Noisy fools की संज्ञा दी है।[1] इसी प्रकार सी० डी० लेविस ने जो स्वय अंग्रेजी के आधुनिक कवियों एव आलोचकों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं उन तथ्यों का विवेचन एव स्पष्टीकरण किया है जिनके कारण नये कवियों की कविताएं सामाजिकों द्वारा आदृत नहीं हो सकी। उनके विचार से अंग्रेजी की आधुनिक कविता में विशेषत बिम्बवादियों की कविता में ये दोष हैं[2]—(१) आधुनिक युग परिवर्तनशील है अत आधुनिक बिम्बों का प्रभाव भी क्षण भंगुर है। (२) नये बिम्ब एव नूतन रागात्मक सबधों में सामंजस्य न होने के कारण काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करने में असमर्थ सिद्ध होते हैं। (३) नया कवि परम्परागत शब्दों का एकान्त तिरस्कार करके एकमात्र बिम्ब सिद्धान्त का ही अनुयायी हो गया है। (४) जिन बिम्बों का नया कवि प्रयोग करता है वे जन सामान्य की कल्पना से बहुत दूर के होते हैं। (५) नये कवियों के बिम्ब किसी एक अनुभूति एव भावना में अनुस्यूत न होने के कारण कोई स्पष्ट व्यवस्थित एव सुसमन्वित प्रभाव उत्पन्न नहीं करते। (६) नये कवियों ने विषय को सर्वथा गौण कर दिया है। इस प्रकार नया कविता पाठकों के लिए अस्पष्ट असम्बद्ध एव प्रभाव शून्य हो गया है। अत कवियों की अपनी शक्तियों एव न्यूनता के लिए पाठक को दोष देना वैसा ही है जैसा कि एक अकुशल कारीगर का अपने औजारों में मीनमेख निकालना।

यदि आधुनिक कवि ने उपर्युक्त दोषों को दूर नहीं किया तो वर्तमान समाज में उसकी क्या स्थिति हो जायगी इसकी कल्पना करते हुए उन्होंने महत्त्व का लिखा है—Can he (modern poet) survive in the modern world except as a kind of village idiot tolerated but ignored talking to himself hanging round the pub and the petrol pump his head awhirl with broken images mimicking the movement of a life in which he has no part ?[3]

अर्थात् वह (नया कवि) आधुनिक दुनिया में क्या उस बेचारे मूर्ख की भाँति हो जायेगा जो गाँव में उपेक्षित रहता है जिसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता है। नया कवि जो स्वय जीवन से दूर रहकर दूसरों से कोई वास्ता न रखकर अपने दिमाग में चक्कर काटते

---

1 The Decline of West Oswald Spengler 1959 p 299
2 The Poetic Image C D Lewis P 105
3 The Poetic Image C D Lewis P 110

हुए टूटे-फूटे बिम्बों का चित्र, अपने आपमें बात करता हुआ सगाय और प-ाम्पा के चारों ओर चक्कर काटता रहता है।

उपर्युक्त सभी बात हिन्दी के नयी कविता एवं उसके रचयिताओं पर भी लागू होती हैं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी डा० नगेन्द्र डा० रामविलास शर्मा शिवदान सिंह प्रभृति आलोचकों ने नयी कविता का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए इसकी विभिन्न त्रुटियों एवं न्यूनताओं पर प्रकाश डाला है। आचार्य वाजपेयी ने स्पष्ट किया है कि इनमें अनेक रचनाएं भोंडे व्यंग्य की सृष्टि करती हैं उनमें अर्थ-परम्परा का निर्वाह नहीं होता, पूरी रचना पढ़ लेने पर भी भावाभिव्यक्ति का बोध नहीं होता तथा इसकी विषय-वस्तु भी सामाजिक नैतिक एवं चारित्रिक दृष्टि से अच्छा प्रभाव उत्पन्न नहीं करती। साथ ही इसमें जीवन के प्रति किसी रचनात्मक दृष्टि क्रमबद्धता और क्रियाशीलता का भी अभाव है। डा० नगेन्द्र ने नयी कविता की दुरूहता का विश्लेषण करते हुए इसके पाँच कारण बताये हैं—(१) भाव तत्व और वाच्यानुभूति के बीच रागात्मक के स्थान पर बुद्धिगत सम्बन्ध होना। (२) साधारणीकरण का त्याग। (३) उपचेतन मन के अनुभव-खण्डों का यथावत् चित्रण। (४) भाषा का एकान्त एवं अनगढ़ प्रयोग। (५) नूतनता का सर्वग्राही मोह। नये कवि आलोचकों की आलोचनाओं से लाभ उठाने के स्थान पर वे किस प्रकार प्रत्यारोप करते हैं इस प्रवृत्ति पर व्यंग्यात्मक शैली में विचार करते हुए डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है— किसी शास्त्रीय आलोचक की क्या मजाल कि प्रयोगवादी कविताओं की निष्पक्ष समीक्षा करके भी पूर्वाग्रही कहलाने से बच सके। जहाँ किसी आलोचक ने नयी कविता के सिलसिले में रस की चर्चा की कि नये कवि दल-बल सहित अपने-अपने वक्तव्यों और परिभाषाओं के अस्त्र लेकर उसके सामने खड़े हो जाएँगे। तब आलोचक के सामने दो ही रास्ते रह जाते हैं या तो वह शास्त्र और कविता दोनों को लेकर वहाँ से भाग खड़ा हो जहाँ रस-मग्न पाठक एवं श्रोता हों या नये कवियों के अर्थहीन वक्तव्यों पर मुग्ध होकर कहने लगे— मनुष्य को बिम्बों के सहारे जीना चाहिए प्रयोगवाद, एक नया सौन्दर्य शास्त्र लेकर आया है। (समालोचक अगस्त १९५९)।

इसी प्रकार शिवदानसिंह चौहान ने भी इन कवियों की विभिन्न प्रचारात्मक प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में निर्भीकतापूर्वक कहा है—प्रयोगवादी कवि अभिजात वर्ग के उन अल्पसंख्यक पाठकों तक ही अपनी कविता को प्रेषित करते हैं जो एक ओर तो अपने उपजीवी और निठल्ले जीवन के कारण भावना से उच्छृंखल और दायित्वहीन हैं, दूसरी ओर वर्तमान पूंजीवादी समाज के अन्तत ह्रास की आशंका से सन्त्रस्त और उद्भ्रान्त भी हैं। इन कवियों के अहंकार को प्रोत्साहन देने और साधारण पाठकों की सहज मानवीय भावनाओं और वस्तु-बोध को कुंठित करने के लिए प्रयोग के वकील आलोचकों सम्पादकों और अध्यापकों का एक गिरोह पैदा होता जा रहा है जो उक्ति-वैचित्र्य शब्द चयन ध्वनि चित्र के टेकनिकल स्तर तक ही प्रयोगवादी कविता के विवेचन को सीमित रखकर सामान्य पाठकों में एक विशेष प्रकार की हीन भावना पैदा करने की उद्धत चेष्टा करते हैं। उनके तर्कों का सार यह है—तुम्हें (साधारणतया प्रबुद्ध पाठकों को) ये प्रयोगवादी कविताएं पसन्द नहीं हैं। तुम्हें ये दुरूह लगती हैं ? निगल प्रगाप

कहते हो ? तो तुम निश्चय ही रूढ़िपथी हो समय से पिछडे हुए हो तुम्हारी रुचि का आधुनिक संस्कार नही हुआ तुम मतवादी पूर्वग्रहो से ग्रस्त हो।' (काव्य धारा पृ० १९ २०६ ७)

वस्तुत इस प्रकार के तर्कों से अपने युग के पाठको एव आलोचको का मुह बन्द किया जा सकता है किन्तु उनकी मान्यता एव प्रशंसा तो तभी प्राप्त हो सकती है जबकि मानवीय भावनाओ को आन्दोलित करनेवाली सच्ची कविताएँ लिखी जायें। हम यह समझ लेना चाहिए कि आधुनिकतम या नवीनतम का अर्थ सर्वोत्तम नहा है उदाहरण के लिए नवीन शोध से ऐसे परमाणुओ एव बीमारियो का भी पता चला है कि जिन्हे आधुनिकतम कहा जा सकता है किन्तु केवल इसी विशेषता के कारण हम उन्हे अपनाने के लिए तैयार नहीं होगे। पश्चिम की आधुनिक सभ्यता अपनी कोख से नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारो के साथ साथ ऐसी प्रवृत्तियो को भी जन्म दे रही है जो अस्वस्थ अनैतिक एव मानव घाती है। अत पश्चिम की प्रत्येक आधुनिक प्रवृत्ति का अधानुकरण करना केवल प्रतिभाशून्य नकलचियो एव बौद्धिक गुलामो का ही काम है। समझदार व्यक्ति चाहे वह किसी भी क्षेत्र का क्यो न हो पूर्व और पश्चिम प्राचीन और नवीन की देन मे से केवल उतना ही स्वीकार करता है जितना कि उपयोगी स्वस्थ शुभ और सुन्दर हो शेष को वह ठुकरा देता है। साहित्य और कला के क्षेत्र मे इसी दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

विभिन्न आलोचको के प्रभाव से अब नये कवियो मे कुछ लोग अपनी न्यूनताओ एव त्रुटियो को समझने लग गये है। श्री प्रयागनारायण त्रिपाठी ने तीसरे सप्तक मे इस स्थिति का परिचय देते हुए ईमानदारी के साथ स्वीकार किया है— मुझे लगता है कि नयी कविता के नाम पर आज जो कुछ लिखा जा रहा है उसके अन्तर्गत बहुत कुछ (मेरी अपनी कविताए भी) महज़ बकवास है। पक्तियो को छोटी बडी कर देना शब्दो को तोड मरोड देना कोष्ठक डैश उद्धरण-चिह्न और कोष्ठको को निरर्थक ढंग से बैठा देना, मनजाने तौर पर लय को बदल देना बिना आत्मसात किए हुए नयी उपमा उत्प्रेक्षाओ या बिम्बो का परेशान पाठको के सम्मुख ढकेल देना—ये तथा इसी प्रकार के अनेक दोष आज की अनेक कविताओ मे दिखाई देते है। नयी कविता मे मुझे एक और भी भ्रान्ति दिखाई दे रही है। नये और यथार्थ के चित्रण के नाम पर इस प्रकार की पक्तियाँ लिखी जा रही है (जो) न तो हमारे सम्मुख कोई प्रभावशाली बिम्ब ही उपस्थित करती है और न आज के जीवन-यथार्थ के प्रति कोई रागात्मक उत्तेजना ही उत्पन्न करती हैं।

(तीसरा सप्तक पृ० २४)

श्री प्रयागनारायण त्रिपाठी तीसरे सप्तक के प्रौढ़वयस्क कवि है अत उनका यह वक्तव्य पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। यदि अन्य कवि भी आत्मनिरीक्षण की इसी प्रवृत्ति का परिचय देते हुए अपनी त्रुटियो को दूर करने का प्रयास करें व नयी कविता नही केवल 'कविता' लिखने की चेष्टा करें तथा पश्चिम के अधानुकरण के स्थान पर निजी अनुभूतियो पर विश्वास करें तो अवश्य ही तथाकथित 'नयी कविता' से भी कविता का रूप प्राप्त कर सकती है अन्यथा यहाँ भी कविता की स्थिति वही हो जायगी जो उसकी इंग्लैण्ड